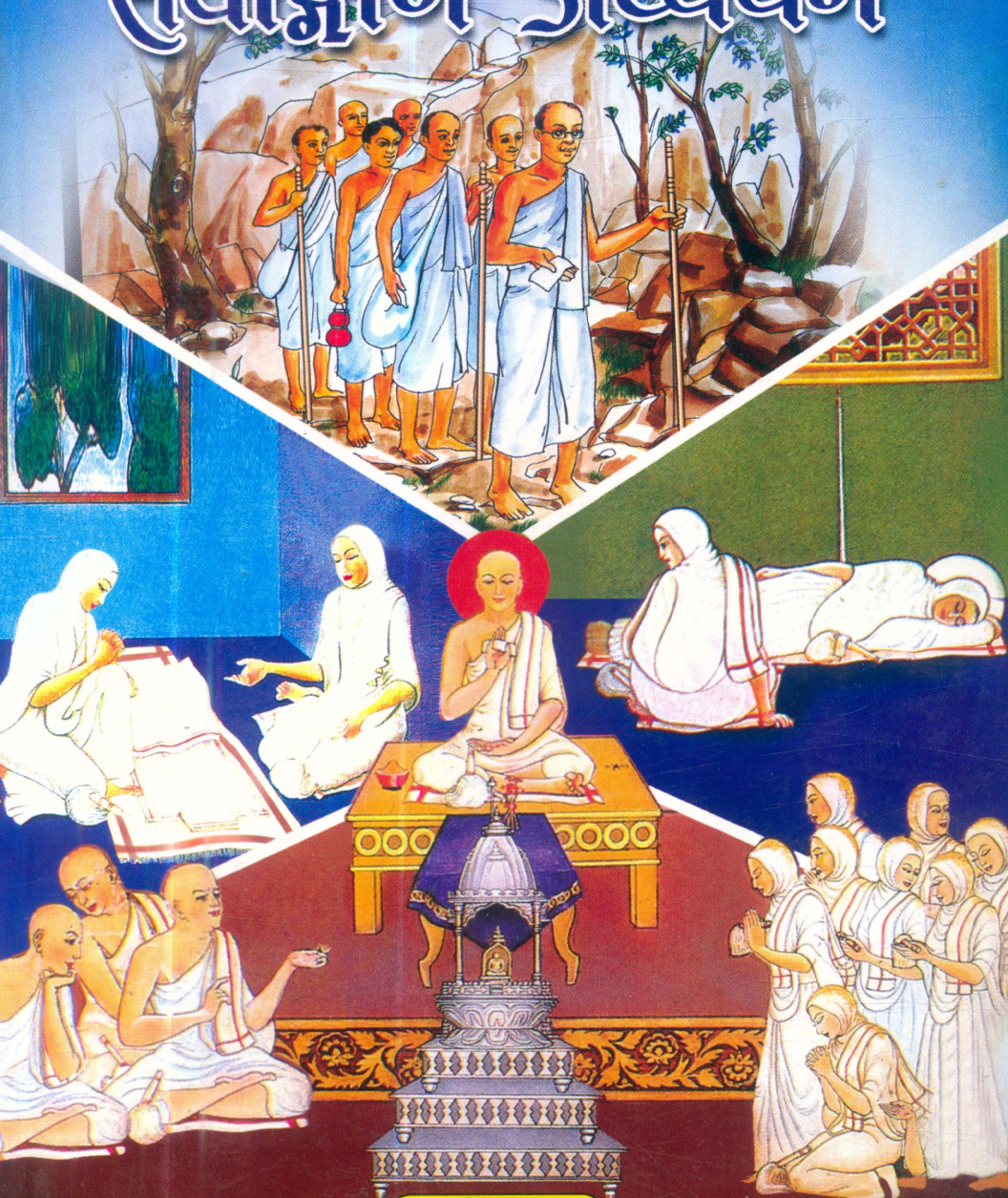
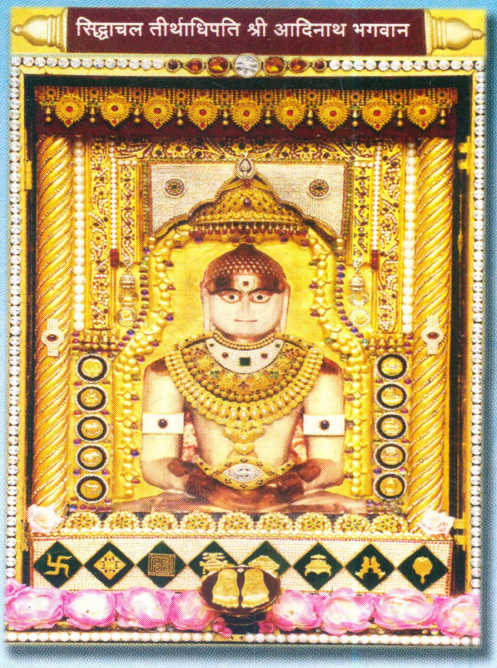
# जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वांगीण अध्ययन



सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.





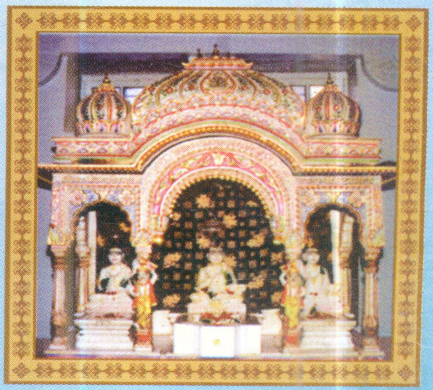

श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी



श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)



श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)



श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

# जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन

## जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

## खण्ड-5

**2012-13**

R.J. 241 / 2007

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRIMAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009
Phone : (079) 23276252, 23276204-0

शोधार्थी
डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय
लाडनूं-341306 (राज.)

# जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन

## जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

## खण्ड-5




*स्वप्न शिल्पी*

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

*मूर्त्त शिल्पी*

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

*शोध शिल्पी*

डॉ. सागरमल जैन

# जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन


**कृपा वर्धक** : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

**मंगल वर्धक** : पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

**आनन्द वर्धक** : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

**प्रेरणा वर्धक** : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

**वात्सल्य वर्धक** : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

**स्नेह वर्धक** : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभा जी, सुयोग्या संयमप्रज्ञा जी आदि भगिनी मण्डल

**शोधकर्त्री** : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

**ज्ञान वृष्टि** : डॉ. सागरमल जैन

**प्रकाशक** :
- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
  email : sagarmal.jain@gmail.com
- सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
  बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

**प्रथम संस्करण** : सन् 2014

**प्रतियाँ** : 1000

**सहयोग राशि** : ₹ 150.00

(पुनः प्रकाशनार्थ)

**कम्पोज** : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

**कॅवर सेटिंग** : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

**मुद्रक** : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (V)


© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

# प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला- दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

## संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

# आत्मार्पण

जिनका ज्ञान मंडित गंभीर व्यक्तित्व
रत्नाकर के समान
विराट एवं विशाल है।

जिनका सत्कर्म गुंजित सृजनशील कृतित्व
विश्वकर्मा की रचनाओं के समान
नयनाभिराम एवं अभिनन्दनीय है।

जिनका मर्यादा युक्त महामनस्वी जीवन
लक्ष्मण रेखा की भाँति
अडोल, अकम्प एवं अविचल है।

जिनकी शान्ति रस बरसाती प्रेरणास्पद वाणी
प्रवाहमान सलिल की भाँति
जगवल्लभ एवं जग कल्याणी है।

जिनकी आनन्द दायिनी वरद छाँह
कल्पतरु की भाँति
अभीष्ट दायक एवं मोक्षफल प्रदायक है।

ऐसे
लोक नायक, युग श्रेष्ठ, राष्ट्रसंत
परम श्रद्धेय, आचार्य श्री पद्मसागर सूरीश्वरजी म. सा. के
पाणि-पद्मों में
सादर अर्पित

# सज्जन मन की बात

त्याग के अनुराग से करते आतम मंथन
जिन शासन की बगिया के जो हैं महकता चंदन।
अष्टप्रवचन माता से करते चित्त का रंजन
सुर नर किन्नर छत्रपति मिल करते उनको वंदन।।

जिसकी ऊँचाईयों को नापना और गहराई को भापना दुःसाध्य है।
जिसकी महिमा को तोलना और शब्दों में बोलना दुष्कर है।
जिसका असिधारा पथ मुक्ति वरण का Green signal है।
जिसकी कठिन साधना महापापी को करती निर्मल है।

ऐसे संयम धर्म के प्रति,
जगे रोम-रोम में बहुमान
सम्पूर्ण विश्व को हो
कठिन श्रमणाचार की पहचान
संयम पालन में सहयोगी
बन करे आत्म कल्याण
विस्फोटक युग में हो
संयम युग का निर्माण
इसी निर्मल भावना के साथ...

# हार्दिक अनुमोदन

जीवाणा (जालोर) हाल बैंगलोर निवासी धर्मनिष्ठ

धर्मनिष्ठा **मातु श्री सुबटी देवी, स्व. पिता श्री**

**छगनराजजी** की पावन प्रेरणा से

सुपुत्र

**शान्तिलाल, रायचंद, कानराज, उच्छवराज**

सुपौत्र

**मुकेश, रवीन्द्र, चन्दन, मनीष, दीपक, सुमित,**

**मयंक, पीयूष, यश**

प्रपौत्र

**कुशल, राज, संयम,**

**दीप कंकु चौपड़ा परिवार**

# श्रुत सर्जन की परम्परा के पुण्यभागी श्री शांतिलालजी चौपड़ा परिवार

बैंगलोर अपनी प्राकृतिक शीतलता एवं सौंदर्य के लिए विश्व प्रसिद्ध है। यह शहर धार्मिक संस्कार, बृहद्काय जैन पाठशाला, साधना-आराधना के वृद्धिंगत माहौल के लिए भी जाना जाता है। आराधना की अपेक्षा इस प्रदेश को पंचम आरे का महाविदेह कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस धर्मनगरी के निवासी हैं जिनधर्म रसिक श्री शांतिलालजी चौपड़ा।

मूलत: जीवाणा (जालोर) निवासी शांतिलालजी को धार्मिक संस्कार अपनी जन्मभूमि से ही प्राप्त हुए हैं। श्रद्धा सम्पन्न पिताश्री छगनलालजी का जीवन दिगम्बर साधना पद्धति से प्रभावित था। माता सुभटी बाई की आचरण चुस्ती एवं दृढ़ता ने बचपन से ही आप चारों भाइयों के लिए एक प्रेरणा दीप का कार्य किया। सबसे ज्येष्ठ श्री शांतिलालजी हैं। आपसे छोटे तीन भाई रायचंदजी, कानराजजी एवं उच्छवराजजी भी आपही के समान धर्मनिष्ठ सुश्रावक हैं।

शांतिलालजी ने अपने जीवन में माता-पिता के बाद सर्वोच्च स्थान धर्म को दिया है। श्रावकाचार के पालन में आप बड़े चुस्त हैं। प्रतिदिन सामायिक, नवकारसी, प्रभु पूजा, जाप आदि नियमों का दृढ़ता पूर्वक पालन करते हैं। आपका जीवन आडम्बर एवं दिखावे से अत्यन्त दूर तथा आध्यात्मिक भक्ति स्रोतों से सदैव सराबोर रहा है। सामूहिक आयंबिल शाला, सामूहिक वर्षीतप, तीर्थयात्रा, धार्मिक आयोजन आदि में आप हमेशा अग्रणी रहते हैं तथा विगत कुछ वर्षों से तप साधना एवं स्वाध्याय से अधिक जुड़ गए हैं।

स्वाध्याय निमग्ना साध्वी सौम्यगुणाजी आपके ममेरी बहन है। पारिवारिक जिम्मेदारियाँ होने पर भी गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एवं अपनी बहन महाराज के दर्शनार्थ आने की पूर्ण भावना रखते हैं। बहिन म.सा. जब से शोध अध्ययन में जुटी हुई हैं तभी से उनकी रचनाओं को प्रकाशित करवाने

की आपकी मनोभावना थी जो अब साकार होने जा रही है।

कई वर्षों से आप अपनी आय का नियत हिस्सा श्रुतज्ञान की समृद्धि हेतु अलग रखते हैं।

बैंगलोर, जीवाणा, जालोर आदि क्षेत्रों में कंकु चौपड़ा परिवार की गिनती धर्मपरायण परिवारों में होती है। आप अपने बहन महाराज के विराट शोध कार्य को विश्वोपलब्ध करवाने हेतु एक वेबसाइट भी बना रहे हैं। जैन विधि-विधानों की इतनी विशद जानकारी पहली बार Internet पर उपलब्ध करवाने के लिए सकल जैन समाज युग-युगों तक आपका आभारी रहेगा।

आप सदैव इसी तरह तन-मन एवं धन से धर्म मार्ग पर गतिशील रहें। रत्नत्रयी की भक्ति एवं आराधना करते हुए सर्वोच्च पद को प्राप्त करें। इसी भावना के साथ सज्जनमणि ग्रन्थमाला यह कहता है–

**जैन सज्जनमणि के नाम से जिसको, चिहुं दिशि में जाना जाएगा।**
**उस ज्ञान गंगा को घर-घर पहुँचाने का, श्रेय आपको ही जाएगा।**
**श्रुत सेवा में अनुदान आपका, चिरस्मरणीय रह जाएगा।**
**युगों-युगों तक जैन संघ, आपका गौरव गाएगा।।**

●

# सम्पादकीय

श्रमण संस्कृति आचार प्रधान संस्कृति है। 'आचार परमो धर्मः' उक्ति से ही इसकी मुख्यता प्रमाणित हो जाती है। यद्यपि श्रमण धर्म निवृत्तिमूलक धर्म कहलाता है। किंतु यहाँ निवृत्ति का अभिप्राय शून्यता नहीं है। निवृत्ति का तात्पर्य है असदाचार से निवृत्ति एवं सदाचार में प्रवृत्ति। इसी सदाचार वृत्ति के आधार पर श्रमणाचार एवं श्रावकाचार का निरूपण हुआ है।

जीवन निर्वाह और शारीरिक आवश्यकताओं के कारण जो दैनिक क्रियाएँ मुनि द्वारा आचरित की जाती है उसे श्रमणाचार कहते हैं। इसके अन्तर्गत श्रमण के समस्त क्रिया पक्ष समाहित हो जाते हैं।

भारतीय संस्कृति में वैदिक परम्परा सुख-समृद्धि सम्पन्न भौतिक एवं सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती है वहीं श्रमण संस्कृति त्याग-वैराग्य सम्पन्न आध्यात्मिक जीवन शैली का प्रतिपादन करती है। शास्त्रानुसार समस्त पापकारी प्रवृत्तियों से बचना श्रमण जीवन का बाह्य पक्ष है तथा समस्त राग-द्वेषात्मक वृत्तियों से ऊपर उठना श्रमण का आभ्यंतर पक्ष है। श्रमण संस्कृति का मूल आधार है श्रमण जीवन। एक श्रावक जब अपने व्रती जीवन में निरंतर प्रगति करता है तब वह प्रतिपल यही चिन्तन करता है कि कब वह दिन आएगा जिस दिन मैं श्रमण धर्म को ग्रहण करूंगा? क्योंकि निर्वाण प्राप्ति के लिए संयम ग्रहण कर श्रमण बनना आवश्यक है। श्रमण साधना के अनुकूल वातावरण की प्राप्ति के लिए गृहवास का त्याग एवं श्रमण वेश का स्वीकार जरूरी माना गया है।

श्रमण अनेक गुणों का पुंज होता है अतः उसके लिए अनेक आवश्यक योग्यताएँ मानी गई हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार श्रमण 27 मूल गुणों से एवं दिगम्बर परम्परा के अनुसार 28 मूल गुणों से युक्त होना चाहिए। इसी के साथ उसके लिए आचरणीय 70 मूल गुण भी माने गए हैं। इसके अंतर्गत पाँच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सतरह प्रकार का संयम, दस प्रकार का वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति, रत्नत्रय, बारह प्रकार का तप एवं क्रोधादि

चार कषायों का निग्रह ऐसे 70 गुण समाविष्ट होते हैं। इसे चरण सत्तरी भी कहते हैं।

इसी प्रकार करण सत्तरी के अन्तर्गत चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, पाँच समिति, बारह भावना, बारह प्रतिमा, पाँच इन्द्रियों का निरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति एवं चार अभिग्रह का समावेश होता है।

शास्त्रों में श्रमण चर्या का निरूपण विविध अपेक्षाओं से किया गया है। श्रमणाचार एक सूक्ष्म चर्या है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों के प्रति जयणा रखते हुए एवं अपनी समस्त मर्यादाओं का निर्वाह करते हुए श्रमण अपने आचार का पालन करता है। जैनागमों में भी मुनि जीवन के छोटे-छोटे पहलुओं का निरूपण मिलता है। मुनि दिन में कैसा आचरण करे, रात्रि में किस प्रकार का वर्त्तन करे, गुरु के पास कैसे रहे? किस ऋतु में किस प्रकार की मर्यादा रखे? आदि कई विषयों का वर्णन है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है– 'कहं चरे, कहं चिट्ठे, कहं मासे, कहं सए...।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आगमों में मुनि के लिए छोटी से छोटी बातों का निरूपण किया है। मुनि जीवन सम्बन्धी नियमों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया गया है। इनमें कुछ नियम उस कोटि के हैं जो अनिवार्य रूप से परिपालनीय हैं। कुछ उस स्तर के हैं जो उत्सर्ग और अपवाद के रूप में आचरणीय होते हैं। कुछ मर्यादाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उनमें दोष लगने पर श्रमण स्वीकृत धर्म से च्युत हो जाता है तथा कुछ नियम ऐसे हैं जिनका भंग होने से मुनि धर्म तो खण्डित नहीं होता, किन्तु वह दूषित हो जाता है। मुख्य रूप से सभी नियमों को तीन उपविभागों में बाँटा जा सकता है– 1. आचार विषयक, 2. आहारचर्या विषयक और 3. दैनिकचर्या विषयक।

आचार विषयक नियमों में मुख्यतया दस कल्प, दस सामाचारी, इक्कीस शबल दोष, बीस असमाधिस्थान, बाईस परीषह, बावन अनाचीर्ण, अठारह आचार स्थान का समावेश होता है।

साध्वाचार का वर्णन हमें मूल आगमों में ही प्राप्त हो जाता है। आचारांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में मुनि धर्म सम्बन्धी नियमों का समुचित

निरूपण है। तदनन्तर आगमिक व्याख्या साहित्य एवं मध्यकालीन साहित्य पंचवस्तुक, यतिदिनचर्या, यतिजीतकल्प आदि में भी श्रमणाचार विषयक विस्तृत चर्चा है।

यद्यपि श्रमणाचार के मुख्य नियम तो भगवान महावीर के शासन काल से अब तक यथावत हैं। परंतु कई नियमों में संघयण, देश, काल, परिस्थिति आदि के कारण परिवर्त्तन भी आया।

जैन विधि-विधानों पर बृहद् स्तरीय शोध करते हुए साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने अपने शोध प्रबन्ध के दूसरे भाग में श्रमणाचार सम्बन्धी नियमों पर प्रकाश डाला है। इसी के अन्तर्गत जैन मुनि की आचार संहिता का वर्णन करते हुए मुनि जीवन सम्बन्धी सूक्ष्म पहलुओं की चर्चा की है। इससे आम जनता मुनि जीवन विषयक चर्चाओं से अवगत हो पाएगा जो श्रमण जीवन के निरतिचार पालन में सहयोगी बनेगा।

साध्वीजी इसी प्रकार कठिन परिश्रम पूर्वक जैन वाङ्मय के गूढ़ विषयों को उजागर कर उन्हें जन सामान्य के अनुभूति का विषय बनाएं एवं इसी प्रकार जैन श्रुत साहित्य में अपना अवदान देती रहें यही अभिलाषा है।

**डॉ. सागरमल जैन**

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

# आशीर्वचन

आज मन अत्यन्त आनंदित है। जिनशासन की बगिया को महकाने एवं उसे विविध रंग-बिरंगे पुष्पों से सुरभित करने का जो स्वप्न हर आचार्य देखा करता है आज वह स्वप्न पूर्णाहुति की सीमा पर पहुँच गया है। खरतरगच्छ की छोटी सी फुलवारी का एक सुविकसित सुयोग्य पुष्प है साध्वी सौम्यगुणाजी, जिसकी महक से आज सम्पूर्ण जगत सुगन्धित हो रहा है।

साध्वीजी के कृतित्व ने साध्वी समाज के योगदान को चिरस्मृत कर दिया है। आर्या चन्दनबाला से लेकर अब तक महावीर के शासन को प्रगतिशील रखने में साध्वी समुदाय का विशेष सहयोग रहा है।

विदुषी साध्वी सौम्यगुणाजी की अध्ययन रसिकता, ज्ञान प्रौढ़ता एवं श्रुत तल्लीनता से जैन समाज अक्षरशः परिचित है। आज वर्षों का दीर्घ परिश्रम जैन समाज के समक्ष 23 खण्डों के रूप में प्रस्तुत हो रहा है।

साध्वीजी ने जैन विधि-विधान के विविध पक्षों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उद्घाटित कर इसकी त्रैकालिक प्रासंगिकता को सुसिद्ध किया है। इन्होंने श्रावक एवं साधु के लिए आचरणीय अनेक विधि-विधानों का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, समीक्षात्मक, तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए निष्पक्ष दृष्टि से विविध परम्पराओं में प्राप्त इसके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है।

साध्वीजी इसी प्रकार जैन श्रुत साहित्य को अपनी कृतियों से रौशन करती रहे एवं अपने ज्ञान गांभीर्य का रसास्वादन सम्पूर्ण जैन समाज को करवाती रहे, यही कामना करता हूँ। अन्य साध्वी मण्डल इनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपनी अतुल क्षमता से संघ-समाज को लाभान्वित करें एवं जैन साहित्य की अनुद्घाटित परतों को खोलने का प्रयत्न करें, जिससे आने वाली भावी पीढ़ी जैनागमों के रहस्यों का रसास्वादन कर पाएं। इसी के साथ धर्म से विमुख एवं विश्रृंखलित होता जैन समाज विधि-विधानों के महत्त्व को समझ पाए तथा वर्तमान में फैल रही भ्रान्त मान्यताएँ एवं आडंबर सम्यक दिशा को प्राप्त कर सकें। पुनश्च मैं साध्वीजी को उनके प्रयासों के लिए साधुवाद देते हुए यह मंगल कामना

करता हूँ कि वे इसी प्रकार साहित्य उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर रहें एवं साहित्यान्वेषियों की प्रेरणा बनें।

**आचार्य कैलास सागर सूरि**
नाकोड़ा तीर्थ

किसी भी धर्म दर्शन में उपासनाओं का विधान अवश्यमेव होता है। विविध भारतीय धर्म-दर्शनों में आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु अनेक प्रकार से उपासनाएँ बतलाई गई हैं। जीव मात्र के कल्याण की शुभ कामना करने वाले हमारे पूज्य ऋषि मुनियों द्वारा शील-तप-जप आदि अनेक धर्म आराधनाओं का विधान किया गया है।

प्रत्येक उपासना का विधि-क्रम अलग-अलग होता है। साध्वीजी ने जैन विधि विधानों का इतिहास और तत्सम्बन्धी वैविध्यपूर्ण जानकारियाँ इस ग्रन्थ में दी है। ज्ञान उपासिका साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी ने खूब मेहनत करके इसका सुन्दर संयोजन किया है।

भव्य जीवों को अपने योग्य विधि-विधानों के बारे में बहुत-सी जानकारियाँ इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त हो सकती है।

मैं ज्ञान निमग्ना साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि इन्होंने चतुर्विध संघ के लिए उपयोगी सामग्री से युक्त ग्रन्थों का संपादन किया है।

मैं कामना करता हूँ कि इसके माध्यम से अनेक ज्ञानपिपासु अपना इच्छित लाभ प्राप्त करेंगे।

**आचार्य पद्मसागर सूरि**

हर क्रिया की अपनी एक विधि होती है। विधि की उपस्थिति व्यक्ति को मर्यादा भी देती है और उस क्रिया के प्रति संकल्प-बद्ध रहते हुए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी। यही कारण है कि जिन शासन में हर क्रिया की अपनी एक स्वतंत्र विधि है।

प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन उपलब्ध होता है कि भरत महाराजा ने हर श्रावक के गले में सम्यक दर्शन,सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप त्रिरत्नों की जनोई धारण करवाई थी। कालान्तर में जैन श्रावकों में यह परम्परा विलुप्त हो गई। दिगम्बर श्रावकों में आज भी यह परम्परा गतिमान है।

जिस प्रकार ब्राह्मणों में सौलह संस्कारों की विधि प्रचलित है। ठीक उसी प्रकार जैन ग्रन्थों में भी सौलह संस्कारों की विधि का उल्लेख है। आचार्य श्री वर्धमानसूरि खरतरगच्छ की रूद्रपल्लीय शाखा में हुए पन्द्रहवीं-सौलहवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य थे। आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में इन सौलह संस्कारों का विस्तृत निरूपण किया गया है। हालांकि गहन अध्ययन करने पर मालूम होता है कि आचार्य श्री वर्धमानसूरि पर तत्कालीन ब्राह्मण विधियों का पर्याप्त प्रभाव था, किन्तु स्वतंत्र विधि-ग्रन्थ के हिसाब से उनका यह ग्रन्थ अद्भुत एवं मौलिक है।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन गृहस्थ के व्रत ग्रहण संबंधी विधि विधानों पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करके प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यह बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ साबित होगा, इसमें कोई शंका नहीं है। साध्वी सौम्यगुणाजी सामाजिक दायित्वों में व्यस्त होने पर भी चिंतनशील एवं पुरुषार्थशील हैं। कुछ वर्ष पूर्व में विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर अपनी विद्वत्ता की अनूठी छाप समाज पर छोड़ चुकी हैं।

मैं हार्दिक भावना करता हूँ कि साध्वीजी की अध्ययनशीलता लगातार बढ़ती रहे और वे शासन एवं गच्छ की सेवा में ऐसे रत्न उपस्थित करती रहें। **उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर**

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगी। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थि के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

**आचार्य राजशेखर सूरि,** भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी

योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

**आचार्य रत्नाकरसूरि**

विदुषी आर्या साध्वीजी भगवंत श्री सौम्यगुणा श्रीजी सादर अनुवंदना सुखशाता !

आप सुखशाता में होंगे।

ज्ञान साधना की खूब अनुमोदना!

वर्तमान संदर्भ में जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध पढ़ा।

आनंद प्रस्तुति एवं संकलन अद्भुत है।

जिनशासन की सभी मंगलकारी विधि एवं विधानों का संकलन यह प्रबन्ध की विशेषता है।

विज्ञान-मनोविज्ञान एवं परा विज्ञान तक पहुँचने का यह शोध ग्रंथ पथ प्रदर्शक अवश्य बनेगा।

जिनवाणी के मूल तक पहुँचने हेतु विधि-विधान परम आलंबन है। यह शोध प्रबन्ध अनेक जीवों के लिए मार्गदर्शक बनेगा। सही मैहनत की अनुमोदना।

**नयपद्म सागर**

**'जैन विधि विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन'** शोध प्रबन्ध के सार का पल्लवग्राही निरीक्षण किया।

शक्ति की प्राप्ति और शक्ति की प्रसिद्धि जैसे आज के वातावरण में श्रुत सिंचन के लिए दीर्घ वर्षों तक किया गया अध्ययन स्तुत्य और अभिनंदनीय है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा विरोधी आधुनिकता के प्रवाह

मैं बहे बिना श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग के अनुरूप होने वाली किसी भी प्रकार की श्रुत भक्ति स्व-पर कल्याणकारी होती है।

शोध प्रबन्ध का व्यवस्थित निरीक्षण कर पाना सम्भव नहीं हो पाया है परन्तु उपरोक्त सिद्धान्त का पालन हुआ हो उस तरह की तमाम श्रुत भक्ति की हार्दिक अनुमोदना होती ही है।

आपके द्वारा की जा रही श्रुत सेवा सदा-सदा के लिए मार्गस्थ या मार्गानुसारी ही बनी रहे ऐसी एक मात्र अंतर की शुभाभिलाषा।

**संयम बोधि विजय**

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

**महत्तरा मनोहर श्री चरणरज**
**प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी**

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।

साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।
शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

**साध्वी संवेगनिधि**

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

**साध्वी मणिप्रभा श्री**
भद्रावती तीर्थ

## जो कर रहे स्व-पर उपकार
## अन्तर्हृदय से उनकी अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ

जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

**1. जातीय विधि-विधान**– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

**2. सामाजिक विधि-विधान**– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

**3. वैधानिक विधि-विधान**– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

**4. धार्मिक विधि-विधान**– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए

धम्मो'' कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों की नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों को परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम

अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

**जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज**
**मुनि पीयूष सागर**

## जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक ही या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

**मुनि महेन्द्रसागर**
1.2.13 भद्रावती

# मंगलनाद

भारतीय संस्कृति में संन्यास की परम्परा बहुत गरिमापूर्ण रही है। इसे जीवन के उदात्रीकरण की प्रक्रिया माना गया है। साधारण से साधारण और महान से महान सभी व्यक्तियों के लिए संयम आवश्यक माना गया है। शास्त्रों में कहा है– 'दीक्षा तु व्रत संग्रहः अर्थात व्रतों के कवच को धारण करने का नाम है दीक्षा। संयम ग्रहण के हेतु बताते हुए कहा है–

**''असासय दट्ठु इमं विहारं, बहु अन्तशयं न यं दीहमाउं।**
**तम्हा गिहंसि न रइं लहामो, आमंतयामो चरिस्सामु मोणं।।**

अशाश्वतता, बहुविघ्नता और आयुष्य की अल्पता गृह त्याग के तीन मुख्य कारण हैं। संयम ग्रहण के इसी महत्त्व को वर्धमान रखने हेतु सभी तीर्थंकर परमात्मा तद्भव मोक्षगामी होते हुए भी श्रमणत्व को अंगीकार करके अपनी साधना की परिसमाप्ति करते हैं। जैनाचार्यों ने श्रमण के विविध गुणों के आधार पर उसे विविध उपमाओं से उपमित किया है।

वस्तुतः श्रमण जीवन एक उच्चस्तरीय यात्रा है। इस यात्रा पथ का सम्यक् निर्वहन करने हेतु साधक को अनेकविध आचार संहिताओं का अनुपालन करना होता है तभी वह इस यात्रा की मंजिल (मोक्ष पद) समुपलब्ध कर सकता है।

प्रतिलेखना, समिति, भावना, परीषह, अनाचीर्ण, वस्त्र याचना आदि मात्र मुनि जीवन के आवश्यक क्रियाकलाप ही नहीं है, वरन अंतःकरण की शुद्धि एवं चरम लक्ष्य की प्राप्ति के अनन्यभूत कारण भी हैं। सुयोग्या साध्वी सौम्यगुणा जी ने मुनि जीवन विषयक आवश्यक आचार विधियों जैसे स्थण्डिल, वर्षावास, विहारचर्या, अवग्रह, प्रमार्जन आदि का सहेतुक विवेचन किया है। इसी के साथ श्रमणाचार सम्बन्धी विधि-नियमों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उनकी उपयोगिता एवं प्रचलित परम्पराओं के सन्दर्भ में उनका तुलनात्मक पक्ष भी उद्घाटित किया है। इससे यह रचना श्रमण एवं ब्राह्मण दोनों ही परम्पराओं में सदैव सम्मान्य रहेगी।

मैं सौम्याजी की सृजनशीलता, स्वाध्याय निष्ठता एवं साहित्य सेवा की हार्दिक अनुमोदना करते हुए उनके श्रेयस् अभ्युदय की आत्मीय प्रार्थना करती हूँ।

**मंगलाकांक्षिणी**
**आर्य्या शशिप्रभा श्री**

# दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.
# एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदु:खकातरता आदि गुण तो आप में जन्मत: परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्तत: 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की सेवा

हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

**शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।**
**अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।**

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क, अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान

स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

**महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।**
**मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया**
**गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।**

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

# शिक्षा गुरु पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्‌भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकश: वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो नि:सन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णत: सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति आप सदैव सचेष्ट

रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मन:स्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

**जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।**
**अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।**

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकश: जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

**चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।**
**आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।**
**जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।**
**जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।**

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

# साध्वी सौम्याजी की शोध यात्रा के अविस्मरणीय पल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकश: बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने का यह एक स्वर्णिम अवसर था अतः सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं

होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम कुछ भी करने में असमर्थ थे अत: पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुन: कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुन: कलकत्ता नगरी में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अत: उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अत: सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्राय: अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़

और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुनः साधु जीवन के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अतः चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अतः उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अतः गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु

उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा। मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुन: गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7

महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था। साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन

हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुनः कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अतः दो माह तक अध्ययन की गति पर पुनः ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि–

**जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।**
**अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।**

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अतः वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुनः कोलकाता की ओर

पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी। गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

**सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें ।**
**चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें ।**
**अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है ।**
**तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है ।।**

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर–शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस

बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंततः उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

**प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,**
**कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।**
**आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,**
**दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।**
**तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,**
**पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।**
**समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,**
**पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।**
**प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,**
**प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है ।।**

●

# हार्दिक अभिवन्दना

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

**धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।**
**माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।**

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

**उच्च उड़ान नहीं भर सकते**
**तुच्छ बाहरी चमकीले पर**
**महत कर्म के लिए चाहिए**
**महत प्रेरणा बल भी भीतर**

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रात:कालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्षे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

**गुरु भगिनी मण्डल**

# अनुभूति की वीणा

भगवान महावीर के शासन की अनेक विशेषताएँ हैं। चाहे आचार पक्ष हो या विचार पक्ष सभी की अपनी गुण गरिमा और महिमा है। आचार पक्ष का सुदृढ़ होना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि 'आचार परमो धर्मः' और आचार ही विचारों के सर्जन में सहायक बनता है। जैनाचार की मुख्य रूप से दो धाराएँ हैं– श्रावकाचार और श्रमणाचार।

श्रमण जीवन यद्यपि निवृत्ति प्रधान है फिर भी जीवन निर्वाह एवं शारीरिक आवश्यकताओं के कारण जो दैनिक क्रियाएँ मुनि द्वारा सम्पादित की जाती हैं, उसे श्रमणाचार की संज्ञा दी गई है।

श्रमणाचार के अन्तर्गत श्रमण का समस्त क्रिया पक्ष समाहित हो जाता है। आज यदि विश्व की विविध संत परम्पराओं से जैन मुनि की तुलना करें तो श्रमणाचार श्रेष्ठतम आचार के रूप में सिद्ध होता है परन्तु भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट साधु जीवन की तुलना वर्तमान साधु जीवन से की जाए तो कई परिवर्तन नजर आते हैं। उनमें से कुछ तो गीतार्थ मुनियों द्वारा देश-काल, परिस्थिति के आधार पर किए गए हैं और कुछ बदलाव मन के ढीलेपन के कारण भी आए हैं क्योंकि जो शारीरिक क्षमता, मानसिक स्थिरता एवं चारित्रिक दृढ़ता पूर्व समय में थी आज वह कठिन प्रतीत होती है।

दूसरा विमर्शनीय बिन्दु यह है कि श्रावकाचार में भी समयानुकूल बदलाव आया है, जिसका प्रभाव प्रकारांतर से श्रमण वर्ग पर परिलक्षित होता है अतः श्रावक किस प्रकार श्रमण जीवन के निर्दोष पालन में सहयोगी बन सकते हैं इस पहलू को प्रस्तुत शोध कृति में उद्घाटित किया गया है। साधु अपनी आवश्यकता आदि के लिए गृहस्थ पर आश्रित है। यदि गृहस्थ जानकार न हो तो दोनों ही आवश्यक-अनावश्यक दोष के भागी बनते हैं।

जैन मुनि वस्त्र, पात्र, आहार, उपाश्रय आदि जीवनोपयोगी वस्तुएँ गृहस्थ

श्रावक से ही प्राप्त करते हैं जो उनके निमित्त किसी भी प्रकार बनी हुई नहीं होनी चाहिए, परन्तु आज प्राय: वस्त्र-पात्र आदि साधु के उद्देश्य से ही खरीदे जाते हैं। पूर्वकाल में श्रावक धोती-कुर्ता पहनते थे इसलिए अतिरिक्त सफेद वस्त्र सुगमता से प्राप्त हो जाते थे। आज पहनावे में आए बदलाव के कारण धोती-कुर्ता का प्रचलन कम हो रहा है। ऐसी स्थिति में निमित्त का आश्रय लेने के सिवाय कोई उपाय दिखाई नहीं देता। हाँ! इस विषय में यदि किसी Quality विशेष की मांग नहीं हो तो व्यर्थ के दोषों एवं शिथिलाचार की उन्मार्ग प्रवृत्ति से बचा जा सकता है।

जैन साधु लकड़ी के पात्र का उपयोग करता है, क्योंकि मिट्टी के बर्तनों के टूटने की संभावना अधिक रहती है और धातु का प्रयोग निषिद्ध बतलाया गया है। पहले खेत-खलिहान में नारियल एवं तुम्बी आदि की सहज उपलब्धता के कारण उन्हीं का पात्र के रूप में उपयोग किया जाता था, परन्तु कालक्रम में जब आहार मर्यादा में परिवर्त्तन आया तो अधिक पात्रों की आवश्यकता महसूस होने लगी जिसके फलस्वरूप कई जगह विशेष प्रकार के पात्र बनने लगे।

आज उपाश्रय से तात्पर्य साधु-साध्वी के रहने के लिए बने हुए स्थान विशेष से है जबकि साधु के निमित्त तो एक जीव की हिंसा भी नहीं होनी चाहिए। पूर्व काल में तो साधुजन स्थान की गवेषणा करते थे और संयुक्त परिवारों में अतिथि आदि के लिए जो जगह होती वहाँ या धर्मशाला आदि में रूक जाते थे। ऐसे भी साधु-साध्वियों को रुकने की जगह सहज प्राप्त हो जाती थी। हम शास्त्रों में पढ़ते हैं कि भगवान महावीर आयुधशाला, हस्तिशाला या पौषधशाला में रुके, पर कहीं उपाश्रय का उल्लेख नहीं आता है। परन्तु ये आजकल के वन बेडरूम, हॉल, किचन में तो आने वाले अतिथि क्या, घर के सदस्य को भी जगह देना मुश्किल होता है तब साधु-साध्वी को कहाँ रुकवाएँ? श्रावकों के लिए पौषधशालाएँ बनती थीं लेकिन वर्तमान में पौषध करने वाले श्रावक ही नहीं बचे तो ऐसी स्थिति में साधु-साध्वी के निमित्त ही उपाश्रय बनने लगे हैं।

आज पाँचवीं परिष्ठापनिका समिति का पालन साधु के लिए अत्यन्त दुष्कर हो गया है। शहरों में बढ़ती आबादी ने मल-परिष्ठापन की एक बड़ी

समस्या उत्पन्न कर दी है। खुला स्थान मिलना असंभव हो गया है। श्रमणाचार से सम्बन्धित अन्य आचार मर्यादाएँ जैसे– पैदल विहार के समय मौजे आदि का प्रयोग, विहार में स्थान एवं जीवन सुरक्षा आदि की समस्या इस तरह जो निरपेक्ष एवं निराश्रित जीवन पूर्व काल के साधु वर्ग जी सकते थे वह आज संभव नहीं लगता।

इन सब परिस्थितियों के बावजूद श्रमणाचार का परिपालन स्वस्थ एवं तनावमुक्त जीवन जीने का राजमार्ग है। वैज्ञानिक दृष्टि से सात्त्विक भोजन, उबले हुए पानी का प्रयोग, बिना पदत्राण के पैदल विहार, चिंता रहित अपरिग्रही जीवन, श्वेत वस्त्रों का परिधान आदि नियम शारीरिक, मानसिक एवं प्राकृतिक समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण अंग हैं। इस प्रकार श्रमणाचार एक दुष्कर साधना है, किन्तु आचरणीय एवं लाभदायी मार्ग है।

श्रमणाचार का सम्यक् अनुवर्त्तन योगत्रयी पर आधारित है– भक्ति योग, ज्ञान योग और कर्म योग। इन्हें क्रमशः उपासना, साधना एवं आराधना की संज्ञा दे सकते हैं। उपासना में अन्तःकरण को, साधना में मनः संस्थान को और आराधना में क्रियाकलापों को प्रमुखता दी जाती है।

जिस प्रकार श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष आदि शारीरिक क्रियाएँ अनवरत रूप से निरन्तर चलती रहती हैं उसी प्रकार चेतना रूपान्तरण के उक्त तीनों पक्ष साधकीय जीवन के अभिन्न अंग होते हैं।

श्रमण जीवन सदाचार के अभ्यासवर्द्धन का प्रशस्त एवं श्रेष्ठ मार्ग है। यहाँ अन्तरंग विकास के पर्याप्त चरण उपलब्ध हैं। इस भूमिका पर आरूढ़ होकर यथासाध्य मानसिक और आध्यात्मिक शुद्धि की जा सकती है। इसी के साथ जीवन में मानवीय गुणों का उत्थान, सूक्ष्म चित्तवृत्तियों का विकास एवं ज्ञात दोषों या अवगुणों के निदान करने की यह अप्रतिम औषधि है।

उपासना आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का मार्ग है। उपासना का अर्थ है समीपता, निकटता। उपासना का प्रभाव तात्कालिक होता है जैसे ईंधन आग के जितना समीप पहुँचता है, उतना ही गर्म होता जाता है और अन्ततः वह स्वयं अग्निरूप बन जाता है। जैसे नाला नदी में, बूंद समुद्र में, नमक पानी

में मिलने पर तादात्म्य रूप हो जाता है। लोहा पारस का स्पर्श पाकर सोना बनता है, बेल पेड़ से लिपटकर ऊँची चढ़ती जाती है वैसे ही अन्तर्चेतना पूर्वक की गई उपासना से आत्मा परमात्म दशा को प्राप्त कर लेती है। जिस अनुपात में साधना की जाये, उतना प्रभाव हाथों-हाथ वृद्धिंगत होता है।

उपासनात्मक पद्धति द्वारा परमात्मा के साथ सीधा सम्बन्ध बनता है। यह अनुभूति सिद्ध तथ्य है कि जब भी कोई उपासना निर्भ्रान्त और श्रद्धापूर्ण हो तो वह परम लक्ष्य को उपलब्ध करवाकर ही रुकती है।

साधना का ध्येय अपने आप को साधना है। चिन्तन और चरित्र में अत्यन्त घनिष्ठता अथवा एकरूपता होना ही साधना है। साधना स्तर तक पहुँचने के लिए मन: संस्थान को आत्मानुशासित कर पूर्वजन्म के कुसंस्कारों से जूझना पड़ता है। दुर्विचारों के सम्मुख सद्विचारों की सेना खड़ी करके उन्हें परास्त करना पड़ता है। इसीलिए प्रतिलेखनादि क्रियाओं को मनोनिग्रह पूर्वक निष्पादित करना साधना है।

आराधना का अर्थ सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन में निरत होना एवं विश्व कल्याण की कामना करना है। आराधना हेतु मन, वचन एवं काया की शुद्धि आवश्यक है। आराधना का मार्ग उपासना समन्वित एवं साधना से अलंकृत है। उपासना भूमिशोधन है, साधना बीजारोपण है और आराधना फसल उगने के तुल्य है।

गृहस्थ सम्बन्धी आचार हो या श्रमण सम्बन्धी, उसकी विशुद्धि के लिए इन तीन सोपानों का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में श्रमणाचार से सम्बन्धित कई विधि-विधानों का तुलनात्मक, समीक्षात्मक एवं ऐतिहासिक पक्ष प्रस्तुत किया गया है। साथ ही इनके प्रयोजनों आदि अनेक उपयोगी तथ्यों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

यह शोध खण्ड पन्द्रह अध्यायों में इस प्रकार गुम्फित है–

**प्रथम अध्याय** में श्रमण शब्द का अर्थ विश्लेषण करते हुए श्रमण के प्रकार, श्रमण जीवन का महत्त्व, श्रमण के सामान्य-विशिष्ट गुण, श्रमण की दैनिक एवं ऋतुबद्धचर्या, श्रमण जीवन की सफलता हेतु आवश्यक शिक्षाएँ जैसे पक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

**द्वितीय अध्याय** में जैन साधु-साध्वी के लिए उत्सर्गतः पालन करने योग्य दस कल्प, दस सामाचारी, बाईस परीषह, बावन अनाचीर्ण आदि सामान्य नियमों का सहेतुक वर्णन किया गया है।

**तृतीय अध्याय** में स्थान आदि की याचना से सम्बन्धित विधि-नियमों की भेद-प्रभेद सहित चर्चा की गई है।

**चतुर्थ अध्याय** में साम्भोगिक विधि वर्णित की है। इसमें मुख्य रूप से यह बताया गया है कि मुनि जीवन में भी समान सामाचारी का पालन करने वाले साधुओं में ही परस्पर आहार-वस्त्र-उपधि आदि का आदान-प्रदान हो सकता है। अन्य सामाचारी (पृथक समुदाय) के साथ आहार आदि करना निषिद्ध है। यहाँ भी स्व-सामाचारी का अनुसरण करने वाले साध्वी समुदाय के साथ वन्दन-वांचना आदि का ही व्यवहार किया जा सकता है।

**पाँचवें अध्याय** में मुनि धर्म की आराधना में उपयोगी उपधि एवं उपकरणों का स्वरूप बतलाया गया है जिससे उन साधनों का यथावत उपयोग किया जा सके।

**छठें अध्याय** में प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि उपकरण तथा वसति आदि का प्रतिलेखन कब, कितनी बार, किस विधि पूर्वक किया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है।

**सातवें अध्याय** में मुनि स्वयं के लिए निर्दोष वस्त्रों का ग्रहण किस विधि पूर्वक, कितनी संख्या एवं कितने परिमाण में करें? इत्यादि बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है।

**आठवें अध्याय** में पात्र के प्रकार, पात्र की गवेषणा हेतु क्षेत्रगमन सीमा, पात्रग्रहण विधि, पात्र रखने की उपयोगिता आदि पात्र सम्बन्धी विधि-नियमों का निरूपण किया गया है।

**नौवां अध्याय** वसति विधि से सम्बन्धित है। पंच महाव्रतधारी साधु-साध्वियों के लिए कौनसी वसति (स्थान) वर्जित मानी गयी है? निषिद्ध वसति में रहने के क्या दोष हैं? वसति के कितने प्रकार हैं? शुद्ध वसति ब्रह्मचर्य

पालन में कितनी उपयोगी हो सकती है? ऐसे अनेक तथ्यों को उद्घाटित किया गया है।

**दसवें अध्याय** में साधु-साध्वी के लिए शयन योग्य पट्टा, फलक, तृण आदि ग्रहण करने सम्बन्धी नियमों एवं निर्देशों का वर्णन करते हुए इसकी औत्सर्गिक और वैकल्पिक विधियाँ बतायी गयी हैं।

**ग्यारहवें अध्याय** में शय्यातर सम्बन्धी विधि-नियमों की चर्चा की गई है। इसके अन्तर्गत शय्यातर का अर्थ, शय्यातर कौन, शय्यातर कब, शय्यातर की अवधि कहाँ तक, शय्यातर पिण्ड का निषेध क्यों, शय्यातर विधि की उपादेयता आदि विविध पक्षों को प्रस्तुत किया गया है।

**बारहवें अध्याय** में वर्षावास सम्बन्धी कई पहलुओं को उजागर किया गया है। उसमें मुख्यतया वर्षावास की स्थापना कब और कैसे की जाए, वर्षावास में विहार का निषेध क्यों, वर्षावास योग्य स्थान कैसा हो? इत्यादि विषयों पर शास्त्रीय दृष्टि से चर्चा की गई है।

**तेरहवाँ अध्याय** विहार चर्या से सम्बन्धित है। इसमें सामान्य रूप से विहार के प्रकार, पाद विहारी मुनि के प्रकार, विहार आवश्यक क्यों, विहार के प्रयोजन, एकाकी विहार का निषेध क्यों, एकाकी विचरण से लगने वाले दोष, गीतार्थ मुनि द्वारा एकाकी विहार के हेतु आदि विधि-नियमों की सम्यक् विवेचना की गई है।

**चौदहवें अध्याय** में पाँचवीं परिष्ठापनिका समिति की चर्चा स्थण्डिल विधि के रूप में की गई है। जिसमें मुख्य रूप से मल-मूत्र का परिष्ठापन करने हेतु 1024 प्रकार की भूमियों का प्रतिपादन करते हुए उनमें मात्र एक प्रकार की भूमि शुद्ध बताई गई है शेष भूमियों का उपयोग शुद्ध भूमि के अभाव में दोष न्यूनता के क्रम से करने का उल्लेख किया गया है। कुछ भूमियाँ तो सर्वथा निषिद्ध कही गई हैं।

इसी के साथ स्थंडिल गमन का काल, स्थंडिल भूमि का निरीक्षण, अशुद्ध स्थंडिल भूमि के दोष आदि का भी तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है।

**पन्द्रहवाँ अध्याय** अंतिम संस्कार विधि से सन्दर्भित है। इसमें शास्त्रीय विधिपूर्वक मृत श्रमण देह को परिष्ठापित करने एवं तत्सम्बन्धी निर्देशों का सोद्देश्य विवेचन किया गया है। इसी के साथ वर्तमान परम्परा में प्रचलित अन्त्य संस्कार विधि भी दर्शाई गई है। प्रस्तुत विधि का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पक्ष भी उद्घाटित किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध कृति में **जैन मुनि की आचार संहिता** से सम्बन्धित लगभग सभी विधि-नियमों का सटीक एवं प्रामाणिक विवेचन किया गया है।

अन्ततः इस ग्रन्थ का मनोयोगपूर्वक आलोड़न करते हुए गृहस्थ एवं नव दीक्षित साधु-साध्वी वर्ग, श्रमण धर्म के सैद्धान्तिक और आगमिक चर्याओं का भलीभाँति बोध कर सकें। आज के भोग प्रधान युग में योग मार्ग की महत्ता समझकर उसका अनुसरण कर सकें। वर्तमान में श्रमणाचार पालन हेतु दुरुह हो रही परिस्थितियों का निराकरण करते हुए सत्य मार्ग पर आरूढ़ हो सकें ऐसी आन्तरिक अभिलाषा के साथ।

●

# कृतज्ञता ज्ञापन

जगनाथ जगदानंद जगगुरू, अरिहंत प्रभु जग हितकरं
दिया दिव्य अनुभव ज्ञान सुखकर, मारग अहिंसा श्रेष्ठतम्
तुम नाम सुमिरण शान्तिदायक, विघ्न सर्व विनाशकम्
हो वंदना नित वन्दना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।1।।

संताप हर्ता शान्ति कर्ता, सिद्धचक्र वन्दन सुखकरं
लब्धिवंत गौतम ध्यान से, विनय हो वृद्धिकरं
दत्त-कुशल मणि-चन्द्र गुरुवर, सर्व वांछित पूरकम्
हो वंदना नित वन्दना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।2।।

जन जागृति दिव्य दूत है, सूरिपद वलि शोभितम्
सद्ज्ञान मार्ग प्रशस्त कर, दिया शास्त्र चिन्तन हितकरं
कैलाश सूरिवर गच्छनायक, सद्बोधबुद्धि दायकम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।3।।

श्रुत साधना की सफलता में, जो कुछ किया निस्वार्थतम्
आशीष वृष्टि स्नेह दृष्टि, दी प्रेरणा नित भव्यतम्
सूरि 'पद्म' 'कीर्ति' 'राजयश' का, उपकार मुझ पर अगणितम्।
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।4।।

ज्योतिष विशारद युग प्रभाकर, उपाध्याय मणिप्रभ गुरुवरं
समाधान दे संशय हरे, मुझ शोध मार्ग दिवाकरम्
सद्भाव जल से मुनि पीयूष ने, किया उत्साह वर्धनम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।5।।

उल्लास ऊर्जा नित बढ़ाते, आत्मीय 'प्रशांत' गणिवरं
दे प्रबोध मुझको दूर से, भ्राता 'विमल' मंगलकरं
विधि ग्रन्थों से अवगत किया, यशधारी 'रत्न' मुनिवरं
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।6।।

हाथ जिनका थामकर, किया संयम मार्ग आरोहणम्
अनुसरण कर पाऊं उनका, है यही मन वांछितम्
सज्जन कृपा से होत है, दुःसाध्य कार्य शीघ्रतम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।7।।

कल्पतरू सा सुख मिले, शरणागति सौख्यकरम्
तप-ज्ञान रूचि के जागरण में, आधार हैं जिनका परम्
मुझ जीवन शिल्पी-दृढ़ संकल्पी, गुरू 'शशि' शीतल गुणकरम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।8।।

'प्रियदर्शना' सत्प्रेरणा से, किया शोध कार्य शतगुणम्
गुरु भगिनी मंडल सहाय से, कार्य सिद्धि शीघ्रतम्
उपकार सुमिरण उन सभी का, धरी भावना वृद्धिकरं
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।9।।

जिन स्थानों से प्रणयन किया, यह शोध कार्य मुख्यतम्
पार्श्वनाथ विद्यापीठ (शाजापुर, बनारस) की, मिली छत्रछाया सुखकरम्
जिनरंगसूरि पौशाल (कोलकाता) है, पूर्णाहुति साक्ष्य जयकरं
हो वन्दना नित वन्दना, है नगर कार्य सिद्धिकरम् ।।10।।

साधु नहीं पर साधकों के, आदर्श मूर्ति उच्चतम्
श्रुत ज्ञानसागर संशय निवारक, आचरण सम्प्रेरकम्
इस कृति के उद्धार में, निर्देश जिनका मुख्यतम्
शासन प्रभावक सागरमलजी, किं करुं गुण गौरवम्।।11।।

अबोध हूँ, अल्पज्ञ हूँ, छद्मस्थ हूँ कर्म आवृतम्
अनुमोदना करुं उन सभी की, त्रिविध योगे अर्पितम्
जिन वाणी विपरीत हो लिखा, तो क्षमा हो मुझ दुष्कृतम्
श्रुत सिन्धु में अर्पित करुं, शोध मन्थन नवनीतम्।।12।।

●

# मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी–

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरु बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्वक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

# विषयानुक्रमणिका

**अध्याय-1 : श्रमण का स्वरूप एवं उसके विविध पक्ष 1-68**

1. श्रमण शब्द का अर्थ विमर्श 2. श्रमण के एकार्थवाची नाम 3. श्रमण के प्रकार 4. श्रमण जीवन की महत्ता 5. श्रमण कैसा हो ? 6. मुनि के लिए आवश्यक गुण 7. श्रमण के लिए आचरणीय 70 मूल गुण 8. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में चरण सत्तरी की प्रासंगिकता 9. श्रमण के लिए पालनीय 70 उत्तरगुण 10. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में करण सत्तरी की उपादेयता 11. जैन श्रमण की अहोरात्र चर्या विधि 12. उग्घाड़ा पौरुषी विधि 13. मुनियों की ऋतुबद्धचर्या विधि 14. श्रमण चर्या के आवश्यक अंग 15. श्रमण जीवन की आवश्यक शिक्षाएँ 16. साधु और श्रावक में मुख्य भेद के शास्त्रीय कारण।

**अध्याय-2 : जैन मुनि के सामान्य नियम 69-102**

1. दस कल्प 2. दस सामाचारी 3. इक्कीस शबल दोष 4. बीस असमाधि स्थान 5. बाईस परीषह 6. बावन अनाचीर्ण 7. अठारह आचार स्थान 8. तुलना एवं उपसंहार।

**अध्याय-3 : अवग्रह सम्बन्धी विधि-नियम 103-111**

1. अवग्रह का अर्थ विचार 2. अवग्रह के प्रकार 3. अवग्रह ग्रहण करने का क्रम 4. कौनसा अवग्रह किस योगपूर्वक 5. अवग्रह की क्षेत्र सीमा 6. अवग्रह सम्बन्धी कुछ निर्देश 7. अवग्रह की आवश्यकता क्यों? 8. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अवग्रह विधि की उपादेयता 9. उपसंहार।

**अध्याय-4 : मुनियों के पारस्परिक आदान-प्रदान सम्बन्धी विधि-नियम 112-123**

1. संभोग का अर्थ 2. संभोग के प्रकार 3. उपसंहार।

**अध्याय-5 : उपधि और उपकरण का स्वरूप एवं प्रयोजन 124-157**

1. उपधि एवं उपकरण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 2. उपधि के प्रकार 3. औघिक उपधि की संख्या 4. औघिक उपधि के प्रकार 5. औघिक उपधि

के माप एवं प्रयोजन 6. साध्वियों की उपधि का परिमाण एवं प्रयोजन 7. औपग्रहिक उपधि के प्रकार, माप एवं प्रयोजन 8. प्रतिलेखन-पिच्छी-रजोहरण एक विमर्श 9. कौनसी उपधि कितनी संख्या में? 10. उपकरणों का ऐतिहासिक विकास क्रम 11. तुलनात्मक विवेचन 12. उपसंहार।

**अध्याय-6 : प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना सम्बन्धी विधि-नियम** **158-214**

1. प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना का अर्थ विश्लेषण 2. प्रतिलेखना के नामान्तर 3. वस्त्र प्रतिलेखना विधि • वस्त्र प्रतिलेखना कितनी बार? • किस वस्त्र की प्रतिलेखना कितनी बार? • किसकी प्रतिलेखना किससे? • किस वस्त्रोपकरण की कितनी बार प्रतिलेखना? • वस्त्र प्रतिलेखना विधि।

4. पात्र प्रतिलेखना विधि • पात्र प्रतिलेखना का क्रम • पात्र प्रतिलेखना कितनी बार? • किस पात्रोपकरण की प्रतिलेखना कितने बोलपूर्वक? • किस पात्र की प्रतिलेखना किससे? • आहारार्थ जाने से पूर्व पात्र का प्रतिलेखन क्यों? • पात्र प्रतिलेखन विधि • उपधि और पात्र के सम्बन्ध में विशेष विचार।

5. आवश्यक उपकरण प्रतिलेखना विधि • रजोहरण प्रतिलेखना • डंडा प्रतिलेखना • दंडासन प्रतिलेखना • काष्ठासन प्रतिलेखना • कांबली-चद्दर-संस्तारक आदि की प्रतिलेखना • वस्त्र प्रतिलेखना सम्बन्धी सावधानियाँ • प्रतिलेखना के विकल्प • प्रतिलेखना के दोष • अविधि या प्रमाद प्रतिलेखना से हानि • प्रतिलेखक मुनि के प्रकार एवं क्रम • वस्त्र प्रतिलेखना का काल।

6. स्थापनाचार्य प्रतिलेखना विधि 7. वसति प्रमार्जन विधि • वसति प्रमार्जन किससे? • वसति प्रमार्जन का अधिकारी कौन? • वसति प्रमार्जना की मूल विधि • वसति प्रमार्जन कब और कितनी बार? • वसति प्रमार्जन न करने से लगने वाले दोष।

8. प्रभातकालीन प्रतिलेखना विधि 9. सायंकालीन प्रतिलेखना विधि 10. प्रतिलेखना के आवश्यक नियम 11. प्रतिलेखना सम्बन्धी विधि-विधानों के रहस्य • शरीर प्रतिलेखना के मुख्य ध्येय? • मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन का विधान क्यों? • वस्त्र प्रतिलेखना क्यों की जाए? • रजोहरण प्रतिलेखना के आवश्यक कारण? • स्थापनाचार्य प्रतिलेखना के विविध दृष्टिकोण? • पात्र सम्बन्धी वस्त्रों

की प्रतिलेखना उत्कटासन में क्यों नहीं? • पात्र के बाहर के तलिये का प्रमार्जन क्यों? • वस्त्र प्रतिलेखना उत्कटासन में ही क्यों?

12. प्रतिलेखना यन्त्र • प्राचीन परम्परानुसार प्रभातकालीन वस्त्र प्रतिलेखना यन्त्र • प्रचलित परम्परानुसार प्रभातकालीन वस्त्र प्रतिलेखना यन्त्र • प्राचीन परम्परानुसार पात्रोपकरण प्रतिलेखना यन्त्र • प्रचलित परम्परानुसार पात्रोपकरण प्रतिलेखना यन्त्र • प्राचीन परम्परानुसार सायंकालीन प्रतिलेखना यन्त्र 13. उपसंहार।

**अध्याय-7 : वस्त्र ग्रहण सम्बन्धी विधि-नियम 215-226**

1. वस्त्र ग्रहण की शास्त्रोक्त विधि 2. पूछताछपूर्वक वस्त्र ग्रहण क्यों? 3. वस्त्र ग्रहण कब? 4. वस्त्र ग्रहण किस क्रम से करें? 5. वस्त्र की संख्या एवं उसका परिमाण क्या हो? 6. वस्त्र के प्रकार 7. कौनसा वस्त्र कल्प्य-अकल्प्य? 8. मुनि वस्त्र धारण क्यों करें? 9. वस्त्र प्राप्ति की विधि 10. वस्त्र ग्रहण किससे किया जाए? 11. वस्त्र उपयोग विधि 12. वर्तमान सन्दर्भ में वस्त्र ग्रहण विधि की उपादेयता 13. तुलनात्मक अध्ययन एवं उपसंहार।

**अध्याय-8 : पात्र ग्रहण सम्बन्धी विधि-नियम 227-239**

1. पात्र के प्रकार 2. पात्र ग्रहण की शास्त्रीय विधि 3. किसके लिए कितने पात्रों का विधान? 4. बहुमूल्य वस्त्र-पात्रादि का निषेध क्यों? 5. पात्र की गवेषणा (खोज) हेतु क्षेत्रगमन मर्यादा 6. योग्य-अयोग्य पात्रों को पहचानने की रीति? 7. पात्र ग्रहण एवं पात्र धारण सम्बन्धी नियम 8. पात्र रंगने की विधि 9. विविध सन्दर्भों में पात्र रखने की उपयोगिता 10. तुलनात्मक अध्ययन एवं उपसंहार।

**अध्याय-9 : वसति (आवास) सम्बन्धी विधि-नियम 240-261**

1. वसति शब्द का प्रचलित अर्थ 2. मुनियों के लिए कौनसे स्थान वर्जित और क्यों? 3. मुनियों के लिए निषिद्ध अन्य स्थान 4. किन स्थितियों में शुद्ध वसति भी अशुद्ध? 5. कौनसी वसति किस कारण से दूषित? 6. वसति के प्रकार 7. निषिद्ध वसति में किन दोषों की सम्भावनाएँ? 8. आधुनिक सन्दर्भों में शुद्ध वसति की प्रासंगिकता 9. वसति प्रवेश एवं बहिर्गमन विधि 10. तुलना एवं उपसंहार।

**अध्याय-10: संस्तारक ग्रहण सम्बन्धी विधि-नियम 262-274**

1. संस्तारक का अर्थ विचार 2. संस्तारक के प्रकार 3. शय्या कल्पिक के प्रकार 4. शय्या-संस्तारक का परिमाण 5. शय्या संस्तारक की ग्रहण विधि 6. संस्तारक गवेषणा का काल 7. संस्तारक ग्रहण का विधान वैकल्पिक भी 8. संस्तारक ग्रहण किस क्रम से करें? 9. संस्तारक ग्रहण की आपवादिक विधि 10. संस्तारक सम्बन्धी कतिपय निर्देश 11. संस्तारक प्रत्यर्पण विधि 12. संस्तारक ग्रहण के प्रयोजन 13. उपसंहार।

**अध्याय-11: शय्यातर सम्बन्धी विधि-नियम 275-288**

1. शय्यातर शब्द की अर्थ मीमांसा 2. शय्यातर के प्रकार 3. वसतिदाता शय्यातर-अशय्यातर कब और कैसे? 4. शय्यातर के अन्य विकल्प 5. शय्यातर पिण्ड के प्रकार 6. शय्यातर की अवधि कब तक? 7. शय्यातर पिण्ड ग्रहण के अपवाद 8. शय्यातर पिण्ड ग्रहण सम्बन्धी निर्देश 9. शय्यातरपिंड निषेध के कारण 10. आधुनिक सन्दर्भ में शय्यातर विधि की उपयोगिता 11. उपसंहार।

**अध्याय-12: वर्षावास सम्बन्धी विधि-नियम 289-310**

1. वर्षावास के विभिन्न अर्थ 2. वर्षावास के समानार्थी 3. वर्षावास की स्थापना कब और कैसे? 4. वर्षावास : एक शास्त्रीय चिन्तन 5. वर्षावास में स्थापना किसकी? 6. वर्षावास में विहार करने के कारण 7. वर्षावास में विहार न करने के प्रयोजन 8. वर्षावास के शास्त्रोक्त नियम 9. वर्षावास का समय 10. वर्षावास हेतु स्थान कैसा हो? 11. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वर्षावास की प्रासंगिकता 12. वर्षायोग धारण-समापन विधि 13. तुलनात्मक अध्ययन 14. उपसंहार।

**अध्याय-13: विहारचर्या सम्बन्धी विधि-नियम 311-341**

1. विहारचर्या का अर्थ निर्वचन 2. विहार के प्रकार 3. पाद विहारी मुनि के प्रकार 4. विहार के अन्य प्रकार 5. विहार की आवश्यकता क्यों? 6. विहारचर्या से लाभ 7. विविध सन्दर्भों में विहारचर्या की प्रासंगिकता 8. विहारचर्या की ऐतिहासिक अवधारणा 9. विहार योग्य मुनि के लक्षण 10. एकल विहारी के योग्य कौन? 11. विहार हेतु शुभ-मुहूर्त्त का विचार 12. विहार की आगमिक विधि 12. विहार में गीतार्थ मुनि के कर्त्तव्य

13. साम्भोगिक मुनि के लिए विहार सम्बन्धी कृत्य 14. गमनयोग में अपेक्षित सावधानियाँ 15. एकाकी विचरण के दोष 16. गीतार्थ मुनि द्वारा एकाकी विहार के हेतु 17. विहार क्षेत्र की मर्यादा 18. विहार हेतु कुछ निषिद्ध स्थान 19. रात्रिकाल में विहार निषेध के कारण 20. वर्षाकाल में विहार का निषेध क्यों? 21. तुलनात्मक विवेचन 22. उपसंहार।

**अध्याय-14: स्थंडिल गमन सम्बन्धी विधि-नियम 342-374**

1. स्थंडिल के विभिन्न अर्थ 2. स्थंडिल भूमि के प्रकार 3. स्थंडिल भूमि के 1024 विकल्प कैसे? 4. 1024 विकल्पों का कोष्ठक 5. स्थंडिल भूमि के अन्य प्रकार • आपात स्वपक्ष युक्त स्थंडिल भूमि • आपात परपक्ष युक्त स्थंडिल भूमि • संलोक युक्त स्थंडिल भूमि।

6. अशुद्ध स्थंडिल भूमि के दोष • स्वपक्ष आपात (आवागमन) वाली स्थंडिल भूमि में लगने वाले दोष • परपक्ष आपातवाली स्थंडिल भूमि में लगने वाले दोष • तिर्यञ्च जीवों के आपातवाली स्थंडिल भूमि में लगने वाले दोष • संलोक वाली स्थंडिल भूमि में लगने वाले दोष • औपघातिक स्थंडिल भूमि के दोष • विषम भूमि के दोष • शुषिर भूमि के दोष • चिरकालकृत भूमि के दोष • अविस्तीर्ण भूमि के दोष • अदूरावगाढ़ भूमि के दोष • आसन्न भूमि के दोष • बिलवाली भूमि के दोष • जीवयुक्त भूमि के दोष।

7. विविध सन्दर्भों में स्थंडिल विधि की उपयोगिता 8. स्थंडिल गमन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 9. स्थंडिल गमन (मलोत्सर्ग) का काल 10. स्थंडिल गमन की औत्सर्गिक एवं आपवादिक विधि 11. स्थंडिल भूमि के कृत्य 12. स्थंडिल भूमि से लौटने के बाद की विधि 13. चौबीस मांडला विधि 14. तुलनात्मक विवेचन 15. उपसंहार।

**अध्याय-15: महापरिष्ठापनिका (अंतिम संस्कार) सम्बन्धी विधि-नियम 375-398**

1. महापरिष्ठापनिका शब्द का अर्थ घटन 2. महापरिष्ठापनिका की शास्त्रीय विधि 3. मुनियों की संख्या के अनुसार शव परिष्ठापन विधि 4. मृतक के पात्र आदि की विधि 5. तुलनात्मक विवेचन 6. उपसंहार।

**सहायक ग्रन्थ सूची 399-406**

## अध्याय-1

# श्रमण का स्वरूप एवं उसके विविध पक्ष

भारतीय संस्कृति 'श्रमण' और 'ब्राह्मण' इन दो धाराओं में प्रवाहित है। इनमें श्रमण संस्कृति आध्यात्मिक जीवन का और ब्राह्मण संस्कृति सुख-समृद्धि संपन्न भौतिक एवं सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं। जैन परम्परा 'श्रमण संस्कृति' की एक मुख्य धारा है। इस परम्परा में श्रमण का तात्पर्य पाप विरत साधक है। जैन परम्परा के अनुसार समस्त पापकारी प्रवृत्तियों से बचना श्रमण जीवन का बाह्य पक्ष है तथा समस्त रागद्वेषात्मक वृत्तियों से ऊपर उठना श्रमण का आभ्यन्तर पक्ष है। श्रमण संस्कृति का मूल आधार 'श्रमण' है।

## श्रमण शब्द का अर्थ विमर्श

श्रमण शब्द का प्राकृत रूप 'समण' है। 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं–1. श्रमण, 2. समन और 3. शमन।

1. 'श्रमण' शब्द 'श्रम' धातु से निर्मित है। इसका अर्थ है–परिश्रम या प्रयत्न करना अर्थात जो साधक अपने आत्मविकास के लिए परिश्रम करता है, वह श्रमण है।
2. 'समन' शब्द के मूल में सम् का अर्थ है समत्व भाव। जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह श्रमण है।
3. 'शमन' का अर्थ होता है अपनी वृत्तियों को शान्त रखना अथवा मन और इन्द्रियों पर संयम रखना। स्पष्टार्थ है कि जो व्यक्ति अपनी वृत्तियों को संयमित रखता है, वह श्रमण है।[1]

इन अर्थों से ज्ञात होता है कि श्रमण वह है जो समत्व भाव की साधना के द्वारा अपनी वृत्तियों को शमित करने का प्रयत्न करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार जो समभाव की साधना करता है, वह श्रमण है।[2] उत्तराध्ययन निर्युक्ति के मतानुसार 1. जो राग-द्वेष को जीत लेता है 2. जो

मन, वचन और काया इन तीनों दण्डों से मुक्त है 3. जो स्वयं सावद्य कार्य नहीं करता है, न दूसरों से करवाता है और न उसका अनुमोदन करता है 4. जो ऋद्धि, रस और साता का गर्व नहीं करता 5. जो मायावी नहीं होता, निदान नहीं करता और सम्यग्दर्शी होता है 6. जो विकथाओं से दूर रहता है 7. जो आहार, भय, मैथुन और परिग्रह- इन चार संज्ञाओं को जीत लेता है 8. जो कषायों पर विजय पा लेता है 9. जो अप्रमत्त रहता है और कर्म निर्जरा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है, ऐसा साधक श्रमण कहलाता है।[3]

सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता, हिंसा नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, मैथुन और परिग्रह के विकार से रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्म पतन के हेतु हैं, उन सबसे निवृत्त रहता है, इन्द्रियों का विजेता है, मोक्ष मार्ग का सफल यात्री है और शरीर के मोह-ममत्व से रहित है, वही श्रमण है।[4]

दशवैकालिक टीका में श्रमण का अर्थ तपस्वी किया गया है।[5]

आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार सब जीवों के प्रति सम् अर्थात समान, अणति अर्थात वर्तन करने वाला समण कहलाता है। श्रमण सु मना होता है, वह कभी भी पापमय चिन्तन नहीं करता और स्वजन-परजन में तथा मान-अपमान में बुद्धि का उचित सन्तुलन रखता है।[6] इस प्रकार श्रमण के विभिन्न अर्थ घटित होते हैं।

**तुलना–** यदि तुलनापरक दृष्टि से देखा जाए तो जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में श्रमण जीवन का अर्थ लगभग समान है। जैन विचारणा के अनुसार श्रमण साधना के दो पक्ष हैं- आभ्यन्तर और बाह्य। राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठना बाह्य साधना है और समभाव की उपलब्धि करना आभ्यन्तर साधना है, अत: समत्व की साधना ही श्रमण जीवन का मूल है। बौद्ध परम्परा भी श्रमण जीवन का मूल आधार समभाव की साधना को मानती है। बुद्ध कहते हैं- जो व्रतहीन है, मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा और लोभ से भरा हुआ मनुष्य भला क्या श्रमण बनेगा? जो छोटे-बड़े सभी पापों का शमन करता है वह पापों का शमनकर्ता होने से श्रमण कहा जाता है।[7] बुद्ध यह भी लिखते हैं कि श्रमण जीवन का सार सभी प्रकार के पापों को

नहीं करने, कुशल कर्मों का सम्पादन करने एवं चित्त को शुद्ध रखने में है।[8] इस प्रकार बौद्ध दर्शन में भी श्रमण जीवन की साधना के दो पक्ष हैं-चित्त शुद्धि रखना आभ्यन्तर साधना है और पाप से विरत होना बाह्य साधना है। वैदिक परम्परा में संन्यास जीवन का अर्थ– फलाकांक्षा का त्याग करना बतलाया गया है। साथ ही लौकिक एषणाओं से ऊपर उठकर सभी प्राणियों को अभय प्रदान करना संन्यास कहा है।[9]

इस प्रकार त्रिविध दर्शनों के अनुसार श्रमण का अर्थ समभाव की वृद्धि करना और अहिंसक एवं निष्पाप जीवन जीना सिद्ध होता है।

## श्रमण के एकार्थवाची नाम

सामान्यतया साधु, मुनि, निर्ग्रन्थ आदि को श्रमण कहते हैं। सूत्रकृतांग टीका में श्रमण के चार पर्यायवाची बतलाये गये हैं– **1. माहन**-जो किसी प्राणी का हनन नहीं करता है। **2. श्रमण–** जो समत्व भाव की साधना के द्वारा अपनी वृत्तियों को शमित करने का प्रयत्न करता है। **3. भिक्षु**–जो आगम नीति के अनुसार तप साधना के द्वारा कर्म बन्धनों का भेदन करता है। **4. निर्ग्रन्थ–** जो ग्रन्थ अर्थात बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित है, वह निर्ग्रन्थ है।[10]

दशवैकालिक निर्युक्ति में श्रमण अर्थ को द्योतित करने वाले लगभग बीस एकार्थवाची कहे गये हैं जो निम्न हैं[11]–

**प्रव्रजित**–गृह निर्गत, **अनगार**–गृह रहित, **पाषंडी**–अष्टकर्मों का ध्वंसक या पाप का खण्डन करने वाला, **चरक**–तपस्या का आचरण करने वाला, **तापस**–तपस्या करने वाला, **भिक्षु**–भिक्षा द्वारा जीवनयापन करने वाला, **परिव्राजक**–पाप का अपहरण करने वाला, **समन**–समान मन वाला, **निर्ग्रन्थ**–बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित, **संयत**–अहिंसा आदि गुणों से ओत-प्रोत, **मुक्त**–स्नेह आदि बंधनों से मुक्त, **तीर्ण**–संसार सागर को तैरने वाला, **नेता**–सिद्धि तक पहुँचाने वाला, **द्रवित**–राग-द्वेष से शून्य करुणाशील, **मुनि**–सावद्य वचन या निष्प्रयोजन न बोलने वाला, **क्षान्त**–क्षमाशील, **दान्त**–इन्द्रिय और कषायों का दमन करने वाला, **विरत**–प्राणातिपात आदि पापकार्यों से विरत, **रूक्ष**–रूक्ष भोजी, **तीरार्थी**–संसार सागर से पार जाने की इच्छा वाला।

मूलाचार में अनगार के समानार्थी दस नाम उल्लिखित हैं– 1. श्रमण 2. संयत 3. ऋषि 4. मुनि 5. साधु 6. वीतरागी 7. अनगार 8. भदन्त 9. दान्त

और 10. यति।[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'श्रमण' के समानार्थक अनेक शब्द हैं।

## श्रमण के प्रकार

जैन परम्परा में श्रमणों का वर्गीकरण उनके आचार-नियम एवं साधनात्मक पक्ष को लेकर किया गया है। मूलत: आचार विधि के आधार पर श्वेताम्बर परम्परा में दो प्रकार के साधु माने गये हैं–1. जिनकल्पी और 2. स्थविरकल्पी। इन्हें अचेलक और सचेलक अथवा पाणिपात्री और सपात्री भी कहते हैं।

**1. जिनकल्पी**–सामान्यतया जिनकल्पी मुनि नग्न एवं पाणिपात्री होते हैं, एकाकी विहार करते हैं, दिन के तृतीय प्रहर में आहार-पानी ग्रहण करते हैं, विहार करते समय जहाँ भी चतुर्थ प्रहर समाप्त होता है वहीं रुक जाते हैं, वहाँ से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ते, जब भी बैठने का प्रसंग उपस्थित हो तब उकडूं, गोदुहिका आदि आसन में ही बैठते हैं। एक मुहल्ले में अधिकतम सात दिन ठहरते हैं। कभी अलग-अलग दिशाओं से आने वाले जिनकल्पी मुनि एक साथ एकत्रित हो जायें तब भी परस्पर में संभाषण और धर्मकथा नहीं करते हैं। वे सदा मौन रहते हैं। एक मोहल्ले में एक जिनकल्पी ही भिक्षाटन करते हैं। आज जिस मोहल्ले में भिक्षा के लिए गये हैं, पुन: उस मोहल्ले में न्यूनतम छह दिन भिक्षा के लिए नहीं जाते है, सातवें दिन जा सकते हैं।

वे जिस मार्ग से गुजर रहे हों उस मार्ग में यदि शेर, मदोन्मत्त हाथी अथवा अग्नि आदि का उपद्रव हो जाये तो हिंसक पशुओं के भय से एक कदम भी इधर-उधर नहीं मुड़ते किन्तु चींटी आदि आ जाये तो जीव हिंसा न हो एतदर्थ अपने मार्ग से हट जाते हैं।

यदि उनकी आँखों में तिनका आदि या पैरों में कांटा आदि लग जाये तो वे स्वयं नहीं निकालते और न ही दूसरों से निकलवाते हैं। यदि कोई व्यक्ति सहज रूप से निकाल देता है तो वह उसे इन्कार भी नहीं करते हैं। वे शिष्य भी नहीं बनाते हैं और किसी रोग का उपचार भी नहीं करते हैं।[13]

विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार वही श्रमण जिनकल्पी हो सकता है जो वज्रऋषभनाराच संहनन वाला हो, कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचार वस्तु का अध्ययन किया हुआ हो और अधिक से अधिक कुछ कम दस पूर्व तक का श्रुतपाठी हो।[14]

जिनकल्पी श्रमण प्रारम्भ में स्थविरकल्पी के रूप में दीक्षित होते हैं। इस प्रकार जिनकल्पी श्रमण की द्विविध कोटियाँ हैं–1. पाणिपात्री–हाथ में भोजन करने वाले, 2. पात्रधारी–पात्र में भोजन करने वाले।[15] पाणिपात्री जिनकल्पी श्रमण उपधि की दृष्टि से चार प्रकार के होते हैं–

1. कुछ जिनकल्पी मुखवस्त्रिका और रजोहरण ऐसे दो उपधि रखते हैं।
2. कुछ जिनकल्पी मुखवस्त्रिका, रजोहरण और एक चद्दर रखते हैं।
3. कुछ मुखवस्त्रिका, रजोहरण और दो चद्दर रखते हैं।
4. कुछ मुखवस्त्रिका, रजोहरण और तीन चद्दर रखते हैं।

पात्रधारी जिनकल्पी श्रमण भी उक्त दो, तीन, चार और पाँच उपकरणों के अतिरिक्त सात प्रकार के पात्रनिर्योग रखने के कारण क्रमशः नौ, दस, ग्यारह और बारह प्रकार की उपधि धारण करने वाले होने से उनके भी चार भेद होते हैं। इस प्रकार जिनकल्पी श्रमण के मुख्य दो और उत्तरभेद आठ होते हैं।[16]

स्थविरकल्पी श्रमण के भी उपधि की दृष्टि से अनेक भेद किये जा सकते हैं। उपर्युक्त चर्चा का सार यह है कि जिनकल्पी मुनि हों या स्थविरकल्पी वे न्यूनतम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण रखते ही हैं। इसलिए नग्नत्व या अचेलक का अर्थ वस्त्रों का सर्वथा अभाव नहीं है, अपितु आवश्यक उपकरण रख सकते हैं।

**2. स्थविरकल्पी–** जो मुनि वस्त्र एवं पात्र युक्त तथा संघ के बीच रहकर साधना करते हैं वे स्थविरकल्पी कहलाते हैं। इसका एक अर्थ यह भी है–जो स्वयं संयम मार्ग में पूर्ण स्थिर हैं और च्युत साधकों को धर्म में स्थिर करते हैं, वे स्थविर हैं। ऐसे स्थविर का जो कल्प अर्थात आचार है, उसका अनुसरण करने वाला स्थविरकल्पी कहलाता है।

ज्ञातव्य है कि जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी का आचार पक्ष शिथिल होता है। जिनकल्पी स्वयं का कल्याण करते हुए संघ के साथ कोई संबंध नहीं रखते, जबकि स्थविरकल्पी स्व और पर कल्याणकारी होते हैं।

**तुलना–** यदि ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तन किया जाये तो लगभग जैन मूलागमों में जिनकल्पी या स्थविरकल्पी का नाम निर्देश मात्र प्राप्त होता है। इनकी प्रारम्भिक एवं परिवर्धित चर्चा निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका साहित्य में मिलती है। उनमें भी बृहत्कल्पभाष्य, बृहत्कल्पचूर्णि, निशीथभाष्य,

निशीथचूर्णि, विशेषावश्यकभाष्य आदि में इस विषयक विस्तृत चर्चा की गई है। इसके अनन्तर आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचवस्तुक, पंचाशक, षोडशक आदि, आचार्य नेमिचन्द्रकृत प्रवचनसारोद्धार एवं आचार्य वर्धमानसूरि कृत आचारदिनकर आदि में यह विवरण उपलब्ध है।

संक्षेप में कहा जाए तो जिनेश्वर परमात्मा की भाँति विचरण करने वाले श्रमण जिनकल्पी और संघबद्ध साधना करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग स्थविरकल्पी कहलाते हैं। वर्तमान में किसी अपेक्षा से दिगम्बर मुनि को जिनकल्पी और श्वेताम्बर साधु-साध्वियों को स्थविरकल्पी माना जाता है।

स्थानांगसूत्र में साधनात्मक योग्यता के आधार पर पाँच प्रकार के श्रमण बतलाये गये हैं, वे इस प्रकार हैं-[17]

1. **पुलाक**-दाने से रहित धान्य की भूसी को पुलाक कहते हैं। वह नि:सार होती है। जो श्रमण चारित्रधर्म को व्यर्थ कर देता है और बहुत से अतिचारों का सेवन करता है, वह पुलाक कहलाता है।
2. **बकुश**-बकुश का अर्थ है शबल अर्थात विचित्र वर्ण। जो श्रमण शरीर के अवयवों को साफ-स्वच्छ रखता है और अकाल समय में वस्त्रादि धोता है, पात्र-दण्ड आदि को तैलादि लगाकर चमकाता है, वह बकुश कहलाता है। इसमें चारित्र शुद्धि एवं दोष दोनों का सम्मिश्रण होता है।
3. **कुशील**-जो श्रमण भिक्षु जीवन के मूलगुणों का पालन करते हुए भी उत्तरगुणों-समिति, भावना, प्रतिमा आदि का समुचित रूप से पालन नहीं करता, वह कुशील कहलाता है।
4. **निर्ग्रन्थ**-ग्रन्थ का अर्थ मोह है। जिस श्रमण की मोह और कषाय ग्रन्थियाँ क्षीण हो चुकी हैं, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है।
5. **स्नातक**-जो मुनि चार घाति कर्मों का क्षय करता है, वह स्नातक कहलाता है।

पूर्वोक्त पाँचों प्रकार पाँच-पाँच भेद वाले हैं। विस्तार भयेन इत्यलम्।

प्रवचनसारोद्धार में श्रमण के निम्नोक्त पाँच प्रकार बताये गये हैं-[18]

1. **निर्ग्रन्थ**-जिन प्रवचन में उपदिष्ट पाँच महाव्रत, पाँच समिति आदि का पालन करने वाले मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।
2. **शाक्य**-बुद्ध के अनुयायी साधु शाक्य कहलाते हैं।
3. **तापस**-जंगलों में रहने वाले जटाधारी संन्यासी तापस कहलाते हैं।

4. **गैरुक**–गेरुए रंग के वस्त्र पहनने वाले त्रिदण्डी साधु गैरुक कहलाते हैं।

5. **आजीविक**–गोशालक मत के अनुयायी साधु आजीविक कहलाते हैं।

जैन साहित्य में शिथिलाचारी और स्वच्छंद विहारी श्रमणों के भी पाँच प्रकार निर्दिष्ट हैं, परन्तु जिनमत में ये साधु अवन्दनीय माने गये हैं–

1. **पार्श्वस्थ**–पाश का अर्थ है– बन्धन। जो मिथ्यात्व आदि का बन्ध करता है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में सम्यक् उपयोग नहीं रखता है, ज्ञानादि के समीप रहकर भी उन्हें नहीं अपनाता है, वह पार्श्वस्थ कहलाता है। पार्श्वस्थ साधु भी दो प्रकार के होते हैं–

(i) **सर्व पार्श्वस्थ**– केवल वेषधारी साधु सर्व पार्श्वस्थ है।

(ii) **देश पार्श्वस्थ**– निष्प्रयोजन शय्यातरपिंड, राजपिंड, नित्यपिंड, अग्रपिंड का आहार ग्रहण करने वाला देश पार्श्वस्थ है।

2. **अवसन्न**– जो साधु सामाचारी के पालन में प्रमाद करता है, वह अवसन्न कहलाता है। अवसन्न साधु दो प्रकार के होते हैं–

(i) **सर्व अवसन्न**–जो एक पक्ष के अन्दर पीढ़ फलक आदि के बन्धन खोलकर उनकी प्रतिलेखना नहीं करता है, बार-बार सोने के लिए संथारा बिछाये रखता है अथवा स्थापना और प्राभृतिका दोष से दूषित आहार लेता है, वह सर्व अवसन्न है।

(ii) **देश अवसन्न**–जो प्रतिक्रमण नहीं करता या असमय में करता है, स्वाध्याय नहीं करता या निषिद्ध काल में करता है, गमनागमन का प्रतिक्रमण नहीं करता है, बैठने एवं सोने के स्थान की प्रमार्जना नहीं करता है, दशविध सामाचारी का पालन नहीं करता है, वह देश अवसन्न है।

3. **कुशील**– कुत्सित-निन्द्य आचार वाले साधु कुशील कहलाते हैं जो कि तीन प्रकार के होते हैं–

(i) **ज्ञान कुशील**–काल, विनय आदि ज्ञानाचार की विराधना करने वाला साधु ज्ञान कुशील है।

(ii) **दर्शन कुशील**–नि:शंकित, निष्कांक्षित आदि समकित के आठ आचार की विराधना करने वाला दर्शन कुशील है।

(iii) **चारित्र कुशील**– कौतुक, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, लक्षण, विद्या, मन्त्रादि द्वारा आजीविका का कार्य करने वाला चारित्र कुशील है।

**4. संसक्त–** मूलगुण और उत्तरगुण का पालन करते हुए उनमें सन्निहित दोषों का सेवन करने वाला मुनि संसक्त कहलाता है।

**5. यथाछन्द–** जो साधु सूत्र विपरीत प्ररूपणा करता है, सूत्र विरुद्ध आचरण करता है, गृहस्थ कार्यों में प्रवृत्ति करता है, विषय आदि में आसक्त है, तीन गारव से गर्वोन्मत्त है, वह यथाछन्द कहलाता है।[19]

**तुलना–** उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में प्रशस्त-अप्रशस्त कोटि की अपेक्षा श्रमणों के द्विविध, पंचविध आदि अनेक भेद किये गये हैं। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो इन भेद-प्रभेदों की चर्चा अनुक्रमशः स्थानांग[20], भगवती[21], व्यवहारभाष्य[22], हरिभद्रीयावश्यकटीका[23], प्रवचनसारोद्धार[24] आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

यदि तुलनापरक दृष्टि से विचार करें तो जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में श्रमणों के उक्त प्रकार समान रूप से माने गये हैं किन्तु दिगम्बर साहित्य में इनमें से कुछ प्रकार ही उपलब्ध हैं।

डॉ. सागरमल जैन ने वैदिक परम्परागत संन्यासियों के चार प्रकारों का उल्लेख किया है।[25]

1. **कुटीचक्र**– इस स्तर वाले साधक अपने घर पर ही संन्यास धारण करते हैं तथा अपने पुत्रों द्वारा निर्मित कुटिया में रहते हुए उन्हीं की भिक्षा ग्रहण कर साधना करते हैं।

2. **बहूदक**– इस कोटि के संन्यासी त्रिदण्ड, कमण्डलु एवं कषाय वस्त्रों से युक्त होते हैं तथा सात ब्राह्मण घरों से भिक्षा माँगकर जीवन यापन करते हैं।

3. **हंस**– यह संन्यासी ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक नही बिताते हैं तथा उपवास एवं चान्द्रायण व्रत करते रहते हैं।

4. **परमहंस**–इस कोटि के संन्यासी सदैव पेड़ के नीचे शून्यगृह या श्मशान में निवास करते हैं।

तुलानात्मक दृष्टि से जैन परम्परा के जिनकल्पी मुनि को परमहंस या अवधूत श्रेणी का माना जा सकता है तथा संन्यासियों के अन्य प्रकार की तुलना स्थविरकल्पी मुनियों से की जा सकती है।

## श्रमण जीवन की महत्ता

भारतीय परम्परा मुख्यत: दो संस्कृतियों पर अवलम्बित है–एक ब्राह्मण संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति। ब्राह्मण संस्कृति में गृहस्थाश्रम को विशेष महत्त्व दिया गया है। मनुस्मृति में यह स्पष्ट कहा गया है कि अग्निहोत्रादि अनुष्ठान करने वाला गृहस्थ ही श्रेष्ठ है क्योंकि वह तीन आश्रमों का पालन करता है।[26] महाभारत में गृही आश्रम को ज्येष्ठ कहा है जबकि श्रमण संस्कृति में श्रमण जीवन को अधिक मूल्य दिया गया है।[27] इस संस्कृति में आश्रम व्यवस्था को कोई स्थान नहीं मिला है। यदि कोई साधक गृहस्थ में रहना चाहता है तो वह कम से कम श्रावक के बारह व्रतों को अवश्य ग्रहण करे। उन व्रतों को ग्रहण करते समय वह गृहस्थ इस सत्य को सरल मन से स्वीकार करता है कि 'मैं श्रमणधर्म को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ, अत: श्रावक के द्वादशव्रत ग्रहण करता हूँ।'[28] तदनन्तर व्रतों का पालन करते हुए भी प्रतिपल यही चिन्तन करता है कि वह दिन कब आयेगा जिस दिन मैं श्रमण धर्म को ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक करूँगा?

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णन आता है कि छद्मवेषधारी इन्द्र ने नमिराजर्षि से निवेदन किया–'हे राजर्षे! तुम सर्वप्रथम यज्ञ करो। श्रमण और ब्राह्मणों को भोजन कराओ। उदार मन से दान दो और उसके बाद श्रमण बन जाना।' नमिराजर्षि ने प्रत्युत्तर में कहा–एक मनुष्य प्रति माह दस लाख गायों का दान करे और दूसरा संयम धर्म का पालन करे, उनमें संयम पालन ही श्रेष्ठ है।[29] इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रमण परम्परा में मुनि जीवन का सर्वोपरि महत्त्व है।

जैन परम्परा में श्रमण बनने एवं साधना के अनुकूल वातावरण निर्मित करने हेतु वेश परिवर्तन और गृहवास त्याग आवश्यक माना गया है। आचार्य देवेन्द्रमुनि के मतानुसार यदि आन्तरिक जीवन की पूर्ण विशुद्धि हो चुकी हो तो साधक गृहस्थ वेश में भी और अन्य वेश में भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। मुक्ति के लिए वेश उतना बाधक नहीं है जितना आन्तरिक विकार, किन्तु आध्यात्मिक समुत्कर्ष के लिए बाह्य वातावरण की पवित्रता भी अपेक्षित है और समुचित अभ्यास के लिए वेश परिवर्तन भी जरूरी है।[30]

## श्रमण कैसा हो ?

श्रमण कैसा होता है? इस सम्बन्ध में जैन टीकाकारों ने सम्यक वर्णन

किया है। दशवैकालिकनिर्युक्ति में श्रमण का साक्षात स्वरूप दर्शाते हुए उसके लिए अनेक उपमाएँ दी गई हैं, जो संक्षेप में निम्न प्रकार है[31]–

• श्रमण सर्प की भाँति एकाग्र दृष्टि वाला तथा परकृत आवास में रहता है। जैसे सर्प बिल का स्पर्श किए बिना उसमें प्रवेश कर जाता है वैसे ही साधु आहार का स्वाद लिए बिना उसको निगल जाता है। • वह पर्वत की भाँति निश्चल और शील पालन में अडिग रहता है। • वह अग्नि की भाँति तेजस्वी होता है। • वह सागर की भाँति गम्भीर होता है। • वह गगन की तरह निराश्रयी-निरालंब होता है। • वह वृक्ष की भाँति अनुकूल-प्रतिकूल में समभाव रखता है। • वह भ्रमर की तरह अनियत वृत्तिवाला होता है। • वह मृग की तरह संसार भय से उद्विग्न रहता है। • वह पृथ्वी की तरह सब कुछ सहन करने वाला होता है। • वह कमल की तरह निर्लेप रहता है। • वह सूर्य की भाँति स्व-पर प्रकाशक होता है। • वह वायु की भाँति अप्रतिबद्ध विहारी होता है। • वह विष की भाँति सर्वरसानुपाती होता है। • वह तिनिस वृक्ष की तरह नमनशील होता है। • वह वंजुल वृक्ष की तरह विष का उपशमन करने वाला होता है। • वह कर्णवीर की भाँति स्पष्ट होता है। • वह उत्पल की भाँति शील-सौरभ से युक्त होता है। • वह उंदुर की भाँति देश-काल के अनुसार आचरण करने वाला होता है। • वह नट की तरह विविध स्थितियों का वेदन करने वाला होता है। • वह कुक्कुट की भाँति संविभागी और दर्पण की भाँति स्पष्ट होता है।

इन उपमाओं का भावार्थ यह है कि मुनि को उक्त गुणों से युक्त होना चाहिए।

## मुनि के लिए आवश्यक गुण

जैन परम्परा में श्रमण जीवन की कुछ आवश्यक योग्यताएँ स्वीकारी गयी हैं। श्वेताम्बर मत के अनुसार श्रमण को 27 मूल गुणों से युक्त होना चाहिए। श्वेताम्बर परम्परा का वर्गीकरण दिगम्बर परम्परा के वर्गीकरण से थोड़ा भिन्न है।

श्वेताम्बर मान्यतानुसार श्रमण के 27 मूलगुण इस प्रकार है[32]– 1-5. पंच महाव्रत का पालन करने वाला हो 6. रात्रिभोजन का त्यागी हो 7-11. पाँच इन्द्रियों पर संयम रखता हो 12. आन्तरिक पवित्रता रखता हो 13. उपधि की पवित्रता हो 14. क्षमावान हो 15. अनासक्त हो 16. मन की सत्यता हो

17. वचन की सत्यता हो 18. काया की सत्यता हो 19-24. षट्काय जीवों का प्रतिपालक हो 25. तीन गुप्ति का धारक हो 26. सहनशील और 27. संलेखना धारक हो।

समवायांगसूत्र के अनुसार मुनि के लिए अनिवार्य 27 गुण इस प्रकार हैं [33]–

1-5. पंच महाव्रतों का पालन 6-10. पंचइन्द्रियों का संयम 11-15. चार कषायों का परित्याग 16. भावसत्य 17. करणसत्य 18. योगसत्य 19. क्षमा 20. विरागता 21-24. मन, वचन और काया का निरोध 25. ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्पन्नता 26. कष्ट सहिष्णुता और 27. मारणान्तिक कष्टों को सहन करना।

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार 27 गुण निम्न हैं–[34]

1-5. पाँच महाव्रत का अनुपालन 6. रात्रिभोजन विरति 7-12. पृथ्वी आदि छ:काय जीवों का संरक्षण 13-17. पाँच इन्द्रियों का संयम 18. लोभ निग्रह 19. क्षमा 20. भावविशुद्धि 21. क्रियाविशुद्धि 22. संयमविशुद्धि 23-25. मन-वचन-काया के अशुभ व्यापार का त्याग 26. वेदना सहन और 27. उपसर्ग सहन।

दिगम्बर परम्परा में साधु के निम्नोक्त 28 मूलगुण माने गये हैं।[35]

1-5. पाँच महाव्रत 6-10. पाँच समितियों का परिपालन 11-15. पाँच इन्द्रियों का संयम 16-21. छह आवश्यक कृत्य 22. केशलोच 23. नग्नता 24. अस्नान 25. भूमिशयन 26. अदन्त धावन 27. खड़े रहकर भोजन ग्रहण करना और 28. एक समय भोजन करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा में 27 मूलगुणों में आन्तरिक विशुद्धि को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है वहाँ दिगम्बर परम्परा में 28 मूलगुणों में बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों पक्षों पर बल दिया गया है, किन्तु मनोशुद्धि दोनों परम्पराओं में स्वीकृत है।[36]

श्वेताम्बर परम्परा में जैन मुनि के सत्तर मूलगुण और सत्तर उत्तरगुण भी माने गये हैं। यह प्रत्येक गुण मुनि के लिए एक नियम रूप होता है। अत: प्रत्येक नियम की अपेक्षा 140 प्रकार से अतिचार (दूषण) लगने की सम्भावना रहती है। अतिचार का अर्थ है–गृहीत प्रतिज्ञा को खण्डित करने हेतु तत्पर होना

किन्तु प्रतिज्ञा खण्डित नहीं करना। गृहीत प्रतिज्ञा का भंग करना अनाचार कहलाता है। जैन चिन्तन में नियम भंग से सम्बन्धित चार विकल्प माने गये हैं।

1. **अतिक्रम**–गृहीत प्रतिज्ञा को खण्डित करने का भाव अतिक्रम है।

2. **व्यतिक्रम**–प्रतिज्ञा खण्डित करने हेतु इच्छित स्थान पर पहुँच जाना व्यतिक्रम है।

3. **अतिचार**– प्रतिज्ञा को अंशत: खण्डित करना अतिचार है।

4. **अनाचार**–प्रतिज्ञा को पूर्णत: खण्डित करना अनाचार है।

इन चतुर्विध विकल्पों में जो प्रतिज्ञा अंशत: खण्डित होती है, उसकी शुद्धि पश्चात्ताप या 'मिच्छामि दुक्कड़ं' के द्वारा की जा सकती है परन्तु पूर्णत: खण्डित हो जाये तो उसकी विशुद्धि आलोचना और प्रायश्चित्त के द्वारा ही सम्भव है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि जैन गृहस्थ के बारह व्रत आदि में 124 प्रकार के अतिचारों की संभावना रहती हैं और जैन मुनि के सत्तर मूलगुण एवं सत्तर उत्तरगुण से सम्बन्धित 140 प्रकार के अतिचार लगते हैं।

अब श्रमणाचार का निरतिचार पालन करने के उद्देश्य से चरण सत्तरी एवं करण सत्तरी का सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है–

## श्रमण के लिए आचरणीय 70 मूल गुण

प्रतिदिन किया जाने वाला चारित्रिक अनुष्ठान चरण कहलाता है अथवा जो व्रत-नियम प्रतिदिन अपरिहार्य रूप से आचरणीय होते हैं वे चरण कहलाते हैं। इन्हें मूलगुण भी कहते हैं। इसके अधोलिखित सत्तर भेद हैं–पाँच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सत्तरह प्रकार का संयम, दस प्रकार की वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति, रत्नत्रय, बारह प्रकार का तप और क्रोध आदि चार कषायों का निग्रह।[37]

### पाँच महाव्रत

1. सर्वथा हिंसा करने का त्याग करना।
2. सर्वथा झूठ बोलने का त्याग करना।
3. सर्वथा चोरी करने का त्याग करना।
4. सर्वथा मैथुन सेवन का त्याग करना।
5. सर्वथा परिग्रह रखने का त्याग करना।

इसका विस्तृत वर्णन खण्ड-4, अध्याय-7 में किया गया है।

## दस यति धर्म

'धर्म' शब्द धृ–धारणे धातु से निष्पन्न है। जो धारण करता है अथवा दुर्गति में जाते हुए प्राणियों को बचाता है, वह धर्म है। जैन साहित्य में कई दृष्टियों से धर्म शब्द पर चिन्तन किया गया है। यहाँ धर्म का तात्पर्य मुनि जीवन को ऊपर उठाने वाले तात्त्विक नियमों से है। वे तत्त्व दस बतलाये गये है[38]–

1. क्षान्ति–क्रोध नहीं करना 2. मार्दव–जाति या कुल आदि का अहंकार नहीं करना 3. आर्जव–सरलता रखना, माया न करना 4. मुक्ति– लोभ नहीं करना 5. तप–अनशन आदि बारह प्रकार का तपश्चरण करना 6. संयम–हिंसा आदि से निवृत्त होना 7. सत्य–सत्य भाषण करना अथवा कथनी-करनी में समानता रखना 8. शौच–संयम धर्म में किसी प्रकार का दूषण नहीं लगाना 9. आकिंचन्य–परिग्रह नहीं रखना 10. ब्रह्मचर्य–ब्रह्मचर्य का पालन करना।

**तुलना–** ऐतिहासिक दृष्टि से दस यति धर्म का प्राथमिक उल्लेख आचारांग एवं स्थानांगसूत्र[39] में प्राप्त होता है। इसके पश्चात यह वर्णन समवायांगसूत्र[40] में उपलब्ध होता है। आचारांगसूत्र में आठ का ही उल्लेख है। तदनन्तर श्वेताम्बर परम्परामूलक स्थानांगवृत्ति[41] आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति[42], आवश्यक चूर्णि[43], तत्त्वार्थसूत्र[44], प्रवचनसारोद्धार[45], नवतत्त्वप्रकरण[46] आदि ग्रन्थों में तथा दिगम्बर परम्परा के द्वादशानुप्रेक्षा, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में परिलक्षित होता है। इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में यति धर्म के दस प्रकारों का उल्लेख है।

इनके नाम एवं क्रम में कुछ अन्तर अवश्य हैं किन्तु प्रचलित परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण किया जाता है। अत: यहाँ तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार दस धर्म का निरूपण किया गया है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो इनमें नाम, क्रम एवं स्वरूप की अपेक्षा वैभिन्य है। स्थानांगसूत्र[47], समवायांगसूत्र[48] एवं आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति[49] में उल्लेखित प्राचीन गाथा के अनुसार दस धर्मों के नाम एवं उनका क्रम इस प्रकार है–1. क्षमा 2. मुक्ति 3. आर्जव 4. मार्दव 5. लाघव 6. सत्य 7. संयम 8. तप 9. त्याग और 10. ब्रह्मचर्य।

स्थानांग अभयदेव वृत्ति[50], तत्त्वार्थसूत्र[51] प्रवचनसारोद्धार[52] में दस धर्मों के नाम एवं उनका क्रम इस प्रकार प्रस्तुत है–

1. क्षमा 2. मार्दव 3. आर्जव 4. मुक्ति 5. तप 6. संयम 7. सत्य 8. शौच 9. आकिंचन्य और 10. ब्रह्मचर्य।

यहाँ इतना विशेष है कि आवश्यकचूर्णि एवं तत्त्वार्थसूत्र में दस श्रमण धर्म का उल्लेख करते हुए क्षमा आदि के पूर्व 'उत्तम' विशेषण लगाया है जैसे उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि। इस विशेषण का तात्पर्य है कि क्षमा आदि धर्म तभी हो सकते हैं जब वे उत्तम हों और शुद्ध भाव से किये गये हों। जो व्याख्याएँ दी गई हैं, वे भी एक दूसरे से कहीं-कहीं भिन्न हैं।

आचार्य कुन्दुकुन्द रचित द्वादशानुप्रेक्षा[53] एवं स्वामीकार्तिकेय रचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा में दस धर्मों के नाम एवं उनका क्रम निम्नोक्त है– 1. क्षमा 2. मार्दव 3. आर्जव 4. सत्य 5. शौच 6. संयम 7. तप 8. त्याग 9. आकिंचन्य और 10. ब्रह्मचर्य।

इस तरह उपर्युक्त ग्रन्थों में दस यतिधर्म के नामों एवं क्रम को लेकर समानता और भिन्नता दोनों है। इनमें दस धर्मों की जो व्याख्याएँ दी गई हैं, वे भी एक-दूसरे से कहीं-कहीं भिन्न हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि आवश्यक चूर्णि में दसविध श्रमण धर्म का मूलगुण और उत्तरगुण दोनों में समावेश किया गया है। प्रथम प्राणातिपात विरति में संयम का, द्वितीय सत्य महाव्रत में सत्य का, चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत में ब्रह्मचर्य का, तृतीय अदत्तादान महाव्रत एवं पंचम परिग्रह महाव्रत में अकिंचनत्व का और शेष धर्मों को उत्तरगुणों में अन्तर्भूत किया है।[54]

## सत्तरह संयम

पाप कार्यों से विरत रहना संयम है। मुनि के लिए सत्तरह प्रकार के संयम का पालन करना आवश्यक बतलाया है। वे सत्तरह संयम निम्न हैं [55]–

1-9. पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना, न करवाना, न हिंसा का अनुमोदन करना।

10. अजीव संयम– जिन निर्जीव वस्तुओं के द्वारा असंयम होता हो, ऐसे बहुमूल्य वस्त्र-पात्रादि ग्रहण नहीं करना अजीव संयम है।

11. प्रेक्षा संयम– सम्यक् प्रकार से देखभाल करके उठना-बैठना, सोना आदि।

12. उपेक्षा संयम– गृहस्थ के पाप कार्यों का अनुमोदन नहीं करना।

13. अपहृत्य (परिष्ठापना) संयम– भोजन-पानी, मल-मूत्र, वस्त्र-पात्रादि का जीवरहित स्थान में विधि पूर्वक परित्याग करना।

14. प्रमार्जना संयम– वस्त्र-पात्रादि एवं वसति आदि का सम्यक प्रमार्जन करना। किसी भी वस्तु या स्थान की पहले प्रतिलेखना कर फिर प्रमार्जना करनी चाहिये। उसके पश्चात ही उसे उठाना या रखना चाहिये।

15. मनः संयम– मन में दुर्भाव नहीं रखना।

16. वचन संयम– कुवचन नहीं बोलना।

17. काय संयम– गमनागमनादि प्रवृत्तियों में सावधान रहना।

संयम के अन्य सत्तरह प्रकार भी हैं–[56]

- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का पालन करना।
- पाँच इन्द्रियों की उच्छृंखल प्रवृत्ति को रोकना।
- चार प्रकार के कषायों में प्रवृत्त नहीं होना और तीन योगों की शुभ प्रवृत्ति करना।

**तुलना–** इन सत्तरह प्रकार के संयम का ऐतिहासिक अनुशीलन करें तो मौलिक रूप से यह विवेचन समवायांगसूत्र,[57] आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति[58] एवं प्रवचनसारो-द्धार[59] में उपलब्ध होता है।

यदि तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो पूर्वोक्त ग्रन्थों में यह उल्लेख संयम के सत्तरह प्रकार के रूप में ही संप्राप्त है तथा उनमें नाम, क्रम एवं स्वरूप की अपेक्षा पूर्णतया साम्य है केवल साधु प्रतिक्रमण सूत्र में इसका उल्लेख 'सत्तरह असंयम' के रूप में हुआ है[60] किन्तु उसमें भी नाम, क्रम एवं स्वरूप को लेकर कहीं असमानता नहीं है।

## दस वैयावृत्य

अपने से बड़े या असमर्थ की सेवा–शुश्रुषा करना अथवा स्वयं को दूसरों की सेवा में जोड़ना व्यावृत्ति है और उसका भाव वैयावृत्य कहलाता है। जैन साहित्य में दस प्रकार के व्यक्तियों की सेवा करने का विशेष निर्देश है। वैयावृत्य करने योग्य दस व्यक्ति ये हैं–

1. आचार्य की सेवा करना 2. उपाध्याय की सेवा करना 3. स्थविर की

सेवा करना 4. तपस्वी की सेवा करना 5. रोगी की सेवा करना 6. शैक्ष-नवदीक्षित साधु की सेवा करना 7. कुल-(चन्द्रादि कुल)–एक आचार्य के शिष्य परिवार की सेवा करना 8. गण (कोटिकादि गण) एक साथ पढ़ने वाले साधुओं के समूह की सेवा करना 9. संघ की सेवा करना और 10. साधर्मिक-समान धर्म वालों की सेवा करना।

**तुलना–** यदि ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो वैयावृत्य के इन दस प्रकारों का उल्लेख सर्वप्रथम भगवतीसूत्र में मिलता है। तदनन्तर इसकी चर्चा आचार्य उमास्वाति एवं आचार्य नेमिचन्द्र ने की है।

यदि दसविध वैयावृत्य का तुलनात्मक अध्ययन करें तो पूर्वोक्त ग्रन्थों में इनके नाम एवं स्वरूप को लेकर तो लगभग समानता है परन्तु क्रमिक दृष्टि से किंचित मत वैभिन्य दिखता है। भगवतीसूत्र के अनुसार दस प्रकार के वैयावृत्य का क्रम इस प्रकार है– 1. आचार्य 2. उपाध्याय 3. स्थविर 4. तपस्वी 5. ग्लान 6. शैक्ष 7. कुल 8. गण 9. संघ और 10. साधर्मिक।[61]

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार वैयावृत्य के दस भेद इस क्रम से हैं– 1. आचार्य 2. उपाध्याय 3. तपस्वी 4. शैक्ष 5. ग्लान 6. गण 7. कुल 8. संघ 9. साधु और 10. समनोज्ञ-(एक सामाचारी वाला)।[62]

प्रवचनसारोद्धार में दसविध वैयावृत्य का क्रम इस प्रकार है– 1. आचार्य 2. उपाध्याय 3. तपस्वी 4. शैक्ष 5. ग्लान 6. साधु 7. समनोज्ञ 8. संघ 9. कुल और 10. गण।[63]

सार रूप में कहें तो भगवतीसूत्र में उल्लिखित स्थविर एवं साधर्मिक के स्थान पर तत्त्वार्थसूत्र और प्रवचनसारोद्धार में क्रमशः साधु एवं समनोज्ञ शब्द का उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से किंचित भिन्नता है। फिर भी यह मानना होगा कि स्थविर की अपेक्षा साधु और साधर्मिक की अपेक्षा समनोज्ञ शब्द अधिक व्यापक है।

## नव ब्रह्मचर्यगुप्ति

ब्रह्म-आत्मा, चर्या-लीन होना अर्थात आत्म भावों में विचरण करते हुए, स्व-स्वरूप में मग्न रहना ब्रह्मचर्य है अथवा वीर्य का रक्षण करना ब्रह्मचर्य है। यहाँ गु प्ति का अर्थ सांसारिक विषय-वासनाओं की ओर प्रवृत्त हुई आत्मशक्ति को बचाना है। अतः परभावों से स्वयं को दूर रखना ब्रह्मचर्य गुप्ति है।

शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार वीर्य है। ब्रह्मचर्य की रक्षा निमित्त वीर्य को टिकाये रखना परमावश्यक है। जैन साहित्य में ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु नौ बातें आवश्यक मानी गयी हैं। इनके बिना ब्रह्मचर्य का समुचित पालन संभव नहीं है। इन्हें नववाड़ भी कहते हैं क्योंकि ये स्थान बाड़ की तरह साधक की चारों ओर से रक्षा करते हैं। ब्रह्मचर्यगुप्ति के नौ स्थान इस प्रकार हैं[64]–

1. **विविक्त वसतिसेवन**–ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में नहीं ठहरना।

**दोष**–इन तीनों से युक्त वसति में रहने पर उनकी चेष्टाएँ देख साधु के भीतर मनोविकार पैदा होने की सम्भावना रहती है, इससे ब्रह्मचर्य दूषित होता है।

2. **स्त्री कथा परिहार**–स्त्रियों से सम्बन्धित कथा-वार्त्ता और उनके सौन्दर्य आदि की चर्चा नहीं करना।

**दोष**–स्त्रियों की कथा करने से अन्तर्मन विकारी बनता है।

3. **निषद्यानुपवेशन**–निषद्या - आसन, अनुपवेशन नहीं बैठना अर्थात स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना। जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, वहाँ उसके उठ जाने के बाद भी एक मुहूर्त तक नहीं बैठना।

**दोष**–स्त्री के द्वारा उपयोग में लिये गये आसन पर बैठने से स्पर्शदोष के कारण मन चंचल होने की सम्भावना रहती है।

4. **स्त्री-अंगोपांगदर्शन**–स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अंग-उपांगों को नहीं देखना।

**दोष**–स्त्रियों के अंगों का अवलोकन करने से कामवासना या मोह कर्म का उदय होता है।

5. **कूड्यान्तर शब्द श्रवणादि वर्जन**–कुड्यान्तर – दीवार आदि का अन्तर, वर्जन – त्याग करना अर्थात दीवार आदि की आड़ से स्त्री के शब्द, गीत, रूप आदि न सुनना और देखना।

**दोष**–स्त्रियों के शब्दादि सुनने पर चित्त कामासक्त बन सकता है।

6. **पूर्वभोगाऽस्मरण**–गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना।

**दोष**–पूर्व भोगों का स्मरण करने से ईंधन प्रक्षिप्त आग की भाँति काम उत्तेजित होता है।

7. **प्रणीत भोजन त्याग**–प्रणीत यानी गरिष्ठ, राजसिक, अतिस्निग्ध, अत्यन्त मधुर भोजन का सेवन नहीं करना।

**दोष**–गरिष्ठ आहार करने से धातु पुष्ट होते हैं और उससे कामवासना उत्तेजित होती है, फलत: ब्रह्मचर्य दूषित होता है।

8. **अतिमात्रा भोजन त्याग**–प्रमाणोपेत आहार करना। रूखा-सूखा भोजन भी अधिक मात्रा में नहीं करना।

**दोष**–अतिमात्रा में आहार सेवन करने पर ब्रह्मचर्य का भंग एवं शारीरिक पीड़ा की सम्भावना रहती है।

9. **विभूषा परिवर्जन**–शरीर की विभूषा यानी स्नान, सजावट आदि नहीं करना।

**दोष**–शारीरिक विभूषा आदि विकारवृद्धि के कारण हैं, अत: इससे ब्रह्मचर्य दूषित होता है।

इन नौ स्थानों का पालन करने से ब्रह्मचर्य विशुद्ध बनता है।

**तुलना–** नव ब्रह्मचर्यगुप्ति के सम्बन्ध में सर्वप्रथम चर्चा स्थानांगसूत्र[65] में प्राप्त होती है। इसके अनन्तर यह विवेचना समवायांगसूत्र[66], उत्तराध्ययनसूत्र[67], प्रवचनसारोद्धार[68] आदि ग्रन्थों में मिलती है। मुनि के दैनिक प्रतिक्रमणसूत्र[69] के अन्तर्गत भी नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति का समावेश किया गया है। इस प्रकार प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी ग्रन्थों में इसका उल्लेख है।

यदि तुलनात्मक पहलू से देखा जाए तो समवायांगसूत्र में ब्रह्मचर्य गुप्तियों का उल्लेख अन्य रूप में मिलता है। समवायांग में तीसरी गुप्ति–'नो इत्थीणं गणाइं सेवित्ता भवइ' अर्थात स्त्रियों के समुदाय के साथ निकट सम्पर्क नहीं रखना, ऐसा है।

समवायांगसूत्र में प्रणीत रस भोजन त्याग और अतिभोजन त्याग गुप्ति की संख्या क्रमश: पाँचवीं एवं छठी है। पूर्वभोगस्मरण का त्याग और शब्द-रूपानुपातिता आदि का त्याग सातवें तथा आठवें स्थान पर है। इसमें नौवीं गुप्ति का स्वरूप 'नो साया-सोक्ख-पडिबद्धे या वि भवइ' अर्थात सांसारिक सुखोपभोग की आसक्ति का त्याग करना है और यह विभूषापरिवर्जन से अधिक व्यापक है।[70]

उत्तराध्ययनसूत्र में नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति के उल्लेख के साथ ब्रह्मचर्य के दस

समाधि स्थान भी कहे गये हैं। किन्तु उनमें और नौ गुप्तियों में केवल क्रम सम्बन्धी अन्तर है, शेष नौ स्थानों के नाम परस्पर मिलते-जुलते हैं।[71]

## रत्नत्रय

मोक्ष प्राप्ति में साधनभूत सम्यक्दर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यकचारित्र की प्राप्ति करना रत्नत्रय की आराधना है।

**ज्ञान**–अंग, उपांग, प्रकीर्णक आदि सूत्रों का ज्ञान करना।

**दर्शन**–जीव-अजीव आदि नव तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा करना।

**चारित्र**–समस्त पाप-व्यापार का समझपूर्वक त्याग करना।

## बारह प्रकार के तप

शरीर और कर्मों को कृश करना तप कहलाता है। जिस प्रकार सोना अग्नि में तपकर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा तप रूपी अग्नि में तपकर कर्ममल से रहित हो शुद्ध बन जाती है। मुख्य रूप से तप दो प्रकार का कहा गया है–बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। शरीर से सम्बन्ध रखने वाले तप को बाह्य तप कहते हैं। यह छह प्रकार का है–[72]

1. **अनशन**–अशन – भोजन, न – निषेध यानी आहार का त्याग करना अनशन है। यह दो प्रकार से होता है–इत्वरिक और यावत्कथिक। उपवास से लेकर छह मास तक का तप इत्वरिक अनशन है। भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण और पादपोपगमन मरण रूप अनशन करना यावत्कथिक है।[73]

2. **ऊनोदरी**–ऊन - न्यून, उदर - पेट यानी उदरपूर्ति के लिए जितना आहार आवश्यक हो अथवा जितना भोजन उदर में समाता हो उससे कुछ कम आहार करना ऊनोदरी है। आहार की तरह आवश्यक उपकरणों में से कम उपकरण रखना भी ऊनोदरी तप है। आहार एवं उपकरणों में कमी करना द्रव्य ऊनोदरी तप है तथा क्रोधादि का त्याग करना भाव ऊनोदरी तप है।

3. **भिक्षाचर्या**–इसका दूसरा नाम वृत्तिसंक्षेप है। विविध अभिग्रह लेकर भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना भिक्षाचर्या तप है। अभिग्रपूर्वक भिक्षाटन करने से वृत्ति का संकोच होता है। इसलिए इसे 'वृत्तिसंक्षेप' भी कहते हैं।

4. **रस परित्याग**–विकारोत्पादक दूध, दही, घी आदि विगयों का तथा प्रणीत (स्निग्ध और गरिष्ठ) खान-पान की वस्तुओं का त्याग करना रस परित्याग है।

5. **कायक्लेश**–शरीर को उत्तम रीतिपूर्वक कष्ट पहुँचाना कायक्लेश तप है। यह तप अनेक प्रकार से होता है जैसे–उत्कटक, वीरासनादि आसनों का सेवन करना, लोच करना, विहार करना, शरीर की शोभा-शुश्रुषा का त्याग करना आदि।

6. **प्रतिसंलीनता**–प्रतिसंलीनता का अर्थ है–गोपन करना। भगवतीसूत्र में यह तप चार प्रकार का बताया गया है[74]–

(i) **इन्द्रिय प्रतिसंलीनता**–शुभाशुभ विषयों में राग-द्वेष त्याग कर इन्द्रियों को वश में करना, इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है।

(ii) **कषाय प्रतिसंलीनता**–क्रोधादि चार कषायों का उदय न होने देना और उदय में आए हुए कषायों को विफल करना, कषाय प्रतिसंलीनता है।

(iii) **योग प्रतिसंलीनता**–मन, वचन, काया के अशुभ व्यापारों को रोकना और शुभ व्यापारों को उदय में लाना, योग प्रतिसंलीनता है।

(iv) **विविक्त शय्यासनता**–स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित एकान्त स्थान में रहना, विविक्त शय्यासनता है।

उक्त छह प्रकार के तप मुक्ति प्राप्ति के बाह्य अंग हैं क्योंकि इनका मुख्य प्रभाव शरीर पर पड़ता है तथा इन तपों को करने वाला साधक भी लोक में तपस्वी रूप में प्रसिद्ध हो जाता है।

जिस तप का सम्बन्ध आत्मा के भावों से हो, उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। यह तप भी छह प्रकार का है[75]–

1. **प्रायश्चित्त**– प्राय: का अर्थ है–पाप और चित्त का अर्थ है–शुद्धि।

जिस अनुष्ठान से पाप की शुद्धि हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं अथवा जिससे मूलगुण और उत्तरगुण विषयक अतिचारों से मलिन आत्मा शुद्ध हो, वह प्रायश्चित्त तप है।

2. **विनय**–सम्माननीय गुरुजनों के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना, उनकी सेवा-शुश्रुषा आदि करना विनय कहलाता है।

3. **वैयावृत्य**–धर्म साधना के लिए गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहारादि लाकर देना और संयम पालन में यथाशक्ति सहायता करना वैयावृत्य है।

4. **स्वाध्याय**–शास्त्रसम्मत काल में आगमों का अध्ययन-अध्यापन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय पाँच प्रकार से होता है–गुरु मुख से पाठ लेना, पूछना,

पुनरावर्त्तन करना, कण्ठस्थ सूत्रार्थ का चिन्तन करना और धर्मोपदेश देना।

5. **ध्यान**–आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान में मन को एकाग्रचित करना ध्यान है।

6. **व्युत्सर्ग**–ममता का त्याग करना व्युत्सर्ग है। शरीर, उपधि और आहार के ममत्व का त्याग करना द्रव्य व्युत्सर्ग है तथा कषाय, संसार और कर्म का त्याग करना भाव व्युत्सर्ग है।

ये आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति के मुख्य कारण हैं और इन तपों का सेवन अन्तरात्मा ही करती है।

**तुलना–** ऐतिहासिक दृष्टि से तप के बारह प्रकार सर्वप्रथम स्थानांगसूत्र[76] में प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात यह वर्णन औपपातिक,[77] उत्तराध्ययन[78], प्रवचनसारोद्धार[79], तत्त्वार्थसूत्र[80], नवतत्त्वप्रकरण[81] आदि ग्रन्थों में परिलक्षित होता है और उनमें नाम, क्रम एवं स्वरूप की अपेक्षा लगभग समानता है।

### चार कषाय निग्रह

कष् अर्थात कर्म या संसार की प्राप्ति, आय अर्थात वृद्धि, जिस क्रिया से संसार की वृद्धि हो उसे कषाय कहते हैं। कषाय मुख्यत: चार प्रकार के हैं–1. क्रोध 2. मान 3. माया क्रोधादि और 4. लोभ। इन क्रोधादि भावों को मन में न आने देना कषाय निग्रह है।

## आधुनिक परिप्रेक्ष्य में चरण सत्तरी की प्रासंगिकता

साधु जीवन में दैनिक पालन करने योग्य नियम चरण सत्तरी कहलाते हैं। यदि इस चरण सत्तरी का प्रभाव व्यक्तिगत जीवन में देखा जाए तो पंच महाव्रत के पालन के द्वारा व्यक्ति का जीवन संयममय बनता है और वह प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है। सत्तरह प्रकार का संयम पालन करते हुए जीव-अजीव हिंसा से विरत होते हैं, समस्त कार्यों में जागरूकता बढ़ती है तथा तीनों योगों की एकाग्रता सधती है।

दस प्रकार के वैयावृत्त्य करने से जीवन में सेवा, विनम्रता, लघुता आदि गुणों का विकास होता है। नववाडों का पालन करते हुए व्यक्ति की आन्तरिक सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं तथा वीर्य एवं चित्तनियन्त्रण में वृद्धि होती है। रत्नत्रय की साधना के माध्यम से साधक की दृष्टि, बुद्धि एवं आचरण तीनों सम्यक बनते हैं। द्वादश तप की साधना शारीरिक सौष्ठव प्रदान करते हुए आत्मा

को कर्मों एवं कषायों से निर्मल करती है वहीं शरीर को रोगमुक्त बनाती है। चार कषायों का निग्रह करने से जीवन में शान्ति, सौहार्द, स्नेह आदि की प्राप्ति तथा सद्गुणों का विकास होता है।

यदि सामाजिक उत्कर्ष में चरण सत्तरी की भूमिका पर विचार किया जाए तो पंच महाव्रत का पालन करने वाला मुनि समाज में व्रत पालन हेतु निष्ठा उत्पन्न कर सकता है तथा त्याग वृत्ति की प्रेरणा दे सकता है। दसविध श्रमण धर्म के माध्यम से वह समाज में क्षमा, सरलता, लघुता, संयम, तप आदि मौलिक और नैतिक गुणों का विकास करते हुए सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान कर सकता है। सत्तरह प्रकार के संयम के माध्यम से समाज में बढ़ती परिग्रह वृत्ति, हिंसा, व्यभिचार आदि पर नियन्त्रण किया जा सकता है। दस प्रकार के वैयावृत्त्य के द्वारा समाज के असहाय, उपेक्षित वर्ग की, ज्ञानी एवं ग्लान जनों की सेवा हो सकती है। नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति के द्वारा समाज का चारित्रिक विकास होता है। रत्नत्रय के माध्यम से समाज में सही दृष्टिकोण, सद्ज्ञान एवं सद्चारित्र का विकास करने में विशेष सहायता प्राप्त हो सकती है। द्वादशविध तप की साधना के द्वारा समाज में आहार संयम, शरीर संयम आदि होता है। कषाय निग्रह के द्वारा समाज में वैभाविक तत्त्वों को हटाकर एक सुदृढ़ समाज की रचना की जा सकती है।

यदि प्रबन्धन की दृष्टि से चरण सत्तरी की उपादेयता का मूल्यांकन किया जाए तो पाँच महाव्रतों का पालन जीवन एवं समाज प्रबन्धन की दृष्टि से उपयोगी है। इनके द्वारा समाज में नैतिकता, सौहार्द, परस्पर सहयोग आदि के भावों को परिपुष्ट किया जा सकता है। दस श्रमण धर्म का पालन करने से क्रोधादि कषायों का नियन्त्रण तथा सन्तोष, निस्पृहता, निरासक्तता आदि का विकास करते हुए परभावों में समय का अपव्यय कम किया जा सकता है। सत्तरह प्रकार के संयम पालन द्वारा जीवन में इन्द्रिय नियन्त्रण एवं आत्म-नियन्त्रण करके वीर्य का सदुपयोग तथा उसका नियोजन संभव है। दस प्रकार के वैयावृत्य के माध्यम से समाज के असहाय एवं उपेक्षित लोगों की शक्ति का सही उपयोग कर विकास की गति को बढ़ाया जा सकता है तथा वरिष्ठ एवं युवा वर्ग में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों के पालन से वासना में शक्ति एवं समय का दुरुपयोग नहीं होगा। रत्नत्रय के द्वारा आचार-

विचार एवं दृष्टि का समायोजन करते हुए निरपेक्ष भावों में वृद्धि की जा सकती है। बारह प्रकार के तप की साधना शरीर एवं कषाय प्रबन्धन की दृष्टि से बहुपयोगी है।

यदि आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में चरण सत्तरी की प्रासंगिकता पर चिन्तन किया जाए तो वर्तमान भौतिक जगत की अधिकतम समस्याएँ बढ़ती इच्छाशक्ति, भोग-लालसा आदि के कारण हैं। उनमें साधु जीवन के दैनिक नियम इच्छाओं पर नियन्त्रण करवाने में सहायक हैं। पंच महाव्रतों के द्वारा विश्व व्यापी हिंसा, बेईमानी, भ्रष्टाचार आदि का निवारण संभव है। दस यतिधर्म साम्प्रदायिक वैमनस्य, आपसी कटुता, दंभ, पाखण्ड, अहंकार आदि के नाश में सहायक हो सकते हैं। सत्तरह प्रकार का संयम आन्तरिक इच्छा-लालसाओं को समाप्त कर प्रमाद का नाश करता है। वैयावृत्य समाज में बढ़ रही आपसी दूरियों को, वरिष्ठ वर्ग के प्रति बढ़ते अनादर भाव को कम करता है। नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्ति से चारित्रिक दुर्बलता, दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी समस्याएँ एवं बलात्कार आदि की समस्याओं का निवारण हो सकता है।

## श्रमण के लिए पालनीय 70 उत्तरगुण

परिस्थिति विशेष में पालन किये जाने वाले नियम करण कहलाते हैं। इन नियमों का पालन गोचरी आदि ग्रहण करते समय किया जाता है और इन्हें उत्तरगुण भी कहते हैं। करण के सत्तर भेद निम्नोक्त हैं–

चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, पाँच समिति, बारह भावना, बारह प्रतिमा पाँच प्रकार का इन्द्रिय निग्रह, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्ति और चार प्रकार का अभिग्रह।[82]

### चार पिण्ड विशुद्धि

सजातीय और विजातीय अनेक द्रव्यों का एकत्र होना 'पिंड' कहलाता है तथा आधाकर्मादि दोष से रहित आहारादि ग्रहण करना, पिंडविशुद्धि है। जैन विचारणा में पिंड शब्द का प्रयोग प्रमुखत: आहार के सन्दर्भ में हुआ है। आहार अनेक वस्तुओं का एकत्रित समूह रूप होता है अत: वह पिण्ड कहलाता है। किन्तु यहाँ आहार, वस्त्र, पात्र और शय्या ये चार वस्तुओं को पिण्ड माना गया है। इन्हें निर्दोष रूप से ग्रहण करना पिंडविशुद्धि है।

## पाँच समिति

समिति का सामान्य अर्थ है सम्यक प्रवृत्ति।

जैन मुनि के धार्मिक जीवन की क्रियाओं में सम्यक प्रवृत्ति करना अथवा शुभ योगों में प्रवृत्ति करना समिति है। प्रतिक्रमणसूत्र वृत्ति में समिति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि सम्-एकाग्रभाव से, इति-की जाने वाली प्रवृत्ति अर्थात प्राणातिपात आदि पापों से निवृत्त रहने के लिए प्रशस्त एवं एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक प्रवृत्ति समिति कहलाती है।[83] शान्त्याचार्य के अनुसार जिन प्रवचन के अनुरूप प्रवृत्ति करना समिति है।[84]

**पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ**- इन आठों को प्रवचन माता की संज्ञा दी गई हैं।[85] जिस प्रकार एक माता अपनी सन्तान का हर तरह से ध्यान रखती है और उसे असत मार्ग की ओर जाने से रोकती है, उसी प्रकार समिति एवं गुप्ति साधक को हर पल सन्मार्ग की ओर चलने की प्रेरणा देती है। इन आठों में जिनभाषित द्वादशांगरूप प्रवचन समाया हुआ है, इसलिए भी इन्हें प्रवचन माता कहा जाता है।[86] इनके माध्यम से आत्मा के अनन्त आध्यात्मिक सद्गुण विकसित होते हैं, अत: इनका प्रवचन माता नाम सर्वथा संगत है।

पाँच समिति का स्वरूप निम्नलिखित है-

1. **ईर्यासमिति**-ईर्या-गति, समिति-उपयोग पूर्वक प्रवृत्ति करना अर्थात संयमपूर्वक चलना ईर्या समिति है।[87] संयम पूर्वक चलने का अर्थ है- आगम के अनुसार अपने आगे की साढ़े तीन हाथ परिमाण भूमि को देखते हुए चलना। स्थावर जीव-वनस्पति आदि और त्रस जीव-चींटी, मकोड़ा आदि की रक्षा करते हुए चलना ईर्यासमिति है।[88]

2. **भाषा समिति**-भाषा का सम्यक प्रयोग भाषा समिति है अर्थात विवेकपूर्वक बोलना, आवश्यकता होने पर बोलना, सत्य, हित, मित और असन्दिग्ध और सर्वजन हितकारी वाक्यों का प्रयोग करना भाषा समिति है।[89]

3. **एषणा समिति**-एषणा का अर्थ है- निर्दोष आहार, पानी की गवेषणा करना अर्थात गोचरचर्या के समय मुनि के द्वारा नवकोटि परिशुद्ध आहार का ग्रहण करना एषणा समिति है।[90]

एषणा तीन प्रकार से होती है-1. गवेषणा, 2. ग्रहणैषणा और 3. ग्रासैषणा। जैन मुनि को आहार, उपधि और शय्या के विषय में उक्त तीनों

प्रकारों से शोधन करना चाहिए।[91]

4. **आदान-निक्षेपण समिति**–आदान-ग्रहण करना, निक्षेपण-रखना अर्थात आसन, संस्तारक, वस्त्र, पात्र, पाट, डंडा आदि उपकरणों को उपयोगपूर्वक देखकर एवं रजोहरण आदि से पूँजकर लेना तथा उपयोगपूर्वक देखी और पूंजी गई भूमि पर रखना आदान-निक्षेपण समिति है।[92]

5. **उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति**–उच्चार-बड़ीनीति, प्रस्रवण-लघुनीति, खेल-श्लेष्म, सिंघाण-नाक का मैल, जल-मल तथा दोषयुक्त आहार, जीर्ण उपधि, मृत शरीर आदि विसर्जन योग्य वस्तुओं का स्थण्डिल भूमि में उपयोगपूर्वक परित्याग करना उत्सर्ग समिति है।[93]

**तुलना**– समिति, जैन मुनियों का प्राथमिक आचार है। यदि इस विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाये तो इसका सर्वप्रथम उल्लेख स्थानांगसूत्र में प्राप्त होता है।[94] इसके अनन्तर यह वर्णन समवायांगसूत्र में दृष्टिगत होता है।[95] उत्तराध्ययनसूत्र में समिति और गुप्ति दोनों का अत्यन्त विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। इस प्रकार जैन आगमों में समिति का सम्यक् स्वरूप निर्दिष्ट है।[96]

जहाँ तक जैन टीका साहित्य का सवाल है वहाँ दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन टीका, आवश्यक टीका में भी इसका वर्णन है। जहाँ तक परवर्ती साहित्य का प्रश्न है वहाँ अष्टप्रवचनमाता की चर्चा प्रवचनसारोद्धार[97], तत्त्वार्थसूत्र[98], नवतत्त्वप्रकरण[99] आदि में भी प्राप्त होती है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो यह विवरण उपलब्ध ग्रन्थों में लगभग समान है।

## बारह भावना

भावना का सामान्य अर्थ है– पुनः पुनः अभ्यास करना। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार जो आत्मा को भावित करती है वह भावना अथवा ध्यान के योग्य चेतना का निर्माण करने वाली अभ्यास क्रिया का नाम भावना है।[100]

जैन परम्परा में गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए प्रतिदिन शुभ चिन्तन करने का प्रावधान है उसे ही अनुप्रेक्षा या भावना कहा गया है। जैन दर्शन में भावनाओं का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि दान, शील, तप और भावना के भेद से धर्म चार प्रकार का है, किन्तु इन चतुर्विध धर्मों में भावना प्रधान है। संसार में जितने भी सुकृत्य हैं उनमें भावना की ही प्रमुखता है,

भावनाविहीन धर्म शून्य है।

जैनाचार्यों ने भावनाओं को मोक्ष का सोपान कहा है। व्यक्ति के मन पर अन्तर्भावों का विशेष प्रभाव पड़ता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:' 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'–इन उक्तियों से यह जाना जा सकता है कि मानसिक क्रियाओं का हमारे जीवन पर कितना अधिक असर होता है। परमार्थत: व्यक्ति के जीवन निर्माण में उसके विचारों की प्रधानता होती है।

जैन धर्म में जीवन शुद्धि के लिए भावनाएँ या अनुप्रेक्षाएँ बारह कही गयी हैं– 1. अनित्य 2. अशरण 3. संसार 4. एकत्व 5. अन्यत्व 6. अशुचि 7. आश्रव 8. संवर 9. निर्जरा 10. धर्म 11. लोक और 12. बोधिदुर्लभ भावना।[101]

**1. अनित्य भावना–** संसार के प्रत्येक पदार्थ को अनित्य एवं नाशवान मानना अनित्य भावना है। इस जगत में सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार, अधिकार आदि का संयोग अनित्य है। यह जीवन कमल-पत्र पर गिरी हुई ओस-बिन्दु के समान अल्पकालीन है। यह शरीर रोगों का घर है, यौवन के साथ बुढ़ापा जुड़ा हुआ है। लक्ष्मी सन्ध्या के बादलों की तरह अस्थिर है। प्रत्येक वस्तु के स्वभाव में विनाशशीलता भी निहित है तथा संयोग के साथ वियोग लगा हुआ है, ऐसा चिन्तन करना अनित्य भावना है।

**लाभ**–इस भावना का अनुचिन्तन करने से पदार्थजन्य एवं व्यक्तिजन्य आसक्ति भाव घट जाता है और वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर दु:ख नहीं होता है।

**2. अशरण भावना–** इस संसार में कोई शरणदाता नहीं है, जैसे सिंह से आहत मृग शिशु के लिए कहीं शरण नहीं है, वैसे ही जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु आदि से समुत्थित दु:खों से आहत प्राणी के लिए संसार में कोई शरण नहीं है, ऐसा चिन्तन करना अशरण भावना है।

**लाभ**–अशरण भावना करने वाला साधक किसी से सुख और रक्षा की आशा नहीं करता है, उसकी धर्म पर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है और अर्हत प्रज्ञप्त धर्म की शरण स्वीकार कर लेता है।

**3. संसार भावना–** यह संसार अनगिनत दु:खों से भरा हुआ है। यहाँ जन्म-मरण, रोग-बुढ़ापा, संयोग-वियोग, शीत-उष्ण सभी कुछ दु:खमय है, जिसमें प्राणी क्लेश को प्राप्त हो रहे हैं। इस संसार का स्वरूप विचित्र है। एक

जन्म की माँ दूसरे जन्म में भगिनी हो जाती है, भगिनी भार्या हो जाती है, स्वामी दास और दास स्वामी हो जाता है, ऐसा चिन्तन करना संसार भावना है।

**लाभ**–इस अनुचिन्तन से निर्वेद भाव, विराग उत्पन्न होता है तथा जीव संसार के भय का नाश करने वाले और वास्तविक सुख देने वाले जिन वचनों की ओर उन्मुख होता है।

**4. एकत्व भावना–** यह जीव अकेला उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। अपने शुभाशुभ कर्मों का सञ्चय भी यह अकेला करता है और उन्हें भोगता भी अकेला है। मृत्यु के समय कोई भी साथ नहीं चलता है। स्त्री विलाप करती हुई घर के कोने में बैठ जाती है, माता घर के दरवाजे तक पहुँचाती है, स्वजन और मित्रजन श्मशान तक साथ चलते हैं, शरीर भी चिता में आग लगने पर भस्मीभूत हो जाता है। प्राणी अकेला ही अपने शुभाशुभ कर्मों के साथ परलोक गमन करता है, इस प्रकार का अनुचिन्तन करना संसार भावना है।

**लाभ–** इस भावना से स्वजनों के प्रति रागानुबंध और घरजनों के प्रति द्वेषानुबंध छिन्न हो जाता है। निःसंगता का गुण प्रकट होता है। इस निःसंगता से मुक्तिपथ प्रशस्त होता है।

5. **अन्यत्व भावना**–जगत के समस्त पदार्थों से अपने को अलग मानना और उस भिन्नता का बार-बार विचार करना अन्यत्व भावना है, जैसे शरीर अन्य है, मैं (आत्मा) अन्य हूँ। शरीर इन्द्रिय ग्राह्य है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ।

शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ। शरीर मूर्त है, आत्मा अमूर्त है। शरीर सादि है, आत्मा अनादि है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, भोग, ह्रास और वृद्धि आत्मा के नहीं होते हैं ये तो कर्म के परिणाम हैं। संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने लाखों-लाखों शरीर प्राप्त कर लिये हैं किन्तु मैं वही हूँ और उन सबसे भिन्न हूँ। इस प्रकार 'आत्मा भिन्न, शरीर भिन्न' का चिन्तन करना।

**लाभ**–इस अनुचिन्तन से दैहिक-ममत्व विच्छिन्न होता है और निःश्रेयस प्राप्ति का प्रयत्न सफल होता है।

6. **अशुचि भावना**–शरीर की अशुचिता और विनाशशीलता का चिन्तन करना अशुचि भावना है। जैसे यह शरीर रज और वीर्य जैसे घृणित पदार्थों के संयोग से बना है। यह दुर्गन्धित मल-मूत्र से पूरित, सड़न-गलन-विध्वंसन

स्वभाव से युक्त, रुधिर, मांस, मज्जा, अस्थि आदि अनेक अपवित्र वस्तुओं से निर्मित है।

जैसे नमक की खान में गिरने वाला पदार्थ नमक बन जाता है, उसी तरह जो भी पदार्थ शरीर के संयोग में आते हैं वे अपवित्र बन जाते हैं। यह सुगंधित पदार्थों को भी दुर्गन्धित कर देता है। इस शरीर के नौ द्वारों–आँख, कान, नाक आदि से सदैव गन्दगी बहती रहती है। जिस प्रकार कोयला अपने रंग को नहीं छोड़ता उसी प्रकार शरीर को साबुन से धोने पर भी अपनी दुर्गन्ध का त्याग नहीं करता है।

**लाभ**– अशुचि भावना का चिन्तन करने से शरीर के प्रति निर्वेद भाव उत्पन्न होता है और साधक आत्मोन्मुखी बनता है।

**7. आश्रव भावना–** मन, वचन और काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति के द्वारा कर्मों का आगमन होना आस्रव कहलाता है। कर्मबन्ध का मूल कारण आस्रव है, अत: बन्धन के कारणों पर विचार करना आस्रव भावना है। अशुभ कर्मों का बन्धन 42 कारणों से होता है, क्योंकि कर्म आस्रव के 42 द्वार हैं। आश्रव भावना करने वाले साधक को पाँच अव्रत, पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, तीन योग और पच्चीस क्रिया ऐसे 42 आस्रव द्वारों के स्वरूप का विचार करते हुए उनसे दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे पतंगा रूपासक्ति के कारण दीपक में गिर कर जल जाता है वैसे ही एक-एक इन्द्रिय विषय की आसक्ति भी व्यक्ति को विनष्ट कर देती हैं।

**लाभ**–इस भावना के चिन्तन से जीव अव्रत आदि के दुष्परिणामों को जान लेता है। उसके परिणामस्वरूप व्रतादि ग्रहण करता है। इन्द्रिय और कषायों का दमन करता है, योग का निरोध करता है तथा अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होने हेतु प्रयत्नशील बनता है।

**8. संवर भावना–** जिन क्रियाओं से कर्मों का आना रुक जाता है उसे संवर कहते हैं। अत: आस्रव द्वारों को निरुद्ध करने वाले व्रत, समिति, गुप्ति, परीषह आदि का चिन्तन करना संवर भावना है।

हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि जिस आस्रव को जिन उपायों से रोका जा सके, उसे रोकने के लिए उस-उस उपाय को साधने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को और निस्पृहता से

लोभ को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार तीन गुप्तियों द्वारा तीनों योगों को, अप्रमाद से प्रमाद को, त्याग से अव्रतों को दूर करना चाहिए।[102]

**लाभ**–संवर भावना का चिन्तन करने से साधक क्रियाओं के प्रति रुचिवन्त बनता है और उनका पालन करते हुए सिद्धिपद को समुपलब्ध कर लेता है।

**9. निर्जरा भावना–** जिन कर्मों का बन्ध पहले हो चुका है उनको नष्ट करने के उपायों का विचार करना निर्जरा भावना है। निर्जरा का अर्थ है निर्जरित होना, क्षय होना। निर्जरा भावना के माध्यम से पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षरण होता है।

यह निर्जरा सकाम और अकाम दो तरह से होती है। कर्म क्षय के उद्देश्य से तपस्या आदि करके उनका क्षय करना सकाम निर्जरा है एवं फल देकर कर्मों का स्वभावत: अलग हो जाना अकाम निर्जरा है। जैन ग्रन्थों में कर्म निर्जरा के लिए छह बाह्य और छह आभ्यन्तर बारह प्रकार के तप को आसेवित करने का विधान है, अत: निर्जरा भावना के साधक को यथाशक्ति तप भी करना चाहिए।

**लाभ**–निर्जरा भावना के अनुचिन्तन से आत्मा तप करने हेतु उद्यमशील बनती है और अन्ततोगत्वा कर्मक्षय कर शुद्ध-बुद्ध परिमुक्त बन जाती है।

**10. लोक भावना–** लोक की रचना, आकृति, स्वरूप आदि का विचार करना लोक भावना है। लोक स्वरूप का चिन्तन इस प्रकार करना चाहिए कि यह लोक किसी के द्वारा निर्मित नहीं है। इसका रक्षक और संहारक भी कोई नहीं है। यह अनादिकाल से चला आ रहा है। इस लोक के अग्रभाग पर सिद्ध स्थान है। सिद्ध स्थान के नीचे ऊपर के भाग में स्वर्ग और अधोभाग में नरक है। इसके मध्यभाग में तिर्यञ्चों एवं मनुष्यों का निवास है। लोक के चारों ओर अनन्त आकाश है। इस लोक में आत्मा ज्यों-ज्यों ऊपर की ओर बढ़ती है त्यों-त्यों सुख बढ़ता जाता है। अत: मुझे आत्म विकास के उपायों को अपनाकर लोकाग्र तक पहुँचना है।

**लाभ**–लोक भावना के अनुचिन्तन से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है और चेतना भीतर की ओर स्थिर हो जाती है। चेतना के स्थैर्य से आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति अनायास होने लगती है।

**11. बोधिदुर्लभ भावना–** बोधि का अर्थ है ज्ञान। मुझे जो बोध प्राप्त हुआ है उसका सम्यक् आचरण करना मेरे लिए अत्यन्त दुष्कर है, फिर भी यदि

इस सन्मार्ग का अनुसरण नहीं किया तो पुनः ऐसा बोध प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार का चिन्तन करना बोधिदुर्लभ भावना है। उत्तराध्ययनसूत्र में चार वस्तुओं की उपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ कही गयी है–मनुष्यत्व की प्राप्ति होना, धर्म का श्रवण करना, धर्म पर शुद्ध श्रद्धा करना और संयम मार्ग में पुरुषार्थ करना।[103]

**लाभ**–इस भावना के अनुचिन्तन से बोधिलाभ होता है और उससे प्रमाद का स्वतः परिहार हो जाता है।

**12. धर्म भावना–** वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि धर्म के दस भेद हैं। जीवों की रक्षा करना धर्म है। रत्नत्रय की आराधना करना धर्म है। इसी तरह धर्म के स्वरूप और उसकी आत्मविकास की शक्ति का विचार करना धर्म-भावना है।

यह धर्म निःश्रेयस को प्राप्त कराने वाला है, चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष से बढ़कर सब कुछ प्रदान करने वाला है, यह देवता को भी वश में कर लेता है। इस प्रकार सूक्ष्म स्वरूप का विचार करना ही धर्म भावना है।

**लाभ**–धर्म के गुणों की अनुप्रेक्षा करने से स्वीकृत मोक्षमार्ग की सम्यक आराधना होती है।

वस्तुतः जो आत्मा बार-बार इन भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है उसके कषाय क्षीण हो जाते हैं, आधि और उपाधि शान्त हो जाती है, अन्तःकरण शुद्ध होकर शाश्वत ज्ञान का प्रकाश जगमगाने लगता है।

## भावना के अन्य प्रकार

मुख्य रूप से भावना प्रशस्त-अप्रशस्त दो प्रकार की होती है।

**प्रशस्त–** आवश्यकनिर्युक्ति में प्रशस्त भावना के पाँच प्रकार की निर्दिष्ट हैं– दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वैराग्य।[104] अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएँ, वैराग्य भावना है। पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ, चारित्र भावना है। स्थानांगसूत्र में चारित्र की विशुद्धि हेतु धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएँ बताई गई हैं। धर्म ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं–1. एकत्वानुप्रेक्षा 2. अनित्यानुप्रेक्षा 3. अशरणानुप्रेक्षा 4. संसारानुप्रेक्षा। शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं–1. अनन्तवर्तित अनुप्रेक्षा 2. विपरिणामानुप्रेक्षा 3. अशुभानुप्रेक्षा 4. अपायानुप्रेक्षा।[105]

प्रकारान्तर से आचार्य उमास्वाति[106], आचार्य हरिभद्र[107], आचार्य अमितगति[108] तथा आचार्य हेमचन्द्र[109] ने 1. मैत्री 2. प्रमोद 3. कारुण्य और 4. माध्यस्थ इन चार भावनाओं का उल्लेख किया है।

**अप्रशस्त**–अप्रशस्त भावनाएँ नौ और पाँच प्रकार की बतायी गयी हैं।[110]

1. हिंसानुबन्धी भावना 2. मृषानुबन्धी भावना 3. स्तेयानुबन्धी भावना 4. मैथुन सम्बन्धी भावना 5. परिग्रह सम्बन्धी भावना 6. क्रोधानुबन्धी भावना 7. मानानुबन्धी भावना 8. मायानुबन्धी भावना 9. लोभानुबन्धी भावना।

बृहत्कल्पभाष्य में अशुभ भावनाओं के निम्नोक्त पाँच प्रकार प्रज्ञप्त हैं–1. कन्दर्पी भावना 2. किल्विषी भावना 3. आभियोगी भावना 4. आसुरी भावना 5. सम्मोही भावना।[111]

**तुलना**–उपर्युक्त बारह भावनाएँ साधक को अशुभ ध्यान से हटाकर शुभध्यान में स्थिर करती हैं, संसार से विरक्ति पैदा करती हैं तथा चैतन्य केन्द्र में पवित्र संस्कारों का बीजारोपण करती हैं। यदि इन द्वादश भावनाओं का विकास क्रम की दृष्टि से विचार किया जाये तो जैन आगम साहित्य एवं जैन टीका साहित्य में कहीं भी इनका व्यवस्थित वर्णन नहीं मिलता है, यद्यपि बीज रूप में अनेक स्थलों पर इन भावनाओं का वर्णन है। आगम साहित्य में से विकीर्ण भावनाओं को व्यवस्थित आकार देने का कार्य आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है। उन्होंने इस विषय पर बारसाणुपेक्खा नामक ग्रन्थ रचा है।[112] इसके पूर्व आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में संक्षिप्त और प्रशमरतिप्रकरण में इन बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तृत वर्णन किया है। यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द के और उमास्वाति के वर्णन क्रम में कुछ अन्तर है किन्तु भाव एक सदृश हैं। इसके अनन्तर आचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार[113], आचार्य नेमिचन्द्रकृत बृहद्द्रव्यसंग्रह[114], आचार्य शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव[115] आचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र[116], स्वामीकार्तिकेय रचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा[117], उपाध्याय विनय विजयकृत शान्तसुधारस[118], पण्डित रत्नचन्द्रकृत भावनाशतक[119] आदि में बारह भावनाओं का सम्यक् विवेचन है।

यदि तुलना की दृष्टि से समीक्षा करें तो पूर्वोक्त ग्रन्थों में इनके नाम एवं स्वरूप में पूर्णत: साम्य है। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में क्रम को लेकर किंचित भेद हैं।

## बारह प्रतिमा

'प्रतिमा' शब्द का पारम्परिक अर्थ है–अभिग्रह विशेष धारण करना। एकरात्रि आदि के लिए प्रतिमा की भाँति कायोत्सर्ग आदि साधनाओं में स्थिर रहना, भिक्षु प्रतिमा है अथवा विशिष्ट श्रुत आदि से सम्पन्न मुनि द्वारा किया जाने वाला साधना का विशिष्टतम प्रयोग भिक्षु प्रतिमा कहलाता है। यह साधना शरीरबल एवं मनोबल की अपेक्षा एक महीने से लेकर बारह महीने तक की जाती है। अत: प्रतिमाएँ बारह कही गई हैं।

दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार द्वादश प्रतिमाओं का सामान्य वर्णन इस प्रकार है–

1. मासिकी भिक्षु प्रतिमा 2. द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा 3. त्रैमासिकी भिक्षु प्रतिमा 4. चातुर्मासिकी भिक्षु प्रतिमा 5. पंचमासिकी भिक्षु प्रतिमा 6. छहमासिकी भिक्षु प्रतिमा 7. सप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा 8. प्रथमसप्तरात्रिं दिवा भिक्षु प्रतिमा 9. द्वितीय सप्तरात्रिं दिवा भिक्षु प्रतिमा 10. तृतीय सप्तरात्रिं दिवा भिक्षु प्रतिमा 11. अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा 12. एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा।[120]

**पहली प्रतिमा**–एक मास की प्रतिमा धारण करने वाला भिक्षु सभी प्रकार के उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है। इसी के साथ निम्न आचारों का दृढ़ता से पालन करता है–

**दत्ति**– प्रथम प्रतिमाधारी साधु भोजन और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करते हैं। दाता द्वारा एक बार में एक धार से जितना दिया जाये, वह एक दत्ति कहलाता है।

**भिक्षाचर्या**– पहली प्रतिमा के धारक साधु अज्ञात कुलों से भिक्षा ग्रहण करते हैं, खाने के लिए लेपरहित भोजन लेते हैं। जहाँ एक व्यक्ति भोजन कर रहा हो वहीं से भिक्षा ग्रहण करते हैं, किन्तु द्वयधिक व्यक्ति भोजन कर रहे हों वहाँ से भिक्षा नहीं ले सकते हैं। गर्भवती, बालवत्सा और स्तनपान कराती हुई स्त्री से भिक्षा नहीं ले सकते हैं। दाता एक पैर देहली के बाहर और एक पैर देहली के भीतर करके भिक्षा दे तो ले सकते हैं।

**गोचरकाल**–भिक्षा वेला से पूर्व, मध्य या भिक्षावेला के अतिक्रान्त होने पर इनमें से किसी एक काल में आहार करते हैं।

**गोचराग्र**–गोचरचर्या के छह प्रकारों– पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका,

पतंगवीथिका, शंबूकावर्त्ता, गत्याप्रत्यागता इनमें से किसी एक का संकल्प कर भिक्षा ग्रहण करते हैं।

**प्रवास**– जिस गाँव में कोई जानता हो वहाँ एक रात और कोई नहीं जानता हो वहाँ एक या दो रात रह सकते हैं।

**भाषा**– याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी और पृष्टव्याकरणी ऐसे चार प्रकार की भाषा बोल सकते हैं।

**उपाश्रय**– आरामगृह में, विवृतगृह (चारों ओर की दीवार से रहित किन्तु ऊपर से आच्छादित घर) में और वृक्ष के नीचे–इन तीन प्रकार के उपाश्रयों में रह सकते हैं।

**संस्तारक**– बिछाने के लिए पृथ्वीशिला, काष्ठशिला और घास आदि–इन तीन प्रकार के संस्तारकों का प्रतिलेखन कर उनका उपयोग कर सकते हैं।

**स्त्री-पुरुष**– जिस उपाश्रय में आकर ठहरे हैं, वहाँ स्त्री या पुरुष उनकी ओर आने लगें तो उनके कारण निष्क्रमण नहीं कर सकते।

**अग्नि**–कदाच उपाश्रय में आग लग जाये तो ईर्यापूर्वक चलते हुए बाहर आ सकते हैं किन्तु अन्य का आलम्बन नहीं ले सकते।

**कंटक**–यदि मार्ग में चलते हुए प्रतिमाधारी भिक्षु के पैरों में स्थाणु, कांटा आदि चुभ जाए अथवा आँख में रजकण आदि गिर जाए तो उन्हें निकालते नहीं है।

**विहार**–जहाँ सूर्यास्त हो जाए, वहीं ठहर जाते हैं। उसके बाद एक कदम भी आगे नहीं चलते।

**नींद एवं उत्सर्ग**– सचित्तभूमि के निकट निद्रा नहीं ले सकते हैं और मल-मूत्र के वेग को भी नहीं रोक सकते हैं।

**प्रक्षालन**– प्रासुक जल से हाथ, पैर, आँखें, मुँह आदि नहीं धो सकते, किन्तु शरीर का कोई अंग भोजन आदि से खरडित हो तो उन्हें धो सकते हैं।

**अभय**– शेर, सियार आदि दुष्ट प्राणियों को सामने आते देखकर एक पैर भी पीछे नहीं हटते।

**धूप-छाया**– सर्दी या गर्मी से बचने के लिए छाया से धूप में और धूप से छाया में नहीं जाते हैं।

इस प्रकार एक मासिकी प्रतिमा धारण करने वाले भिक्षु विविध प्रकार के

कठोर नियमों के अनुपालक होते हैं।

**दूसरी से सातवीं प्रतिमा**–द्वैमासिकी भिक्षुप्रतिमा से लेकर सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी मुनि की समग्रचर्या पहली भिक्षुप्रतिमा की तरह ही होती है। केवल दत्ति परिमाण में अन्तर है–द्वैमासिकी में दो दत्ति, त्रैमासिकी में तीन दत्ति, चातुर्मासिकी में चार दत्ति, पंचमासिकी में पाँच दत्ति, षाण्मासिकी में छह दत्ति, सप्तमासिकी में सात दत्तियाँ होती है। इस प्रकार जो प्रतिमा जितने मास की होती है उस प्रतिमाधारी के लिए उतनी ही दत्तियाँ होती हैं।[121]

**आठवीं प्रतिमा**–आठवीं से लेकर बारहवीं भिक्षुप्रतिमा में पूर्व प्रतिमाओं से काल एवं तप की अपेक्षा भेद है, इनमें दत्ति परिमाण नहीं होता है। शेष आचरणा पूर्व प्रतिमाओं के समान ही होती है। विशेष वर्णन इस प्रकार है– आठवीं प्रतिमाधारक मुनि उपसर्गों को सम्यक प्रकार से सहन करता है। सात दिन तक एकान्तर निर्जल उपवास और पारणा में आचाम्ल तप करता है। वह गाँव के बाहर उत्तानशयन, पार्श्वशयन अथवा निषधा आसन की मुद्रा में कायोत्सर्ग करता है। यह प्रतिमा सात अहोरात्रि की होती है।

**नौंवी प्रतिमा**–इस प्रतिमा की आराधना नौंवी प्रतिमा की तरह ही की जाती है, केवल आसनों में नौवीं प्रतिमा के धारक साधु दण्डायतिक, लंगडशयन अथवा उत्कुटुक आसन में स्थित होकर कायोत्सर्ग करते हैं।

**दसवीं प्रतिमा**–इस प्रतिमा की साधना आठवीं प्रतिमा की भाँति समझनी चाहिए। विशेष इतना है कि दसवीं प्रतिमा धारण करने वाले मुनि गोदोहिका, वीरासन या आम्रकुब्ज आसन में स्थिर होकर कायोत्सर्ग करते हैं। यह प्रतिमा सात अहोरात्रि की होती है।

**ग्यारहवीं प्रतिमा**–इस प्रतिमा को स्वीकार करने वाले मुनि समग्रचर्या आठवीं प्रतिमा के समकक्ष करते हैं। विशेष इतना है कि इसमें मुनि दो दिन का निर्जल उपवास कर गाँव के बाहर दोनों पैरों को सटा, दोनों हाथों को प्रलंबित कर कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थिर रहते हैं। इस प्रतिमा का काल एक अहोरात्र है।

**बारहवीं प्रतिमा**–इस प्रतिमा को धारण करने वाले मुनि गाँव के बाहर तीन दिन का निर्जल उपवास कर, तीसरे दिन सम्पूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थिर रहते हैं। कायोत्सर्ग काल में दोनों पैरों को सटा, दोनों भुजाओं को प्रलंबित कर एक पुद्गल पर अनिमेष दृष्टि टिकाते हुए तथा शरीर को कुछ झुकाते हुए

इन्द्रियों को संवृत्त कर स्थिर होते हैं।[122]

## प्रतिमा धारण का फल

दशाश्रुतस्कन्ध में कहा गया है कि एक रात्रि की भिक्षुप्रतिमा का सम्यक अनुपालन करने वाले भिक्षु को अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान अथवा केवलज्ञान समुत्पन्न हो सकता है।[123]

भगवतीसूत्र में वर्णन आता है कि भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था के ग्यारह वर्षीय दीक्षापर्याय में सुंसुमारपुर के अशोकखण्ड उद्यान में अशोकवृक्ष के नीचे पृथ्वीशिला पट्ट पर तीन दिन का उपवास कर एक रात्रि की महाप्रतिमा स्वीकार की थी।[124] अंतकृतदशासूत्र के अनुसार मुनि गजसुकुमाल ने दीक्षा के प्रथम दिन प्रभु अरिष्टनेमि से अनुज्ञा प्राप्त कर महाकाल श्मशान में एक रात्रि की प्रतिमा स्वीकार की थी। वे अनिमेष नयन से शुष्क पुद्गल पर दृष्टि टिकाये खड़े थे। उस संध्या काल में सोमिल ब्राह्मण वहाँ आया, उसने प्रतिशोध की भावना से उपसर्ग किया–पहले आक्रोश वचन कहे, फिर उसने गजसुकुमाल के मस्तक पर गीली मिट्टी की पाल बाँधी और उसमें जलते अंगारे डाले। मुनि उस वेदना को समभाव से सहन करते हुए सर्व कर्मों को क्षीण कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गए।[125]

इस प्रकार पहली प्रतिमा एक मास की, दूसरी प्रतिमा दो मास की, ऐसे सातवीं प्रतिमा सात मास की, आठवीं से दसवीं प्रतिमा सात-सात दिन की, ग्यारहवीं एक अहोरात्र की और बारहवीं एक रात्रि की होती है। इन बारह प्रतिमाओं का कालमान 28 मास और 27 दिन है तथा तप की संख्या में दत्ति 840, उपवास 26, एकभक्त 28 होते हैं।

## प्रतिमाओं के कालमान में अन्तर क्यों?

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि प्रतिमाओं की अवधि में भेद क्यों? तथा पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं से उत्तर-उत्तर की प्रतिमाओं की कालावधि न्यूनाधिक क्यों? जबकि होना यह चाहिए कि साधना की ऊँचाइयों के साथ समयावधि भी बढ़ाई जाए। इसका सीधा सा जवाब है कि यहाँ काल मर्यादा सम्बन्धी अन्तर शारीरिक सामर्थ्यता, मानसिक धैर्यता एवं साधना की अभ्यस्तदशा की अपेक्षा से है। पहली से लेकर सातवीं प्रतिमा तक का कालमान

साधना की ऊँचाइयों को ध्यान में रखते हुए क्रमशः बढ़ाया गया है। उसके बाद तीन प्रतिमाओं का कालमान पूर्वापेक्षा कठिनतर एवं एकसदृश साधना को ध्यान में रखते हुए है। तदनन्तर ग्यारहवीं एवं बारहवीं प्रतिमा का कालमान क्रमशः न्यून होने का कारण शारीरिक संहनन एवं कठिनतम साधना पक्ष की अपेक्षा से है। परमार्थतः पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर प्रतिमाओं को धारण करने वाले मुनि की साधना कठिन होती हैं किन्तु प्रशस्त अध्यवसाय और वेदना में समभाव रखने के कारण वे अल्पावधि में भी महान निर्जरा कर लेते हैं। अतः प्रशस्त भावधारा की अपेक्षा न्यूनाधिक अवधि भी श्रेयस्कारी होती है।

## प्रतिमाधारी की आवश्यक योग्यताएँ

पंचाशकप्रकरण[126] एवं प्रवचनसारोद्धार[127] की मान्यतानुसार भिक्षु प्रतिमा वहन करने वाले मुनि में निम्नोक्त योग्यताएँ होना जरूरी हैं-

1. संहनन युक्त-प्रथम के तीन संहनन में से किसी एक संघयण वाला हो। संहनन दृढ़ हो तो उपसर्गादि शान्तिपूर्वक सहन कर सकता है।
2. धृतियुक्त-धैर्यवान हो। धृतियुक्त आत्मा सम-विषम स्थिति में विचलित नहीं होती।
3. महासत्त्ववान-शक्तिशाली एवं पराक्रमी हो।
4. भावितात्मा-जिसकी चेतना सत्त्व आदि पाँच भावनाओं से ओत-प्रोत हो अथवा प्रतिमा के अनुष्ठान से भावित हो। भावितात्मा साहसपूर्वक साधना कर सकता है।
5. गुरु अनुमत-गुरु से प्रतिमा वहन करने की अनुज्ञा प्राप्त कर चुका हो।
6. परिकर्मी-प्रतिमा स्वीकार करने से पूर्व गच्छ में ही रहकर तद्योग्य क्षमता अर्जित कर चुका हो अथवा आहारादि का अभ्यास कर चुका हो।

परिकर्म दो प्रकार का होता है- आहार परिकर्म और उपधि परिकर्म।

1. **आहार परिकर्म**-पिण्डैषणा के सात प्रकारों में से प्रथम दो प्रकारों को छोड़कर शेष पाँच में से किसी एक प्रकार से अलेपकृत आहार और दूसरे प्रकार से जल ग्रहण करने का अभ्यासी हो।

2. **उपधि परिकर्म**-उपधिग्रहण के सम्बन्ध में चार एषणाए रखने वाला हो। जैसे-

- भिखारी, पाखंडी या गृहस्थ को देने योग्य कल्पनीय सूती-ऊनी या

रेशमी वस्त्र ही ग्रहण करूँगा।

- प्रेक्षित वस्त्र ही ग्रहण करूँगा।
- गृहस्थ द्वारा अपने उपयोग में लिया हुआ वस्त्र ही ग्रहण करूँगा।
- जीर्ण-शीर्ण वस्त्र ही ग्रहण करूँगा।

भिक्षु प्रतिमा का अभ्यासी मुनि अन्तिम दो एषणा से वस्त्र ग्रहण करता है। वस्त्र लेना अति आवश्यक हो और नियम के अनुसार वस्त्र न मिले तो अन्य एषणा से भी ग्रहण कर सकता है, किन्तु अपने नियमानुसार वस्त्र मिल जाने पर उन्हें पूर्वगृहीत वस्त्र का तुरन्त त्याग कर देना चाहिए।

7. श्रुत ज्ञानी–जघन्यत: नवमें पूर्व की आचार वस्तु तक का ज्ञाता हो। इससे न्यून श्रुतवाला योग्य कालादि का ज्ञान नहीं कर सकता है। उत्कृष्टत: कुछ कम दश पूर्व का ज्ञाता हो।
8. व्युत्सृष्टकाय–शारीरिक सेवा की आकांक्षा से रहित हो।
9. त्यक्तकाय–शरीर के ममत्व से रहित हो।
10. उपसर्गसहिष्णु–जिनकल्पी की तरह देवकृत, मनुष्यकृत आदि उपसर्गों को सहने वाला हो।
11. अभिग्रह वाली एषणा लेने वाला–संसृष्टा, असंसृष्टा, उद्धृता, अल्पलेपा, अवगृहीता, प्रगृहीता और उज्झितधर्मा–इन सात प्रकार की एषणाओं (भिक्षाओं) में से प्रारम्भ की दो छोड़कर शेष पाँच में से भी एक पानी की और एक आहार की–इस प्रकार दो एषणाओं का अभिग्रह होता है–ऐसी एषणा लेने वाला हो।
12. अलेप आहार लेने वाला–चिकनाई रहित भोजन लेने वाला हो।
13. अभिग्रहवाली उपधि लेने वाला–प्रतिमाकल्प के अनुरूप एवं अभिग्रह से प्राप्त उपधि ग्रहण करने वाला हो।

आचारदिनकर के अनुसार प्रतिमाधारी मुनि समग्र विद्याओं में निपुण हो, बुद्धिमान हो, वज्रऋषभनाराचसंहनन शरीर वाला हो, महासत्वशाली हो, जिन प्रवचन में सम्यक श्रद्धा रखने वाला हो, सम्यक ज्ञाता हो, स्थैर्य गुण वाला हो, गुरु आज्ञा में तत्पर हो, ज्ञानवान हो, तत्त्ववेत्ता हो, देहासक्ति से रहित हो, धीर हो, जिनकल्पी आचार का पालक हो, परीषह सहिष्णु हो, इन्द्रियजयी हो, गच्छ के ममत्व का त्यागी हो, धातु दोष का प्रकोप होने पर भी काम-भोग की

अभिलाषा करने वाला न हो, नीरस आहार-पानी को ग्रहण करने वाला हो, ऐसा शुद्धात्मा मुनि प्रतिमा धारण के योग्य होता है।[128]

## भिक्षु प्रतिमा के लिए मुहूर्त्त विचार

आचारदिनकर के अनुसार भिक्षु प्रतिमा

मृदु– मृगशीर्ष, चित्रा, अनुराधा और रेवती; ध्रुव– रोहिणी, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपदा; चर– पुनर्वसु, स्वाति, श्रवण, घनिष्ठा और शतभिषा; क्षिप्र– अश्विनी, पुष्य, हस्त और अभिजित

इन नक्षत्रों के अंतर्गत एवं मंगलवार और शनिवार को छोड़कर अन्य वारों में स्वीकार करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त नक्षत्रादि प्रथम बार भिक्षाटन, तप प्रारम्भ, नन्दि विधान एवं लोच आदि कार्यों के लिए भी शुभ माने गये हैं। इसमें साधक का चन्द्रबल अवश्य देखना चाहिए।[129]

## भिक्षु प्रतिमा ग्रहण विधि

पंचाशक प्रकरण[130], प्रवचनसारोद्धार[131] आदि में प्रतिमावहन की विधि इस प्रकार से निर्दिष्ट है–सर्वप्रथम पूर्व गुणों से सम्पन्न मुनि आचार्य की अनुज्ञा प्राप्त करें। यदि आचार्य प्रतिमा वहन करने वाले हों तो वे अपने स्थान पर किसी योग्य व्यक्ति को स्थापित कर तथा शुभ दिन में गच्छवासी सभी मुनियों को आमन्त्रित कर उनसे क्षमायाचनापूर्वक प्रतिमा स्वीकार करें। प्रतिमा वाहक साधु पदधारी न हों तब भी आबालवृद्ध संघ के साथ यथायोग्य क्षमापना करें। जिनके साथ वैमनस्य या वैर विरोध हो, उन्हें विशेष रूप से यह कहते हुए क्षमायाचना करे कि 'मेरे द्वारा प्रमादवश किसी तरह का कटु व्यवहार किया गया हो, तो मैं आज नि:शल्य एवं निष्कषाय होकर उसके लिए क्षमा माँगता हूँ।' इतना कहने के पश्चात सम्पूर्ण गच्छ का परित्याग कर दें।

पहली प्रतिमा की साधना पूर्ण हो जाने के पश्चात, यदि प्रतिमाधारी पुन: गच्छ में सम्मिलित होना चाहता है तो आचार्य से निवेदन करें। तब आचार्य उसके पुनरागमन की जानकारी प्राप्त कर राजा एवं संघ से यह कहते हैं कि 'प्रतिमा जैसे महान तप की साधना करने वाला मुनि यहाँ आ रहा है।' यह सुनकर राजा, श्रेष्ठी आदि सकल संघ सम्मिलित होकर महोत्सव-पूर्वक नगर में प्रवेश करवाते हैं।

**तुलना–** जैन परम्परा में भिक्षावृत्ति से आहार प्राप्त करने वाले साधुओं को

भिक्षु कहा गया है। विशिष्ट संहनन और श्रुतधर मुनियों के द्वारा संयम विशेष की साधना करने के लिए जिन कठोर अभिग्रहों को स्वीकार करते हैं, उन्हें भिक्षुप्रतिमा कहा जाता है तथा अभिग्रह विशेष की प्रतिज्ञा धारण करने वाले मुनि को प्रतिमाधारी कहते हैं।

जैन साहित्य में बारह प्रतिमाओं का वर्णन सर्वप्रथम समवायांगसूत्र में मिलता है।[132] इसमें बारह प्रतिमाओं के नामोल्लेख मात्र की ही चर्चा है। इसके अनन्तर यह उल्लेख भगवतीसूत्र[133] में भी सामान्य रूप में प्राप्त होता है। इसके पश्चात दशाश्रुतस्कन्धसूत्र[134] में इसकी विस्तृत चर्चा परिलक्षित होती है। तदनन्तर यह वर्णन आवश्यकनिर्युक्ति[135] आचार्य हरिभद्रसूरिकृत पंचाशक[136], आचार्य नेमिचन्द्रसूरिकृत प्रवचनसारोद्धार[137], आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर[138] आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों का सर्वाङ्गीण अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि भिक्षु प्रतिमा की सविस्तृत चर्चा सर्वप्रथम दशाश्रुतस्कन्ध में की गई है। तत्पश्चात पंचाशकप्रकरण में प्रतिमा विषयक मत-मतान्तर भी प्रस्तुत किये गये हैं तथा किञ्चिद् विषयों को शंका-समाधानपूर्वक स्पष्ट किया गया है। प्रवचनसारोद्धार टीका में भी कुछ विशेष बातें कही गई हैं। इसके अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका सामान्य स्वरूप ही निरूपित है।

यदि भिक्षु प्रतिमाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो इनके नाम, क्रम, काल एवं स्वरूप की अपेक्षा सभी में लगभग साम्य है किन्तु तप के सम्बन्ध में निर्जल एवं सजल को लेकर कुछ आचार्यों में मतभेद हैं।

इस दुषम काल में संहनन की दौर्बल्यता, शारीरिक असमर्थता, धैर्य बल एवं परीषह की असहिष्णुता के कारण प्रतिमाओं को वहन करना दुष्कर है, अत: वर्तमान में भिक्षु प्रतिमा धर्म प्राय: व्युच्छिन्न हो चुका है। यद्यपि आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जो साधु प्रतिमाकल्प को स्वीकार नहीं कर सकते उन्हें भी गीतार्थ मान्य एवं शासन प्रभावक अभिग्रहों को और विशिष्ट होने के कारण शासन प्रभावना का हेतु हो, ऐसे अभिग्रहों को मनसा और कर्मणा स्वीकारना चाहिए जैसे– ठण्ड आदि को सहन करना, उत्कट आसन पर बैठना आदि। यदि शक्ति होने पर भी मद और प्रमाद के वशीभूत होकर अभिग्रह धारण नहीं करते हैं तो अतिचार लगता है।

अत: आत्म शुद्धि के लिए इस तरह के अतिचारों को भी गुरु के समक्ष प्रकाशित कर आलोचना करनी चाहिए।

## पाँच इन्द्रिय निरोध

शरीर के वे अवयव जिनके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं- 1. ज्ञानेन्द्रिय और 2. कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच होती हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार मन भी ज्ञानेन्द्रिय है। इन पाँच इन्द्रियों के शुभाशुभ विषयों में राग-द्वेष नहीं करना इन्द्रिय संयम है।

जैन दर्शन में पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय बताये गये हैं।

1. **स्पर्शेन्द्रिय**-(सम्पूर्ण शरीर) इसके आठ विषय हैं-1. कठोर 2. कोमल 3. हल्का 4. भारी 5. शीत 6. उष्ण 7. स्निग्ध 8. रुक्ष।

2. **रसनेन्द्रिय** (जीभ) के पाँच विषय हैं- 1. तीखा 2. कड़वा 3. कषैला 4. खट्टा 5. मीठा।

3. **घ्राणेन्द्रिय**-(नासिका) के दो विषय हैं- 1. सुगन्ध और 2. दुर्गन्ध।

4. **चक्षुरिन्द्रिय** (चक्षु) के पाँच विषय हैं- 1. काला 2. नीला 3. लाल 4. पीला 5. सफेद।

5. **श्रोतेन्द्रिय** (कान) के तीन विषय हैं- 1. जीव 2. अजीव और 3. मिश्र।

इन्द्रियों के इन तेईस विषयों पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

**तुलना-** संसारी प्राणी के लिए इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति का सशक्त माध्यम हैं। इनकी स्वतन्त्र चर्चा सर्वप्रथम स्थानांगसूत्र में हुई है।[139] तदनन्तर इसका उल्लेख प्रज्ञापनासूत्र[140], प्रवचनसारोद्धार[141] आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

## पच्चीस प्रतिलेखना

वस्त्र, पात्र आदि का सावधानीपूर्वक एवं विधिपूर्वक निरीक्षण करना प्रतिलेखना कहलाता है। शरीर, पात्र, वसति, स्थण्डिल भूमि आदि कुछ वस्तुएँ प्रतिलेखनीय और प्रमार्जनीय उभय रूप होती हैं तथा वस्त्र आदि कुछ वस्तुएँ केवल प्रतिलेखनीय ही होती हैं।

प्रतिलेखन विधि की स्वतन्त्र चर्चा अध्याय-6 में आगे करेंगे।

## तीन गुप्ति

गुप्ति का शाब्दिक अर्थ है-रक्षा। जैन आगम के अनुसार गुप्ति के निम्न

अर्थ भी हैं–

- अशुभ विषयों से निवृत्त होना गुप्ति है।[142]
- सम्यक रूप से मन, वचन और काय योग का निग्रह करना गुप्ति है।[143]
- आगमोक्त विधि से प्रवृत्ति करना तथा उन्मार्ग से निवृत्त होना गुप्ति है।[144]
- मोक्षाभिलाषी आत्मा के द्वारा आत्मरक्षा के लिए अशुभ योगों को रोकना गुप्ति है।[145]

अशुभ प्रवृत्ति को रोकने के तीन साधन इस प्रकार हैं–

1. **मनोगुप्ति**–संरम्भ (अशुभ संकल्प), समारम्भ (परपीड़ाकारी प्रवृत्ति) और आरम्भ (पर प्राणापहारी प्रवृत्ति) सम्बन्धी संकल्प-विकल्प नहीं करना, मध्यस्थ भाव रखना मनोगुप्ति है।[146]

**लाभ**–मनोगुप्तता से जीव की एकाग्रता बढ़ती है। एकाग्र चित्तवाला जीव अशुभ संकल्पों से मन की रक्षा करने वाला और संयम की आराधना करने वाला होता है।[147]

2. **वचन गुप्ति**–संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी अशुभ वचन का त्याग करना अथवा विकथा नहीं करना वचन गुप्ति है।[148]

**लाभ**–वचन गुप्ति के प्रयोग से निर्विचार भाव का उदय होता है, निर्विचारता से चित्त एकाग्र होता है और चित्त की एकाग्रता से आध्यात्मिक गुणों का विकास होता है।[149]

3. **कायगुप्ति**–संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी कार्यों के लिए खड़ा होना, उठना, चलना आदि कायिक प्रवृत्ति नहीं करना अथवा अशुभ कायिक व्यापार का त्याग करना कायगुप्ति है।[150]

**लाभ**–कायगुप्ति से संवर होता है तथा संवर के द्वारा कायिक स्थिरता में अभिवृद्धि होती है। फलतः वह जीव पापकर्म के आने के द्वारों का निरोध कर देता है।[151]

**तुलना–** मन, वचन और काया की अकुशल प्रवृत्तियों का निग्रह करना और उनका कुशल प्रवृत्तियों में संयोजन करना गुप्ति है। यह विवेचन सर्वप्रथम स्थानांगसूत्र[152] में देखा जाता है। इसमें गुप्तियों के नामनिर्देश मात्र हैं। इस विषय में विस्तृत चर्चा उत्तराध्ययनसूत्र में की गई है।[153] यदि परवर्ती साहित्य का

अवलोकन किया जाए तो तत्त्वार्थसूत्र[154], प्रवचनसारोद्धार[155] आदि ग्रन्थों में भी इस विषय का निरूपण है।

## चार अभिग्रह

भिक्षा ग्रहण आदि से सम्बन्धित विशिष्ट प्रतिज्ञा धारण करना और किसी नियम को उत्कृष्ट रूप से अवधारित करना अभिग्रह कहलाता है।

अभिग्रह चार प्रकार से होता है-

1. **द्रव्य विषयक**-आज मैं अमुक वस्तु ही ग्रहण करूँगा, अमुक व्यक्ति आदि के देने पर ही ग्रहण करूँगा। जैसे भगवान महावीर ने कौशांबी में प्रतिज्ञा ली थी-सूपड़े के कोने में रखे हुए उड़द के बाकुले ही भिक्षा में ग्रहण करूँगा। यह द्रव्य अभिग्रह है।

2. **क्षेत्र विषयक**-ऋजु आदि आठ प्रकार की गोचर भूमियों में से किसी एक का संकल्प ग्रहण कर भिक्षा लूँगा। अपने गाँव अथवा दूसरे गाँव के इतने घरों में भिक्षार्थ प्रवेश करूँगा। जैसे कि भगवान महावीर का क्षेत्र सम्बन्धी यह अभिग्रह था-दाता का एक पैर देहली के भीतर और एक पैर बाहर होगा तो भिक्षा लूँगा। यह क्षेत्र अभिग्रह है।

3. **काल विषयक**-भिक्षा काल के आदि, मध्य या अवसान में भिक्षा ग्रहण करूँगा-ऐसी प्रतिज्ञा करना। जैसे-प्रभु महावीर का संकल्प था कि भिक्षा का काल अतिक्रान्त हो चुकने के बाद भिक्षा ग्रहण करूँगा। यह काल अभिग्रह है।

4. **भाव विषयक**-अमुक अवस्था में भिक्षा लूँगा अथवा गाता हुआ, रोता हुआ, सम्मुख आता हुआ व्यक्ति देगा तो भिक्षा लूँगा। जैसे प्रभु महावीर का भावाभिग्रह था कि राजकुमारी हो, दासी हो, हाथ-पैरों में बेड़ियाँ हो, मुण्डित सिर हो, आँखों में अश्रुधारा और तीन दिन की भूखी हो उस कन्या के हाथ से भिक्षा लूँगा, अन्यथा नहीं। यह भाव अभिग्रह है।

**तुलना-** अभिग्रह श्रमण जीवन की अभिन्न साधना है। जैनागमों में एतद्विषयक सुव्यवस्थित चर्चा टीका साहित्य में प्राप्त होती है। बृहत्कल्पभाष्य आदि में इसका सुन्दर वर्णन किया गया है।[156] तदनन्तर परवर्ती आचार्यों के पंचवस्तुक[157], प्रवचनसारोद्धार[158] आदि में यह चर्चा पढ़ने को मिलती है। आगमिक प्रमाणों से यह भी अवगत होता है कि करण सत्तरी का यह उपभेद

तीर्थंकर पुरुषों द्वारा भी आचरणीय होता है।

इस प्रकार करण सत्तरी में 4 प्रकार की पिण्डविशुद्धि + 5 समिति + 12 भावना + 12 प्रतिमा + 5 इन्द्रिय निरोध + 25 प्रतिलेखना + 3 गुप्ति + 4 अभिग्रह = 70 भेद होते हैं।

## वर्तमान परिप्रेक्ष्य में करण सत्तरी की उपादेयता

साधु जीवन के मूल नियमों का अध्ययन करते हुए यदि करण सत्तरी का अनुशीलन किया जाए तो ज्ञात होता है कि इन नियमों का पालन विशेष परिस्थिति में किया जाता हैं।

व्यक्तिगत जीवन में यदि इनके प्रभाव को देखा जाए तो पिण्डविशुद्धि के माध्यम से निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र एवं शय्या का ध्यान रखा जाता है तथा इनकी शुद्धता भाव विशुद्धि का कारण बनती है। पाँच समिति के पालन के माध्यम से कार्य में अप्रमत्तता, विवेकबुद्धि आदि को जागृत किया जा सकता है। बारह भावनाओं के चिन्तन के द्वारा विकट परिस्थितियों में भी आत्म समाधि एवं सद्भावों का विकास किया जा सकता है। पाँच प्रकार के इन्द्रिय निग्रह के द्वारा इन्द्रियों के तेईस विषयों पर नियन्त्रण करते हुए इन्द्रिय विजय की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। भिक्षु की बारह प्रतिमाओं को धारण कर साधक विविध उपसर्गों को सहन करते हुए तथा विविध अभिग्रहों का पालन करते हुए अपने आपको कष्ट सहिष्णु बनाता है। पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना का पालन करने से सभी जीवों की जयणा के साथ स्वयं में निरीक्षण वृत्ति का विकास होता है तथा सावधानी पूर्वक उपयोग करने से स्वयं की तथा अन्य सूक्ष्म विषाक्त जीवों की रक्षा होती है। गुप्तित्रय की साधना के द्वारा साधक मन-वचन-काया की एकाग्रता साध सकता है। भिक्षा से सम्बन्धित चार अभिग्रहों के ग्रहण से व्यक्ति का संकल्पबल मजबूत होता है।

यदि सामाजिक संदर्भ में करण सत्तरी की उपादेयता पर चिन्तन किया जाए तो पिण्डविशुद्धि के माध्यम से समाज में साध्वाचार का प्रसार होता है तथा साधु के विशुद्ध जीवन एवं नियम पालन की कटिबद्धता से समाज में भी मजबूती एवं दृढ़ता आती है। पाँच समिति के पालन से समाज को विवेकपूर्ण आचरण का सन्देश मिलता है। बारह भावना के चिन्तन एवं उपदेश आदि श्रवण से विरक्ति के भाव उत्पन्न होते हैं तथा संसार के सही स्वरूप का ज्ञान होता है।

बारह प्रतिमाधारी साधक मुनि निस्पृहता, वीतरागता और अनासक्ति के स्वरूप का दर्शन करवाता है इससे समाज में जैन धर्म की गरिमा बढ़ती है। इन्द्रिय निग्रही मुनि इन्द्रिय लोलुपी लोगों को सन्मार्ग दिखा सकता है। प्रतिलेखना करने वाला मुनि समाज में जागरूकता का सन्देश देते हैं। तीन गुप्ति के परिपालन के द्वारा समाज में एकाग्रता एवं निष्ठा का सन्देश प्रसरित होता है।

यदि प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में करण सत्तरी का मूल्यांकन किया जाए तो चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि के माध्यम से मुनि मनुष्य जीवन की दैनिक आवश्यकताओं जैसे- आहार, वस्त्र, शयन और पात्र इन चारों की आसक्ति एवं लोभ वृत्ति पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। पंच समिति के माध्यम से प्रत्येक कार्य में अपनी शक्ति को सीमित एवं उसका सदुपयोग करते हुए आत्मिकवीर्य एवं समय का नियोजन करता है। इसी के साथ प्रत्येक कार्य में विवेक एवं कर्त्तव्यबुद्धि रखने के कारण समाज पर अनावश्यक भार रूप नहीं बनता। बारह भावना के चिन्तन से वस्तु स्वरूप का सही ज्ञान कर उसकी आसक्ति में अन्धा नहीं बनता तथा सांसारिक परिस्थितियों में भी वह अपने आपको नियन्त्रित कर लेता है। बारह प्रकार की प्रतिमा साधना के द्वारा प्रतिकूल परिस्थितियों में रहने की कला का विकास होता है। इसी के साथ स्वनियन्त्रण और भय विमुक्ति होती है। इन्द्रिय निग्रह के द्वारा इन्द्रिय प्रबन्धन एवं नियन्त्रण साधते हुए प्रत्येक कार्य में सफलता अर्जित की जा सकती है। प्रतिलेखना के द्वारा दृष्टि सम्यक एवं तीक्ष्ण बनती है जिससे किसी भी वस्तु का लेन-देन करने या खरीदने में समय का अपव्यय नहीं होता। गुप्ति त्रय की साधना के द्वारा सम्पूर्ण नियन्त्रण एवं एकाग्रता में वृद्धि करते हुए अनेक दुष्कर कार्य भी साधे जा सकते हैं तथा मानसिक कषायों पर नियन्त्रण किया जा सकता है। चार अभिग्रहों के द्वारा किसी भी प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि में साधक स्वयं को अनुकूल बना लेता है। इस प्रकार मुख्य रूप से करण सत्तरी के द्वारा इस जीवन का नियन्त्रण एवं प्रबन्धन किया जा सकता है।

यदि आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में करण सत्तरी के नियमों की उपादेयता को देखा जाए तो निम्न तथ्य प्रकट होते हैं-

चार प्रकार की पिण्ड विशुद्धि के द्वारा अति आहार, अल्पाहार, विषाक्त या अशुद्ध भोजन के कारण होने वाली बीमारियों पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा

सकता है। इसी प्रकार वस्त्र, पात्र एवं शय्या के कारण भी आज कई समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। बढ़ती इच्छाओं के कारण उनके उत्पादन की वृद्धि हेतु प्रकृति का अतिदोहन हो रहा है, पिण्ड विशुद्धि इन पर नियन्त्रण करवा सकती है। पाँच समिति पालन के द्वारा प्रत्येक कार्य में जागरूकता एवं सावधानी की वृद्धि होती है। इससे बढ़ती दुर्घटनाओं, वचनयुद्ध, कचरे की समस्या (Garbage Problem) आदि का समाधान प्राप्त हो सकता है। बारह भावनाओं का चिन्तन सामाजिक विद्वेष एवं प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर सकता है। बारह प्रतिमा की साधना के द्वारा मानसिक एवं सांकल्पिक मनोबल को मजबूत किया जा सकता है। पाँच प्रकार की इन्द्रियों का निग्रह करके इन्द्रिय अनियन्त्रण के कारण उत्पन्न होने वाली कई समस्याएँ जैसे– इन्द्रिय चंचलता, कामुकता आदि का निराकरण संभव है। पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना के द्वारा हड़बड़ी एवं लापरवाही के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान प्राप्त हो सकता है। मन, वचन एवं काया के विषयों एवं चंचलता को समाप्त करने का मार्ग जहाँ गुप्ति साधना से मिल सकता है वहीं चार प्रकार के अभिग्रह के द्वारा विषम परिस्थितियों में उत्पन्न होती आकुलता-व्याकुलता को शान्त किया जा सकता है।

## जैन श्रमण की अहोरात्र चर्या विधि

आगम सम्मत परम्परा के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि की दिवस सम्बन्धी सामाचारी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि दिन के चार भाग किए जाएं। उसमें मुनि प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में भिक्षाचरी और चौथे प्रहर में पुन: स्वाध्याय करें।[159]

इन प्रहरों के अन्तर्गत भी आवश्यक क्रियाओं का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि दिन के प्रथम प्रहर के प्रारम्भिक चतुर्थ भाग में उपकरणों की प्रतिलेखना करें। फिर पौन पौरुषी बीतने तक स्वाध्याय करें। उसके पश्चात पात्रों की प्रतिलेखना करें।

इसी क्रम में दिन के चौथे प्रहर के प्रारम्भ में पात्रादि की प्रतिलेखना कर उन्हें बांधकर रख दें, फिर स्वाध्याय करें। उसके पश्चात चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में स्थण्डिल भूमि, शय्या भूमि आदि की प्रतिलेखना कर दैवसिक प्रतिक्रमण करें।[160]

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिक्रमण विधि छह आवश्यक तक ही उपदिष्ट की गई है।[161]

इस सूत्र में रात्रि सम्बन्धी सामाचारी का वर्णन करते हुए बताया गया है कि साधु-साध्वी रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा और चतुर्थ प्रहर में पुन: स्वाध्याय करें।[162]

इसी क्रम में यह भी कहा गया है कि अन्तिम प्रहर के मध्य भाग में स्वाध्यायार्थ प्राभातिक कालग्रहण करें तथा चतुर्थ भाग में रात्रिक प्रतिक्रमण का समय ज्ञात कर वह विधि सम्पन्न करें।[163]

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि मुनि को दिन के प्रथम एवं अन्तिम तथा रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम इन चार प्रहरों में स्वाध्याय करना चाहिए, दिन और रात्रि के दूसरे प्रहरों में ध्यान तथा दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षाटन आदि शारीरिक क्रियाएँ और रात्रि के तीसरे प्रहर में निद्रा लेनी चाहिए।

परवर्ती आचार्यों के अनुसार साधु-साध्वी रात्रि पूर्ण होने में चार घड़ी (लगभग डेढ़ घण्टा) शेष रहे, तब परमेष्ठी मन्त्र का स्मरण करते हुए निद्रा से उठें। उसके बाद मैंने क्या किया है? मेरे लिए क्या करना शेष है? मैं क्या करने में समर्थ हूँ? इस तरह कुछ पलों तक आत्मस्वरूप का चिन्तन करें।[164]

- तत्पश्चात लघुनीति की शंका हो तो संस्तारक से उठें। फिर दण्डासन से शय्या की प्रतिलेखना और पैरों का प्रमार्जन करके प्रस्रवण (मूत्र परिष्ठापन) भूमि तक जाएँ। फिर प्रस्रवण भूमि को दण्डासन से प्रतिलेखित कर एक पात्र में मूत्र का त्याग करें। फिर वसति के बाहर स्थण्डिल भूमि पर उसका विधिपूर्वक उत्सर्ग करें। फिर संस्तारक भूमि के समीप आकर पूर्व सन्ध्या में प्रतिलेखित काष्ठ के आसन पर या पादप्रोंछनक को बिछाकर उस पर बैठ जायें।[165]
- तत्पश्चात ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करके रात्रिकृत पापों की आलोचना करें। फिर शक्रस्तव का पाठ बोलकर चैत्यवन्दन करें। फिर रात्रिकाल में दु:स्वप्न आया हो तो उसकी विशुद्धि के लिए सत्ताईस श्वासोच्छवास का कायोत्सर्ग करें।[166]
- फिर तिलकाचार्य सामाचारी के अनुसार गुरु एवं ज्येष्ठ साधुओं को वन्दन करें। फिर गुरु से आदेश लेकर स्वाध्याय करें।[167]
- आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के मतानुसार कायोत्सर्ग पूर्णकर चतुर्विंशतिस्तव बोलें। उसके बाद 'इच्छामि पडिक्कमिउं पगाम सिज्झाए' से

लेकर 'राईयो अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं' तक का पाठ बोलें। फिर धीमें स्वर से स्वाध्याय करें। फिर रात्रि की एक घड़ी (24 मिनिट) शेष रहने पर रात्रि प्रतिक्रमण करें।

• उसके बाद सूर्योदय होने पर मुखवस्त्रिका-चोलपट्टक आदि उपधि की एवं वसति की प्रतिलेखना करें। • फिर प्रथम प्रहर समाप्त न होने तक गुरु के समक्ष स्वाध्याय मण्डली में बैठकर स्वाध्याय करें। स्वाध्याय में धर्म का उपदेश दें, शिष्यों को सूत्र का पाठ दें, स्वयं भी सूत्र पढ़ें, धार्मिक शास्त्र लिखने-लिखवाने का कार्य करें।[168]

• प्रथम प्रहर बीतने पर पौरुषी विधि (उग्घाड़ा पौरुषी) करें। फिर उपाश्रय से निकलते समय 'आवस्सही' तथा जिनालय में प्रवेश करते समय 'निसीहि' शब्द का उच्चारण करते हुए जिनालय में चार या आठ स्तुतिपूर्वक देववन्दन करें। फिर वसति (उपाश्रय) में लौटकर ईर्यापथिक (आवगमन में लगे दोषों का) प्रतिक्रमण करें, फिर ध्यानादि शुभ प्रवृत्ति करें।[169]

• तदनन्तर भिक्षाकाल समुपस्थित हो जाने पर तिलकाचार्य सामाचारी के अनुसार मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें, आचारदिनकर के मत से शक्रस्तव पूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर प्रत्याख्यान पूर्ण करें। फिर ओघनिर्युक्ति एवं पंचवस्तुक में उल्लिखित विधि के अनुसार पात्रोपकरणों की प्रतिलेखना करें। फिर उपयोग विधि करके भिक्षा हेतु प्रस्थान करें। वर्तमान में लगभग प्रथम प्रहर के अन्तर्गत सज्झाय विधि एवं उपयोग विधि कर लेते हैं।

• पिण्डनिर्युक्ति एवं पिण्डविशुद्धि ग्रन्थों के अनुसार निर्दोष आहार प्राप्त होने पर भिक्षाटक मुनि 'निसीहि-3 नमो खमासमणाणं गोयमाईणं महामुणीणं' शब्द बोलते हुए वसति में प्रवेश कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें, गुरु के समक्ष गोचरी में लगे हुए दोषों की आलोचना करें, गुरु को आहार दिखाएं, फिर गोचरचर्या प्रतिक्रमण करें। एक घड़ी भर स्वाध्याय करें।

• तत्पश्चात सर्व साधुओं को निमन्त्रित कर भोजन मण्डली बनाकर आहार ग्रहण करें, पात्र धोयें तथा चैत्यवन्दन करें।

• बड़ीनीति की शंका होने पर विधिपूर्वक स्थण्डिल भूमि पर जायें। शरीर क्रिया से निवृत्त होकर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाएं।[170]

• चतुर्थ प्रहर पूर्ण होने में एक घड़ी शेष रहे तब तक स्वाध्याय करें। फिर

अंग-उपधि-वसति एवं स्थण्डिलभूमि की प्रतिलेखना करें। यहाँ स्थण्डिल योग्य चौबीस स्थानों की प्रतिलेखना करें। उसके बाद दैवसिक प्रतिक्रमण करें।

- प्रतिक्रमण क्रिया पूर्ण होने पर गुरु की शुश्रुषा करें, मौखिक स्वाध्याय करें अथवा पृच्छना, अनुप्रेक्षा आदि स्वाध्याय करें।
- परवर्ती परम्परा के निर्देशानुसार रात्रि का प्रथम प्रहर बीत जाने पर संथारा पौरुषी की विधि करें और उपयोगपूर्वक संस्तारक पर लेट जायें। जब तक निद्रा न आये स्वाध्याय में निमग्न रहें।[171]
- तृतीय प्रहर में मुनि निद्रा लें।
- रात्रि के चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करें। रात्रिकृत दुश्चेष्टाओं या दुर्विचारों का कायोत्सर्गपूर्वक शुद्धिकरण करें तथा रात्रिक प्रतिक्रमण करें।

यहाँ अहोरात्र चर्या विधि संक्षेप में कही गई है।

**तुलना–** जैन श्रमण की समग्र आचार संहिता अहोरात्रिक चर्या विधि पर आधारित है। यदि हम मूल आगमों का अनुशीलन करते हैं तो मुनि के लिए करणीय-अकरणीय का उल्लेख कई जगह मिलता है परन्तु दैनिक जीवन का एक सुव्यवस्थित क्रम उत्तराध्ययनसूत्र के सिवाय और कहीं देखने में नहीं आया है। इसमें भी मुनि की दैनिकचर्या के प्रत्येक पहलू को उजागर न करते हुए उन्हें प्रहरों के क्रम से विभाजित किया गया है। इस प्रकार उद्भव की दृष्टि से यही कहा जायेगा कि मुनि की अहोरात्रचर्या विधि का वर्णन सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध है। तदनन्तर इसकी विस्तृत चर्चा पंचवस्तुक के दूसरे अध्याय 'प्रतिदिन क्रिया' में प्राप्त होती है। तत्पश्चात तिलकाचार्य सामाचारी, आचारदिनकर, साधुविधिप्रकाश आदि में यह वर्णन सामान्य रूप से मिलता है।

दिगम्बर परम्परा के भिक्षु एवं भिक्षुणियों की दिनचर्या का क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त नहीं होता है यद्यपि उभयकालिक षडावश्यक कर्म, चैत्यवन्दन, स्वाध्याय, ध्यान आदि अनेक क्रियाएँ दोनों सम्प्रदायों में नियत समय पर ही की जाती हैं। अध्ययनकाल, अनध्ययनकाल, संलेखना आदि के नियम भी दोनों में प्राय: समान हैं।

बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी के दैनिक कर्म अवश्य होते हैं किन्तु उनकी क्रमबद्ध दिनचर्या का विवेचन पढ़ने में नहीं आया है। जिस प्रकार जैन साधु-साध्वी के लिए प्रतिलेखना, आलोचना, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि दिनचर्या के आवश्यक

अंग माने गये हैं उसी तरह बौद्ध संघीय भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए भी प्रवारण करना, उपोषथ करना, उपदेश सुनना आदि उनके संन्यास जीवन के आवश्यक अंग हैं।

## उग्घाड़ा पौरुषी की विधि

**पौरुषी का अर्थ–** उग्घाड़ा पौरुषी का पारम्परिक अर्थ है–दिन के एक प्रहर जितना समय पूर्ण हो जाना अथवा दिन के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग का प्रकट होना।

पुरुष शब्द से पौरुषी बना है। पुरुष शब्द के दो अर्थ हैं–1. पुरुष शरीर और 2. शंकु। पुरुष शरीर या शंकु से जिस काल का माप होता हो, वह पौरुषी है।[172]

सूर्योदय होने के पश्चात पुरुष के शरीर प्रमाण जितनी छाया आ जाये उस काल को पौरुषी काल कहते हैं।[173]

**पौरुषी का कालमान–** पुरुष प्रमाण छाया का काल भी पौरुषी कहलाता है। तद्नुसार दिवस अथवा रात्रि का चौथा भाग पौरुषी कहलाता है। इसे प्रहर भी कहते हैं। पौरुषी का कालमान अनियत होता है। दिन-रात की वृद्धि-हानि के आधार पर इसके कालमान का निश्चय किया जाता है। मकर संक्रान्ति के दिन दिवस सम्बन्धी पौरुषी का जघन्य मान तीन मुहूर्त्त (छह घटिका = 2 घण्टे 24 मिनिट) का होता है और रात्रि पौरुषी का उत्कृष्ट मान साढ़े चार मुहूर्त्त (नौ घटिका = 3 घण्टे 36 मिनिट) का होता है। इसके बाद से सूर्य दक्षिणायन होता है। कर्क संक्रान्ति के दिन दिवस सम्बन्धी पौरुषी का उत्कृष्ट मान साढ़े चार मुहूर्त्त का होता है और रात्रि पौरुषी का जघन्यमान तीन मुहूर्त्त (छह घटिका = 2 घण्टे 24 मिनिट) का होता है। इस संक्रान्ति के पश्चात सूर्य उत्तरायण होता है। पौरुषी की छाया दक्षिणायन में प्रतिदिन बढ़ती है और उत्तरायण में प्रतिदिन घटती है। सामान्यतया वर्ष में दो अयन होते हैं–दक्षिणायन और उत्तरायण। दक्षिणायन श्रावण मास से प्रारम्भ होता है और उत्तरायण माघ मास से।

शंकु 24 अंगुल प्रमाण होता है और पैर से जानु तक का परिमाण भी 24 अंगुल है। जिस दिन किसी भी वस्तु की छाया उसके प्रमाणोपेत होती है वह उत्तरायण का अन्तिम दिन और दक्षिणायन का प्रथम दिन होता है। सामान्यतया

प्रतिदिन $\frac{1}{122}$ मुहूर्त्त पौरुषी बढ़ती एवं घटती है तथा एक अयन में 183 अहोरात्र होते हैं। इसलिए एक अयन में $183 \times \frac{1}{122} = \frac{3}{2} = 1\frac{1}{2}$ मुहूर्त्त कालमान बढ़ता है।

इस प्रकार तीन मुहूर्त्त की जघन्य पौरुषी में $1\frac{1}{2}$ मुहूर्त्त मिलाने पर पौरुषी का उत्कृष्ट कालमान $4\frac{1}{2}$ मुहूर्त्त होता है।[174]

**प्रत्येक माह का पौरुषी काल**– प्रत्येक महीने का पौरुषी काल इस प्रकार ज्ञातव्य है–

एक पाद = 12 अंगुल
दो पाद = 24 अंगुल
तीन पाद = 36 अंगुल
चार पाद = 48 अंगुल

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद–इन तीन मास में दो पाद प्रमाण, आश्विन, कार्तिक, मृगशीर्ष–इन तीन मास में तीन पाद प्रमाण, पौष मास में चार पाद प्रमाण, पुन: माघ, फाल्गुन, चैत्र–इन तीन मास में तीन पाद प्रमाण तथा वैशाख-ज्येष्ठ–इन दो मास में दो पाद प्रमाण जितनी छाया आने पर उग्घाड़ा पौरुषी का काल आता है। इस तरह श्रावण मास से पौष तक वृद्धि और माघ से आषाढ़ तक हानि होती है।

सामान्यतया सात दिन–रात में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और एक मास में चार अंगुल की वृद्धि-हानि होती है। जैसे जब आषाढ़ पूर्णिमा के दिन अपने घुटने तक की छाया दो पाद प्रमाण हो, तब एक प्रहर होता है अर्थात घुटने की बढ़ती-घटती छाया के आधार पर पौरुषी (प्रहर) का काल निश्चित किया जाता है तथा वह छाया दक्षिणायन में बढ़ती है और उत्तरायण में घटती है।

पौरुषीकाल का संक्षिप्त यन्त्र यह है–[175]

| मास | पाद | अंगुल |
|---|---|---|
| आषाढ़ पूर्णिमा | 2 | 0 |
| श्रावण पूर्णिमा | 2 | 4 |
| भाद्रपद पूर्णिमा | 2 | 8 |
| आश्विन पूर्णिमा | 3 | 0 |
| कार्तिक पूर्णिमा | 3 | 4 |
| मिगसर पूर्णिमा | 3 | 8 |
| पौष पूर्णिमा | 4 | 0 |
| माघ पूर्णिमा | 3 | 8 |
| फाल्गुन पूर्णिमा | 3 | 4 |
| चैत्र पूर्णिमा | 3 | 0 |
| वैशाख पूर्णिमा | 2 | 8 |
| ज्येष्ठ पूर्णिमा | 2 | 4 |

उपर्युक्त यन्त्र का तात्पर्य है कि अमुक-अमुक मास में उतने-उतने पाद या अंगुल प्रमाण छाया आने पर दिन की प्रथम पौरुषी का काल आता है।

**उग्घाड़ा पौरुषी विधि क्यों?** जैन आचार में उग्घाड़ा पौरुषी की विधि करने के पीछे दो प्रयोजन माने गये हैं। पहला प्रयोजन सूत्र–अर्थ की पौरुषी से सम्बन्धित है और दूसरा पात्र प्रतिलेखना से सम्बद्ध है। इस समय सूत्र पौरुषी (स्वाध्याय) का काल पूर्ण होता है और अर्थ पौरुषी (ध्यान) का काल प्रारम्भ होता है, जिसके सूचनार्थ यह विधि की जाती है। जैन आगमों में मुनि के लिए पात्र प्रतिलेखन का समय दिन के प्रथम प्रहर का चतुर्थ भाग शेष रहने पर बतलाया गया है। उसकी स्मृति के रूप में भी यह विधि की जाती है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में यह विधि आज भी प्रचलित है। पात्र प्रतिलेखना के उद्देश्य से यह विधि दिन का प्रथम प्रहर (सूर्योदय से लगभग ढाई से तीन घण्टा) व्यतीत होने पर करते हैं।

**उग्घाड़ा पौरुषी विधि–** दिन का पादोन प्रहर (प्रथम प्रहर का तीन भाग जितना समय) पूर्ण होने पर एक शिष्य गुरु के समक्ष आकर 'उग्घाड़ा पोरसी'–

एक प्रहर जितना काल पूर्ण हो चुका है इतना कहकर, स्थापनाचार्य के सम्मुख ऊनी वस्त्र (कंबल) बिछायें। फिर उस पर सभी पात्रों को अलग-अलग करके रखें। उसके बाद सभी साधु एक खमासमण देकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। तदनन्तर पुनः एक खमासमण दें। फिर एक शिष्य अर्धावनत मुद्रा में स्थित होकर कहे–**'इच्छा संदि. भगवन्! उग्घाडा पोरिसी।** गुरु कहें–**'तहत्ति'**।

तत्पश्चात गुरु एक खमासमण देकर–**'इच्छा. संदि. भगवन्! पडिलेहणं करूं'** ऐसा बोलकर 50 बोलपूर्वक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें। उसके बाद एक शिष्य खमासमण देकर कहे–**'इच्छा. संदि. भगवन्! पडिलेहणं करूं'**। तब गुरु कहे–**'करेह'**। शिष्य–**'इच्छं'** कहे। उसके बाद सभी साधु मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके शास्त्र निर्दिष्ट विधि के क्रमानुसार पात्र सम्बन्धी समस्त उपकरणों की प्रतिलेखना करें।[176]

**तुलना**–दिन के प्रथम प्रहर के अन्तिम भाग में करने योग्य विधि 'उग्घाड़ा पौरुषी' के नाम से प्रचलित है। जब हम इस विधि के सन्दर्भ में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं तो सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र में इतना निर्देश प्राप्त होता है कि मुनि दिन की प्रथम पौरुषी के चतुर्थ भाग में भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना करें। इसके अतिरिक्त अन्य आगमों में यह चर्चा प्राप्त नहीं होती है।[177]

आगमेतर साहित्य का अवलोकन करते हैं तो ओघनिर्युक्ति,[178] विशेषावश्यकभाष्य[179] एवं उत्तराध्ययनटीका में पौरुषी का कालमान, पौरुषी का प्रमाण, पौरुषी यन्त्र आदि का वर्णन मिलता है किन्तु विधि के सन्दर्भ में कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है।[180]

तदनन्तर परवर्तीकालीन पंचवस्तुक[181], प्रवचनसारोद्धार[182], धर्मसंग्रह[183] आदि में पौरुषी का स्वरूप एवं प्रतिलेखना काल के कुछ उल्लेख मिलते हैं। जब हम मध्यकालवर्ती ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो वहाँ विधिमार्गप्रपा और साधुविधिप्रकाश में पौरुषी विधि प्राप्त होती है। इससे सुनिश्चित होता है कि उग्घाड़ा पौरुषी काल में पात्र प्रतिलेखना से सम्बन्धित कोई विधि सम्पन्न की जाये, यह परम्परा विक्रम की 10वीं शती के पश्चात अस्तित्व में आई है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो विधिमार्गप्रपा और साधुविधिप्रकाश में इस विधि को लेकर किंचित भेद दिखता है। विधिमार्गप्रपा[184] में 'पडिलेहणं संदिसावेमि' 'पडिलेहणं करेमि' ऐसे दो आदेश लेने का उल्लेख

है जबकि साधुविधिप्रकाश[185] में 'उग्घाड़ा पोरिसी' एवं 'पडिलेहण करूं' इन दो आदेशों का वर्णन है। यहाँ पौरुषी विधि साधुविधिप्रकाश के मतानुसार उपदर्शित की गई है।

## जैन मुनियों की ऋतुबद्ध चर्या विधि

जैन मुनि किस ऋतु में कौनसी चर्या का विशेष रूप से आचरण करें? इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक रहा है। उन्होंने शरीर, मन एवं प्रकृति जगत को ध्यान में रखते हुए आचार विधियों का निरूपण किया है।

आचारदिनकर में यह चर्चा संयुक्त रूप से उपलब्ध होती है। वह संक्षेप में निम्नानुसार है[186]–

**हेमन्त ऋतु**–मिगसर और पौष–ये दोनों महीने हेमन्तऋतु के हैं। इन दिनों मुनिगण यथाशक्ति निर्वस्त्र रहें, अल्पनिद्रा लें, अल्प आहार करें, देह पर तेल का मर्दन न करें, केशराशि न बढ़ाएँ, शीत के निवारणार्थ रूई की शय्या पर शयन न करें, शरीर को अग्नि का ताप न दें। जो आहार रसोत्पादक हो ऐसे गर्म, तीक्ष्ण, खट्टे एवं मधुर आहार की इच्छा न रखें, पैर में जूते न पहनें, उष्णजल आदि से स्नान न करें और प्रज्वलित दीपक नहीं बुझाएं।

जो स्थान ऊपर से खुला हो, वहाँ शयन न करें। विहार करते समय अथवा उपाश्रय से बहिर्गमन करें तब ऊनी कामली सूती वस्त्र से संयुक्त करके ही ओढ़ें। मल, मूत्र, थूक आदि को अधिक समय तक न रखते हुए, तत्काल परिष्ठापित करें।

**शिशिर ऋतु**–माघ और फाल्गुन–ये दो मास शिशिर ऋतु के हैं। आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार मुनि को शिशिर ऋतु में हेमन्त ऋतु के समान ही आचरण करना चाहिए। विशेष इतना है कि इन दिनों अधिक मात्रा में जल नहीं पीएं और श्लेष्म को किंचित मात्र भी निगले नहीं।

**वसंत ऋतु**–चैत्र और वैशाख–ये दो मास वसंत ऋतु के हैं। मुनि इन ऋतुओं में शरीर पोषण का सर्वथा त्याग करें, तदर्थ नीरस आहार करें। स्वच्छ या नये वस्त्र धारण न करें। यद्यपि मुनि यावज्जीवन ब्रह्मचर्यव्रत का अनुपालन करते हैं, फिर भी इस काल में विशेष सावधानी रखें क्योंकि यह समय कामभोग की स्मृति का कारक माना गया है।

निर्दोष आहार द्वारा संयम की उत्कृष्ट साधना करते हुए प्रतिदिन विहार

करें। संभव हो तो स्त्री एवं पशुओं से रहित निर्जन वन में रहें। अध्ययनशील मुनि चित्त समाधि हेतु उद्यानादि शान्त-एकान्त स्थान पर रहें। अस्वाध्याय निवारण के लिए कल्पतर्पण की विधि करें।

प्राचीनकाल से यह देखा और कहा जाता है कि चैत्रशुक्ला पंचमी से लेकर वैशाख कृष्णा प्रतिपदा तक अधिकांश स्थानों पर कुलदेवताओं की पूजा के लिए महिष आदि पशुओं का वध किया जाता है अत: इन दिनों मुनियों के लिए स्वाध्याय करना वर्जित माना गया है। मुख्य रूप से आगम पाठ का अभ्यास करना नहीं कल्पता है। इस अस्वाध्यायकाल को दूर करने के लिए कल्पतर्पण विधि की जाती है। यह विधि मुनियों के स्वाध्याय से सम्बन्धित है, इसलिए इसकी चर्चा योगोद्वहन विधि के अन्तर्गत करेंगे। सामान्यत: कल्पत्रेप विधि कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा के पश्चात किसी शुभ दिन में की जाती है।

**ग्रीष्म ऋतु**–ज्येष्ठ एवं आषाढ़–ये दो महीने ग्रीष्म ऋतु के कहलाते हैं। इन ऋतुओं में मुनिजन आत्म परिष्कार हेतु कायोत्सर्ग में निरत रहें। आतापना के द्वारा कर्मराशि को भस्मीभूत कर दें। इस समय शीतल प्रदेशों में वास करने की आकांक्षा न रखें और न ही ठण्डे स्थान का सेवन करें।

शीतल जल की भी इच्छा न करें और न ही उसका सेवन करें। मुनि गर्मी से व्याकुल होकर कभी स्नान न करें। दशवैकालिकसूत्र के छठे अध्ययन में वर्णित मुनियों के अठारह आचार स्थानों में अस्नानव्रत का भी अन्तर्भाव है यानी साधु जीवनपर्यन्त अस्नानव्रत का पालन करते हैं।

आगमविधि के अनुसार मुनि शरीर पर उबटन हेतु गन्ध चूर्ण, कल्क, पद्मकेशर आदि का कभी प्रयोग न करें। ग्रीष्म ऋतु में विशेष रूप से जूं आदि की उत्पत्ति न हो, इसका ध्यान रखें। यदि पसीने के कारण षट्पदी की उत्पत्ति हो गई हो तो उसकी रक्षा करें। दीर्घकाल तक रखे गए प्रासुक अन्न एवं पेय पदार्थों का सेवन न करें।

**वर्षा ऋतु**–श्रावण एवं भाद्रपद के महीने वर्षा ऋतु के माने जाते हैं। वर्षा काल में जीव-जन्तुओं की अधिक उत्पत्ति होती है, अत: साधु-साध्वी इस ऋतु में विहार न करें। आचारांगसूत्र के अनुसार जो आवास स्थान गृहस्थों के द्वारा लीप-पोतकर, मरम्मत आदि करवाकर स्वयं के लिए तैयार किये गये हैं मुनि ऐसे निर्दोष स्थान पर रहें।

हालांकि वर्तमान स्थितियों में बहुत परिवर्तन आ चुका है जो गीतार्थों के लिए विचारणीय है। इस ऋतुकाल में फफूंद के भय से प्रत्येक प्रहर में पात्र का प्रमार्जन करें। आरोग्य एवं संयम के लिए छह विगय का पूर्णतः त्याग करें। ग्लानादि मुनि उपचार आदि कारणों से विगय का सेवन कर सकते हैं किन्तु स्वस्थ होने पर यथाशक्ति नियम का पालन करें।

वर्षा ऋतु में मुनि काष्ठ के आसन पर बैठें और उसी आसन पर शयन करें। यह नियम सूक्ष्म प्राणियों की रक्षा के लिए बनाया गया है। पका हुआ अन्न दीर्घ समय का हो तो उसे ग्रहण न करें। शय्यातर के घर से आहार-पानी एवं औषधि न लें। उपाश्रय में पूर्व से परिगृहीत पात्र और पट्टादि का त्याग न करें और न ही दूसरे नये पात्र, पट्टादि को ग्रहण करें।

जिस दिशा में पानी आदि मिलने की संभावना न हो, उस ओर अत्यन्त आवश्यक कार्य हो तो सवा योजन या पाँच कोस तक ही गमन करें। निर्जल स्थान पर दिन या रात्रि में नहीं रुकें। अचित्त जल और कांजिक जल का ही ग्रहण करें। पाणिपात्र मुनि थोड़ी-बहुत वर्षा होने पर जब तक वर्षा बन्द न हो, तब तक भिक्षार्थ न जाएं। पात्रधारी मुनि थोड़ी बहुत वर्षा होने पर कंबली ओढ़कर भिक्षा के लिए जा सकते हैं। भिक्षा के लिए उपाश्रय से निकले हुए थोड़ी देर ही हुई हो और अचानक मूसलाधार वर्षा शुरू हो जाए तो कोई उत्तम स्थान देखकर रूप जाएं तथा वर्षा कम होने पर सीधे गंतव्य स्थान पर आ जाएं।

वर्षाकाल में कुछ मुनि तप करने की इच्छा रखते हैं, कुछ कायोत्सर्ग में तो कुछ योगोद्वहन में संलग्न होते हैं। साधुजन उपर्युक्त सभी क्रियाएँ गुरु के आदेश से ही करें। कोई भी साधु अन्य साधुओं को बताकर ही स्थंडिल आदि के लिए बहिर्गमन करें। भाद्रपद में आठ दिन पर्युषण पर्व की आराधना करें। हालांकि आठ दिन की परम्परा परवर्ती है।

आचारदिनकर के अनुसार पर्युषण को छोड़कर अन्य पर्वोत्सव, अध्ययन एवं तपस्या मलमास में प्रारम्भ न करें परन्तु जो प्रारम्भ है, उसे यथावत कर सकते हैं। इसी तरह विवाह, दीक्षा, व्रतारोपण, किसी कार्य का प्रारम्भ, उद्यापन एवं पितृदेवता आदि से सम्बन्धित अन्य कार्य भी मलमास में न करें। लौकिक शास्त्रों में भी कहा गया है कि अग्निहोत्र, प्रतिष्ठा, यज्ञ, दान, प्रतिग्रह, वृषोत्सर्ग, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत धारण करना आदि मांगलिक कार्य मलमास में

नहीं करना चाहिए। जब सूर्य धनु एवं मीन राशि में हो, तब दो अमावस्याओं के बीच का काल मलमास कहा जाता है। जिस तिथि से सूर्य का उदय हो, उस तिथि को ही स्वीकार करें तथा उसी के अनुसार चतुर्दशी, अष्टमी, पाक्षिक आदि पर्वों की आराधना करें। अधिक मास में भी उपर्युक्त सभी कर्म विवर्जित करें। वर्षाकाल में केशलोच करें।

प्रवचनसारोद्धार आदि के निर्देशानुसार मुनिजन वर्षा ऋतु के आने से पूर्व सम्पूर्ण उपधि का प्रक्षालन कर लें। यदि जल की सुविधा न हो, तो भी पात्रनियोंग अवश्य धोयें। आचार्य और ग्लान मुनि के वस्त्र मलिन होने पर किसी भी काल में धो सकते हैं, क्योंकि मलीन वस्त्र से गुरु की निन्दा होती है और ग्लान को अरुचि या अजीर्ण होता है।

वर्षा ऋतु में प्रासुक तिल का पानी, तुष का पानी, जौ का पानी और गर्म पानी तीन प्रहर तक ग्राह्य होता है। उसके बाद वह सचित्त हो जाता है, किन्तु ग्लान आदि के लिए अधिक समय तक भी रखा जा सकता है। इसी तरह खाद्य सामग्री आदि के सेवन में भी काल आदि का उपयोग रखें। यह वर्षा ऋतु की चर्या विधि है।

**शरद ऋतु**–आश्विन और कार्तिक शरद ऋतु के महीने हैं। इन दिनों मुनिगण वर्षा ऋतु की भाँति ही विशिष्ट नियमों का पालन करें। विहार न करें, नई वस्तुएं न लें तथा परिमित आहार करें।

वर्षा और शरद् काल में मुनि एक स्थान पर रहते हैं, अतः गृहस्थ को प्रतिबोधित करने के लिए व्याख्यान दें। आचारदिनकर में व्याख्यान की विधि भी बताई गई है। सामान्यतया आचारांग आदि आगम एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुष आदि के चरित्र का उपदेश दें। श्रावक के कर्तव्यादि का भी व्याख्यान करें।

मुनि के लिए यह भी उत्सर्ग विधान है कि वह मार्गशीर्ष से लेकर आषाढ़ तक प्रत्येक मास में विहार करता रहे। एक स्थान पर रहने से व्यक्ति, वस्तु आदि के प्रति ममत्वभाव की वृद्धि होती है, शरीर सुखशील बनता है, अनावश्यक परिग्रह का संचय होता है और लोगों के लिए अनादर आदि के कारण भी बन सकते हैं। आगम वचन के अनुसार महीने के अन्तिम दिनों में एवं वर्षावास के पश्चात मुनियों को हमेशा विहार करना चाहिए। आगम में यह भी कहा गया है कि जिस गाँव में मुनि उत्कृष्ट काल प्रमाण रह चुका हो, वहाँ दो वर्ष का

अन्तराल किए बिना न रहे। मुनि एक मास के लिए जहाँ भी रहे 1. इन्द्र 2. क्षेत्रदेवता 3. राजा 4. साधु 5. नगर मुखिया एवं 6. गुरु–इन छह की अनुमति लेकर रहे। इस विषयक विस्तृत वर्णन अध्याय-13 के अन्तर्गत करेंगे।

## श्रमण चर्या के आवश्यक अंग

दिगम्बर साहित्य में चारित्रनिष्ठ अनगार के लिए दस शुद्धियों का पालन करना आवश्यक बतलाया गया है जो निम्न हैं–

1. **लिंग शुद्धि**–लिंग का अर्थ है चिह्न। निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करके तदनुरूप आचरण करना लिंगशुद्धि है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो दैहिक स्नानादि का वर्जन कर नग्नता धारण करना, केशलोंच करना, पिच्छिका ग्रहण करना और रत्नत्रय एवं तप का आचरण करना लिंगशुद्धि है। तत्त्वत: 'मैं साधु हूँ' इसका बोध करने के लिए एवं भाव विशुद्धि के लिए लिंग धारण करते हैं।

2. **व्रत शुद्धि**–पाप कार्यों से निवृत्त होना व्रत है। अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का निरतिचार पालन करना व्रतशुद्धि कहलाता है।

3. **वसति शुद्धि**–स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित स्थान पर रहना वसति शुद्धि है।

4. **विहार शुद्धि**–अनियतवास करना विहार कहलाता है। सम्यग्दर्शन आदि को निर्मल करने के लिए सभी देशों में विहार करना अथवा अनुकूलता वश या गृहस्थ की भक्तिवश किसी प्रतिबद्ध देश में विहार नहीं करना, विहार शुद्धि है।

5. **भिक्षा शुद्धि**–आधाकर्मादि बयालीस दोषों से रहित विधिपूर्वक आहार ग्रहण करना भिक्षाशुद्धि है।

6. **ज्ञान शुद्धि**–वस्तु स्वरूप का यथावस्थित ज्ञान करना अथवा जड़-चेतन का यथार्थ बोध करना ज्ञानशुद्धि है।

7. **उज्झन शुद्धि**–दैहिक विभूषा का त्याग करके उसके प्रति ममत्व भाव का विसर्जन करना उज्झनशुद्धि है।

8. **वाक्य शुद्धि**–स्त्री कथा, कलह, मिथ्याभाषण आदि से रहित हित-मित-परिमित वचन बोलना वाक्यशुद्धि है।

9. **तप:शुद्धि**–पूर्वसंचित कर्मों का विशोधन हो ऐसे अनशन आदि बारह प्रकार के तप का आचरण करना तप शुद्धि है।

10. **ध्यान शुद्धि**–शुभोपयोग से शुद्धोपयोग में स्थिर होना अथवा समस्त प्रकार की शुभाशुभ प्रवृत्तियों का परिहार करके आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ध्यानशुद्धि है।[187]

जो उद्यमशील मुनि इस चर्याविधि का परिपूर्ण रूप से अनुपालन करते हैं, वे उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं।

## श्रमण जीवन की आवश्यक शिक्षाएँ

कुछ साधक मुनि धर्म स्वीकार करने के पश्चात भी तद्योग्य आराधना हेतु दुर्बल मन वाले बन जाते हैं और यत्नसाध्य प्रवृत्ति से विमुख होने लगते हैं। इस तरह की आत्माएँ कल्याण मार्ग की ओर अभिमुख हो साधु जीवन को सफल कर सकें, एतदर्थ प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को अग्रलिखित शिक्षाओं का परिपालन करना चाहिए–

1. सर्व प्रकार की साधु क्रियाएँ शुद्ध विधिपूर्वक करनी चाहिए।
2. किसी तरह की फलाकांक्षा के बिना विविध प्रकार के तपश्चरण में वीर्योल्लासपूर्वक रत रहना चाहिए।
3. अठारह हजार शीलांग के पालन में उद्यमशील रहना चाहिए।
4. परीषहों एवं उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए।
5. पाँच समिति और तीन गुप्ति का निरतिचारपूर्वक पालन करना चाहिए।
6. ज्ञान-ध्यान-स्वाध्यायादि शुभ प्रवृत्ति में निरत रहना चाहिए।
7. सर्वज्ञ प्रणीत वस्तु स्वरूप के विषय में स्वबुद्धि का प्राधान्य नहीं रखना चाहिए।
8. रस-गारवादि का त्याग कर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक गोचरी में अप्रमत्त रहना चाहिए।
9. प्राणी मात्र के लिए हितकारी धर्मोपदेश की प्रवृत्ति करनी चाहिए।
10. द्रव्य-क्षेत्रादि के ममत्व का परित्याग कर नवकल्पी विहार करना चाहिए।
11. मुनि धर्म का आचरण कितना और कैसे किया जा रहा है उसका माप-तोल करते रहना चाहिए।
12. यथाशक्य शुभ प्रवृत्तियों में सतत प्रवर्त्तमान और पापकार्यों से विरत रहना चाहिए।
13. सूक्ष्म जीवों को भी मानसिक पीड़ा न हो ऐसी यतनापूर्वक प्रवृत्ति

करनी चाहिए।

14. मैत्री आदि चार भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए।
15. उपर्युक्त नियमों के प्रति सावचेत रहने वाला एवं तद्रूप वर्त्तन करने वाला साधक अनुत्तर विमान के सुख का साक्षात अनुभव करता है।

## साधु और श्रावक में मुख्य भेद के शास्त्रीय कारण

आवश्यकचूर्णि में साधु और गृहस्थ के मध्य मुख्यतया पाँच अन्तर इस प्रकार बताये गये हैं– [188]

**समिति पालन की दृष्टि से**– साधु की समिति यावत्कथिक होती है और श्रावक की इत्वरिक। साधु दशविध चक्रवाल सामाचारी का सम्पूर्ण रूप से सदैव पालन करता है। श्रावक उसका देशत: कदाचित पालन करता है।

**श्रुत-अध्ययन की दृष्टि से**– साधु जघन्यत: आठ प्रवचनमाता का और उत्कृष्टत: द्वादशांग का अध्ययन कर सकता है जबकि श्रावक जघन्य से और उत्कृष्ट से षड्जीवनिकाय के सूत्र और अर्थ को पढ़ सकता है। पिण्डैषणा (दशवैकालिक सूत्र का पंचम) अध्ययन को सूत्रत: नहीं पढ़ सकता है किन्तु उसका अर्थ सुन सकता है।

**कर्मबंध और वेदन की दृष्टि से**– साधु के चार प्रकार का कर्मबंध हो सकता है–सात-आठ कर्मों का, छह कर्मों का, एक कर्म (सातावेदनीय) का अथवा उसके अबंध भी होता है। श्रावक के सात-आठ कर्मों का बंध होता है। साधु सात-आठ कर्मों का अथवा चार कर्मों का (केवली की अपेक्षा) वेदन करता है। श्रावक सात-आठ कर्मों का वेदन करता है।

**प्रत्याख्यान की दृष्टि से**– जैन मुनि पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण व्रत इन छह व्रतों को यावज्जीवन के लिए स्वीकार करता है। श्रावक एक, दो अथवा सभी व्रत स्वीकार कर सकता है। साधु एक बार सामायिक ग्रहण करता है जबकि श्रावक बार-बार ग्रहण कर सकता है। साधु के एक व्रत का भंग होने पर सभी व्रतों का भंग हो जाता है जबकि श्रावक के एक व्रत का भंग होने पर सब व्रतों का भंग नहीं होता है।

**चारों गति की दृष्टि से**– मुनि हो या गृहस्थ, यदि वह सम्यक रूप से व्रतों का पालन कर रहा है तो स्वर्ग में जाता है। जिसने संयम की विराधना नहीं की हो वैसा साधु जघन्यत: सौधर्मकल्प में और उत्कृष्टत: सर्वार्थसिद्ध विमान में

उत्पन्न होता है या मोक्ष में जाता है जबकि श्रावक जघन्यत: सौधर्मकल्प में और उत्कृष्टत: अच्युतकल्प में ही उत्पन्न होता है।

## सन्दर्भ-सूची


1. *जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. 2, पृ. 326*
2. *समयाए समणो होइ। उत्तराध्ययनसूत्र, 25/30*
3. *उत्तराध्ययननिर्युक्ति, (निर्युक्ति संग्रह), 376*
4. *सूत्रकृतांगसूत्र, संपा. मधुकर मुनि 1/16/635*
5. *श्राम्यतीति श्रमणा: तपस्यन्तीत्यर्थ:। दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका 1/3, पृ. 67*
6. *श्रमणसूत्र, उपा. अमरमुनि, पृ. 55-56*
7. *न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं।*
   *इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति ।।*
   *यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो।*
   *समितत्ता हि पापानं, समणो ति पवुच्चति।।*
   *धम्मपद-राहुल सांकृत्यायन, 264-265।*
8. *सव्वपापस्स अकरणं, कुसलस्य उपसम्पदा।*
   *सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धानं सासनं ।।*
   *वही, 183*
9. *पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्त: सर्व भूतेभ्योऽभयमस्तु।*
   *नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ. 101*
   *उद्धृत-जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 326*
10. *सूत्रकृतांगसूत्र, संपा. पुण्यविजय, 1/16, सू. 631 की चूर्णि, पृ. 246*
11. *पव्वइए अणगारे, पासंडी चरक तावसे भिक्खू।*
    *परिवायए च समणे, णिग्गंथे संजए मुत्ते।।*
    *तिण्णे णेया दविए, मुणी य खंते य दंत विरए य।*
    *लूहे तीरट्ठी य, हवंति समणस्स णामाइं।।*
    *दशवैकालिकनिर्युक्ति, 65-66*

12. समणोत्ति संजदोत्ति य, रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामादि सुविहिदाणं, अणगार भदंत दंदोत्ति।।
मूलाचार, 9/888
13. विशेषावश्यकभाष्य–भाषान्तर कर्त्ता चुनीलाल हकमचंद, गा. 7, पृ.-12-13
14. वही, पृ. 13
15. निशीथभाष्य, गा. 1390
16. वही, गा. 1391-92
17. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 5/3/184
18. प्रवचनसारोद्धार, गा. 731-33
19. वही, गा. 103-123
20. स्थानांगसूत्र, 5/3/184
21. भगवतीसूत्र, टीका. अभयदेवसूरि, 25/6/751, पृ. 891
22. व्यवहारभाष्य, गा. 834, 835, 852-856,1522,882-886 की वृत्ति 888-890
23. आवश्यक हारिभद्रीय टीका, वन्दनाध्ययन, पृ. 518
24. प्रवचनसारोद्धार, गा. 731-33, 103-123
25. महाभारत अनुशासनपर्व, उद्धृत-जैन, बौद्ध, गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 330
26. मनुस्मृति, 6/89
27. ज्येष्ठाश्रमोगृही। महाभारत शान्तिपर्व, 23/5
28. उवासगदसाओ, संपा. मधुकर मुनि, 1/12
29. उत्तराध्ययन सूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 9/38-40
30. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 364
31. उरग गिरि जलण सागर, गगण तरूगणसमो य जो होई।
भमर मिग धरणि जलरूह, रवि पवण समो यतो समणो ।।
विस तिणिस बाउ वंजुल, कणवीरूप्पलसमेण समणेण।
भमरूं दुर णडकुक्कुड, अद्दागसमेण भवितव्वं।।
दशवैकालिकनिर्युक्ति, 63-64
32. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. 6, पृ. 228

33. समवायांगसूत्र, मधुकरमुनि 27/178
34. प्रवचनसारोद्धार, 1354-1355
35. मूलाचार, 1/2-3
36. अनगारधर्मामृत, 9/84-85
37. वय समण धम्म संजम, वेयावच्चं च बंभगुत्तिओ।
    नाणाइतियं तव, कोहनिग्गहारं चरणमेयं।।
    (क) ओघनिर्युक्ति भाष्य गा. 2
    (ख) प्रवचनसारोद्धार, गा. 551
38. (क) तत्त्वार्थसूत्र, 9/6
    (ख) नवतत्त्व प्रकरण, गा. 23
39. स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि, 10/16
40. समवायांगसूत्र, मधुकरमुनि 10/61
41. स्थानांगवृत्ति, टीका. अभयदेवसूरि, पत्र 297
42. आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, उद्धृत-जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 621
43. आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 117
44. तत्त्वार्थसूत्र, 9/6
45. प्रवचनसारोद्धार, गा. 66/553
46. नवतत्त्वप्रकरण, गा. 23
47. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/16
48. खंत्ती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे। समवायांगसूत्र, १०/६१
49. खंती मुत्ती अज्जव, मद्दवे तह लाघवे तवे चेव।
    संजम चियागऽकिंचण, बोद्धव्वे बंभचेरे य।।
    यह गाथा आचार्य हरिभद्र ने 'अन्येत्वेवं वदन्ति' कहकर मतान्तर के रूप में उल्लेखित की है।
50. खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे।
    सच्चं सोयं आकिंचणं च, बंभं च जइधम्मो।।
    स्थानांगवृत्ति, पत्र, 297

51. उत्तमःक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणिः धर्मः।
तत्त्वार्थसूत्र 9/6
52. प्रवचनसारोद्धार, 66/553
53. षट्प्राभृत-द्वादशानुप्रेक्षा, श्लो. 71-81
54. आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 117
55. प्रवचनसारोद्धार, गा. 555
56. वही, गा. 554
57. समवायांगसूत्र, मधुकर मुनि, 17/117
58. आवश्यकवृत्ति, चतुर्थ अध्ययन
59. प्रवचनसारोद्धार, गा. 555-56
60. श्रमणसूत्र, संपा. अमरमुनि, पृ. 273
61. भगवतीसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 25/7/235
62. तत्त्वार्थसूत्र, 9/24
63. प्रवचनसारोद्धार, 66/556
64. प्रवचनसारोद्धार, 66/557
65. स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि 9/3
66. समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि 9/51
67. उत्तराध्ययनसूत्र, 31/10
68. प्रवचनसारोद्धार, 66/557
69. श्रमणसूत्र, संपा. अमरमुनि पृ. 273
70. समवायांगसूत्र, 9/51
71. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 16वाँ
72. (क) भगवतीसूत्र, मधुकरमुनि, 25/7/116-117
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/7,8
(ग) तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक), 9/19
73. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/9
(ख) भगवतीसूत्र, मधुकरमुनि, 25/7/200
74. वही, 25/7/211
75. अब्भिंतरए तवे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा

*पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ, झाणं, विउस्सग्गो।*
*(क) वही, 25/7/217*
*(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/30*
*(ग) तत्त्वार्थवार्तिक, 9/20*

76. *स्थानांगसूत्र, 6/65-66*
77. *औपपातिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि 30*
78. *उत्तराध्ययनसूत्र, 30/8-30*
79. *प्रवचनसारोद्धार, गा. 270-271*
80. *तत्त्वार्थसूत्र, 9/20-21*
81. *नवतत्त्वप्रकरण, गा. 35-36*
82. *पिण्डविसोही समिई, भावण पडिमा य इंदिय निरोहो।*
*पडिलेहण गुत्तिओ, अभिग्गहा चेव करणं तु।।*
*(क) ओघनिर्युक्ति, भाष्य गा. 3*
*(ख) प्रवचनसारोद्धार, 67/562*
83. *सम् = एकीभावेन, इति: = प्रवृत्ति: समिति: शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टैत्यर्थ:- प्रतिक्रमणसूत्र वृत्ति।*
*उद्धृत- जैन आचार: सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 878*
84. *सम्यक् सर्वित्प्रवचनानुसारितया इति:-आत्मन: चेष्टा समिति:।*
*उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, पृ-513*
85. *अट्ठपवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।*
*पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया।।*
*उत्तराध्ययनसूत्र, 24/1*
86. *वही, 24/2,3*
87. *ईरणमीर्या, गतिपरिणामो। उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, पत्र 514*
88. *दशवैकालिकसूत्र, 5/3*
89. *भाषासमितिर्नामहितमितासन्दिग्धार्थ भाषणम्।*
*आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, भा. 2, पृ. 84*
90. *एषणासमितिर्नाम, गोचर गतेन मुनिना।*
*सम्यगुपयुक्तेन नवकोटि परिशुद्धं ग्राह्यम् ।।*
*वही, पृ. 84*

91. उत्तराध्ययनसूत्र, 24/11
92. वही, 24/13,14
93. वही, 24/15
94. स्थानांगसूत्र, 5/3/203
95. समवायांगसूत्र, समवाय 5
96. उत्तराध्ययनसूत्र, 24वां अध्ययन
97. प्रवचनसारोद्धार, गा. 571
98. तत्त्वार्थसूत्र, 9/6
99. नवतत्त्वप्रकरण, गा. 26
100. भाव्यत इति भावना ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः।
आवश्यक हारिभद्रीय टीका, भाग 2, पृ. 62
101. प्रवचनसारोद्धार, 572-573
102. योगशास्त्र, 4/81-85
103. उत्तराध्ययनसूत्र, 3/1
104. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 351
105. स्थानांगसूत्र, 4/1/68,72
106. तत्त्वार्थसूत्र, 7/6
107. योगशतक, 79
108. सामायिकपाठ, 2
109. योगशास्त्र, 4/117
110. अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग-5, पृ. 1506
111. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 1293
112. बारसाणुपेक्खा, गा. 1-86
113. मूलाचार, 8/694-764
114. बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृ. 81-114
115. ज्ञानार्णव, द्वितीय सर्ग
116. योगशास्त्र, 4/55-86
117. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. 1-488
118. शांतसुधारस

119. भावनाशतक
120. दशाश्रुतस्कन्ध, 7/3
121. वही, 7/4-26
122. वही, 7/27-33
123. वही, 7/35
124. भगवतीसूत्र, 3/105
125. अंतकृतदशासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/8/21
126. पंचाशकप्रकरण, 18/4-6
127. प्रवचनसारोद्धार, गा. 575-577
128. आचारदिनकर, पृ. 122
129. वही, पृ. 122
130. पंचाशक, 18/7,13
131. प्रवचनसारोद्धार-सानुवाद, 67/578, पृ. 308-309
132. समवायांगसूत्र, 12/77
133. भगवतीसूत्र, 2/1, पृ. 191
134. दशाश्रुतस्कन्ध, सातवीं दशा
135. आवश्यकनिर्युक्ति गा. 1
136. पंचाशकप्रकरण, 18 वाँ
137. प्रवचनसारोद्धार, 67/574-589
138. आचारदिनकर, भा. 1, पृ. 121-123
139. स्थानांगसूत्र, 5/1/3-4, 5/3/176
140. प्रज्ञापनासूत्र, पद 15
141. प्रवचनसारोद्धार, 67/589
142. गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो। उत्तराध्ययनसूत्र, 24/26
143. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। तत्त्वार्थसूत्र 9/4
144. प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गगमन निवारणं गुप्तिः।
उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र-514
145. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भा. 1, पृ. 64
146. उत्तराध्ययनसूत्र, 24/21

147. वही, 29/54
148. वही, 24/23
149. वही, 29/55
150. वही, 24/24,25
151. वही, 29/56
152. स्थानांगसूत्र, 3/1/21
153. उत्तराध्ययनसूत्र, 24/20,22,24
154. तत्त्वार्थसूत्र, 9/5
155. प्रवचनसारोद्धार, गा. 595
156. बृहत्कल्पभाष्य, 1648-50,52,53
157. पंचवस्तुक, 2/307-308
158. प्रवचनसारोद्धार, द्वार 67/596
159. उत्तराध्ययनसूत्र, 26/8-12
160. वही, 26/21-22, 36-38
161. वही, 26/39-42
162. वही, 26/17-18
163. वही, 26/44-46
164. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 26
165. वही, पृ. 26
166. वही, पृ. 26
167. वही, पृ. 26
168. वही, पृ. 27
169. वही, पृ. 28
170. वही, पृ. 28-29
171. वही, पृ. 31
172. पुरिसोत्ति संकू, पुरिससरीरं वा, ततो पुरिसातो निप्फण्णा पोरिसी।
नन्दीचूर्णि, पृ. 58
173. पुरुषः प्रमाणमस्याः सा पौरुषी। प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 125
174. पोरिसीमाणमनिययं दिवसनिसावुड्ढहाणि भावाओ हीणं तिन्नि मुहुतद्ध पंचमा,

*माणमुक्कोसं वुड्ढी बावीसुत्तरसयभागो पइदिणं मुहुत्तस्स एवं हाणी वि मया, अयणदिणभागओ नेया। विशेषावश्यकभाष्य, 2071*

175. *आसाढे मासे दुपया, पोसे मासे चउप्पया।*
*चित्तासोएसु मासेसु, तिपया हवइ पोरिसी।।*
*उत्तराध्ययनसूत्र, 26/13*

176. *साधुविधिप्रकाश, पृ. 6*
177. *उत्तराध्ययनसूत्र, 26/21-22*
178. *ओघनिर्युक्ति, गा. 282*
179. *विशेषावश्यकभाष्य, गा. 2070-2071*
180. *उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र-537*
181. *पंचवस्तुक, गा. 267*
182. *प्रवचनसारोद्धार, चौथा द्वार*
183. *धर्मसंग्रह (हिन्दी) भा. 2, पृ. 204*
184. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 55*
185. *साधुविधिप्रकाश, पृ. 6*
186. *आचारदिनकर, पृ. 129, 131-135*
187. *लिंगं वदं च सुद्धी, वसदि विहारं च भिक्खणाणं च।*
*उज्झणसुद्धी य पुणो, वक्कं च तवं तधा झाणं।।*
*मूलाचार, 9/771 की टीका*
188. *आवश्यकचूर्णि, भा.2, पृ. 300-301*

●

## अध्याय-2

# जैन मुनि के सामान्य नियम

जैन परम्परा में मुनि धर्म के नियमों एवं उपनियमों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है। कुछ नियम उस कोटि के हैं जो अनिवार्य रूप से परिपालनीय हैं, कुछ उस स्तर के हैं जो उत्सर्ग और अपवाद के रूप में आचरणीय होते हैं, कुछ मर्यादाएं इतनी महत्वपूर्ण हैं कि उनमें दोष लगने पर श्रमण स्वीकृत धर्म से च्युत हो जाता है तथा कुछ नियम उस श्रेणी के हैं जिनका भंग होने से मुनि धर्म तो खण्डित नहीं होता, किन्तु वह दूषित हो जाता है। मुख्य रूप से सभी नियमों को तीन उपविभागों में बाँटा जा सकता है–1. आचार विषयक, 2. आहारचर्या विषयक और 3. दैनिकचर्या विषयक।

इस अध्याय में आचार सम्बन्धी विधि नियमों का उल्लेख किया जा रहा है।

## दस कल्प

जैन आचार-दर्शन में श्रमण के लिए दस कल्पों का विधान है। कल्प का सामान्य अर्थ है आचार-विचार के नियम।

कल्प के अन्य अर्थ भी हैं जैसे नीति, आचार, मर्यादा, विधि, सामाचारी आदि। आचार्य उमास्वाति के अनुसार जो कार्य ज्ञान, शील, तप का उपग्रह करता है और दोषों का निग्रह करता है वह कल्प है, शेष अकल्प हैं।[1] कल्पसूत्र की टीका के अनुसार श्रमणों का आचार कल्प है।[2] यहाँ कल्प के तीन समानान्तर शब्द हैं–

1. कल्प 2. कल्पस्थित 3. कल्पस्थिति।

सामान्य आचार नियम या साध्वाचार का विधि-निषेध कल्प कहलाता है। जो मुनि परिहारविशुद्धि चारित्र की साधना के समय गुरु का दायित्व निभाता है, वह कल्पस्थित कहा जाता है। मुनि की आचार मर्यादा एवं साधु सामाचारी में अवस्थान कल्पस्थिति कहलाती है। कल्पस्थिति का तात्पर्य प्रथम, अन्तिम और

मध्यम तीर्थंकरों के शासन में होने वाले आचार व्यवस्था भेद से है।[3] जैनागमों में आचार कल्प दस प्रकार के बताए गए हैं- 1. आचेलक्य-प्रमाणोपेत वस्त्र धारण करना 2. औद्देशिक-उद्देश्य से तैयार किया हुआ आहार 3. शय्यातर पिण्ड-साधु को मकान देने वाले गृहस्थ का भोजन आदि 4. राजपिण्ड- राजा के घर का आहार 5. कृतिकर्म-वन्दन 6. व्रत-महाव्रत 7. ज्येष्ठ-दीक्षादि पर्याय में वरिष्ठ 8. प्रतिक्रमण-आवश्यक क्रिया 9. मासकल्प-एक स्थान पर एक महीने से अधिक नहीं रहना 10. पर्युषणाकल्प-संवत्सरी के पश्चात 70 दिनों तक एक स्थान पर रहना।[4]

## 1. अचेलक कल्प

अचेलक का अर्थ है वस्त्र रहित। 'चेल' शब्द वस्त्र का पर्यायवाची है। 'अ' शब्द निषेधवाचक और अल्पार्थक दोनों है। इस तरह अचेल के दो अर्थ होते हैं- निर्वस्त्रधारी और अल्प वस्त्रधारी। भगवान महावीर दीक्षा के समय देवदूष्य वस्त्रधारी थे किन्तु कुछ समय के बाद उस वस्त्र को छोड़ दिया और अचेलक बन गए। इस तरह तीर्थंकर निर्वस्त्र अचेलक होते हैं जबकि जिनकल्पी मुनि आदि रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि रखते हैं, अत: अल्पवस्त्रधारी अचेलक कहलाते हैं। यह कल्प प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासन में होता है। ऋषभदेव और भगवान महावीर के साधु वस्त्रधारी होने पर भी मात्र श्वेत वस्त्र धारण करने के कारण व्यवहार में निर्वस्त्री कहे जाते हैं, क्योंकि उनके वस्त्र जैसे होने चाहिए वैसे नहीं होते हैं।

मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधु नियम का पूर्ण रीति से पालन करने वाले होते हैं तथा अतिचार आदि का विचार स्वयं कर लेते हैं, अत: इन साधुओं के अचेलक या सचेलक दोनों प्रकार के आचार होते हैं। बहुमूल्य रंगीन वस्त्र पहनना सचेलक धर्म है और अल्प मूल्य वाले श्वेत वस्त्र पहनना अचेलक धर्म है।

## 2. औद्देशिक कल्प

किसी अतिथि आदि के उद्देश्य से बनाया गया आहार औद्देशिक कहलाता है। औद्देशिक आहार चार प्रकार का होता है- 1. सामान्य रूप से संघ के निमित्त बनाया गया आहार 2. साधु-साध्वी के निमित्त बनाया गया आहार 3. उपाश्रय में रहने वाले साधु-साध्वी के उद्देश्य से निर्मित आहार 4. किसी व्यक्ति विशेष के लिए बनाया गया आहार।

जो आहार साधु-साध्वी, कुल या गण के लिए बनाया गया हो वह प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं को ग्रहण करना नहीं कल्पता है। शेष बाईस तीर्थंकर के साधुओं में जिस मुनि के उद्देश्य से जो आहार बनाया गया हो, वह आहार उस मुनि को लेना तो नहीं कल्पता है किन्तु शेष मुनियों के लिए वह ग्राह्य होता है।

### 3. शय्यातर पिण्ड कल्प

शय्यातर का शब्दानुसारी अर्थ है–शय्या यानी रुकने का स्थान आदि देकर संसार सागर से पार उतरने वाला गृहस्थ अथवा साधुओं के उपाश्रय (निवास स्थान) का मालिक।

शय्यातर के घर की आहारादि सामग्री शय्यातर पिण्ड कही जाती है। शय्यातर पिंड बारह प्रकार के होते हैं– 1. अशन 2. पान 3. खादिम 4. स्वादिम 5. वस्त्र 6. पात्र 7. रजोहरण 8. कम्बल 9. सुई 10. अस्त्र 11. नाखून काटने का साधन और 12. कान का मैल निकालने का साधन।

सामान्यतया साधु या साध्वी जिस शय्यातर के आवास में रुके उसके वहाँ से पहले दिन को छोड़कर जितने दिन तक रहें उतने दिन उन्हें उक्त बारह पिंडों में से किसी भी वस्तु को ग्रहण करना वर्जित माना गया है। यदि उपाश्रय के अनेक मालिक हों या उपाश्रय श्रीसंघ का हो तो प्रतिदिन एक घर शय्यातर रखना चाहिए।

शय्यातरपिण्ड सभी तीर्थंकर के साधु-साध्वियों के लिए निषिद्ध कहा गया है, क्योंकि शय्यातर पिण्ड ग्रहण करने से निम्न दोष लगते हैं–[5]

(i) **अज्ञात भिक्षा का अपालन**–जैन मुनि को बिना बताये घरों से लाकर भोजन करना कल्पता है जबकि शय्यातर के घर का भोजन करने पर अज्ञात भिक्षा का पालन नहीं हो पाता है।

(ii) **उद्गम की अशुद्धि**–शय्यातर के घर का भोजन करने पर अनेक साधुओं के भोजन, पानी आदि कार्यों के लिए बार-बार जाने से उद्गम दोषों में से कोई भी दोष लग सकता है।

(iii) **अविमुक्ति**–आहारादि की लोलुपता के कारण शय्यातर के स्थान को छोड़ने की इच्छा नहीं होती है। इससे साधुओं की लोभवृत्ति का परिचय भी मिलता है।

(iv) **अलाघवता (भार)**–शय्यातर के यहाँ आहार आदि के लिए बार-बार आना जाना होने से शरीर पुष्ट (भारी) हो जाता है, उपधि आदि का भार भी बढ़ जाता है। फलत: उस गृहस्थ पर उन साधुओं का भार भी बढ़ जाता है और वह सोचता है कि अरे! इन्हें आवास स्थान क्या दे दिया, अब इनके भोजन आदि की भी व्यवस्था करो।

(v) **दुर्लभशय्या**–जो आश्रय देता है उसे आहार देना पड़ेगा, ऐसा भय उत्पन्न होने से साधुओं को आश्रय-स्थल नहीं मिलता है।

(vi) **व्यवच्छेद**–अधिक मकान होंगे तो साधुओं को देने पड़ेंगे, इस भय से मकान नहीं रखना आवास व्यवच्छेद रूप दोष है। आश्रय देंगे तो भोजन भी देना पड़ेगा, इस भय से आश्रय नहीं देना भी आवास व्यवच्छेद दोष है।

समाहारत: साधु और शय्यातर के उपकार्य-उपकारक भाव के कारण पारस्परिक स्नेह में वृद्धि न हो, गृहस्थों के मन में साधुओं के प्रति पूज्य भाव बना रहे तथा साधुओं को नि:स्पृहता का बोध हो, एतदर्थ शय्यातर पिण्ड का निषेध किया गया है।

### 4. राजपिण्ड कल्प

राजा के घर का बना हुआ आहार अथवा जो राजा द्वारा अभिषिक्त है, जैसे सेनापति, अमात्य, पुरोहित आदि के घर पर बना हुआ आहार राजपिंड कहलाता है। राजपिंड आठ प्रकार के होते हैं– 1.अशन 2. पान 3. खादिम 4. स्वादिम 5. वस्त्र 6. पात्र 7. कंबल और 8. रजोहरण।

प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए राजपिण्ड का निषेध है क्योंकि इससे व्याघात आदि दोष लगते हैं, किन्तु मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकर के श्रमणों के लिए परिस्थिति विशेष में लेने का विधान है।

पंचाशक के अनुसार राजपिण्ड लेने से निम्न दोष लगते हैं[6]–

(i) **व्याघात**–राजकुल में भोगिक, माण्डलिक आदि सपरिवार आते-जाते रहते हैं। इससे साधुओं को आने-जाने में परेशानी या विलम्ब होने से उनके अन्य कार्य रुक सकते हैं।

(ii) **लोभ** एवं (iii) **एषणाघात**–राजकुल में अधिक एवं स्वादिष्ट आहार मिलता है ऐसी भावना से उन वस्तुओं की सम्प्राप्ति होने पर लोभ बढ़ सकता है और लोभ से एषणा का घात होता है।

(iv) **आसक्ति**–सुन्दर हाथी, घोड़ा, स्त्री, पुरुष आदि को देखने से उनके प्रति आसक्ति हो सकती है।

(v) **उपघात**–बार-बार राजभवन में आने-जाने से साधु के ऊपर जासूस, चोर आदि की शंका करके राजा द्वारा ताड़ना, प्रताड़ना रूप उपघात किया जा सकता है।

(vi) **गर्हा**– साधु स्वादिष्ट आहार के लालची हैं अत: राजपिण्ड लेते हैं, इस तरह की लोक निन्दा होती है।

किसी खास अवसर पर साधु और भिक्षापात्रों को देखकर अमंगल की संभावना से द्वेषभाव उत्पन्न हो सकता है। अतएव जैन मुनि के लिए राजपिण्ड लेने का सर्वथा निषेध है।

## 5. कृतिकर्म कल्प

कृतिकर्म का सामान्य अर्थ है–वन्दन करना। कृतिकर्म दो प्रकार के होते हैं– 1. अभ्युत्थान और 2. वन्दन।

अभ्युत्थान का अर्थ है–आचार्य आदि वरिष्ठ श्रमणों के आने पर खड़े हो जाना। वन्दन का अर्थ है–बारह आवर्त्त पूर्वक वन्दन करना अर्थात ज्येष्ठ श्रमणों के आने पर सम्मान से खड़े होना तथा यथाक्रम से ज्येष्ठ मुनियों को वन्दन करना कृतिकर्म कल्प है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अधिक संयम पर्यायवाली साध्वी के लिए अपने से छोटे श्रमणों को भी वन्दन करने का विधान है, फिर वह आज का नवदीक्षित ही क्यों न हो? इस कल्प का अनुपालन सभी तीर्थंकर के साधु समान रूप से करते हैं।

कृतिकर्म का पालन न करने से निम्नोक्त दोष लगते हैं–1. अहंकार की वृद्धि होती है। 2. अहंकार से नीच गोत्र कर्म का बन्धन होता है। 3. जिनशासन में विनय का उपदेश नहीं दिया गया है–इस प्रकार जिनशासन की निन्दा होती है। 4. विनय भक्ति न होने से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता और संसार की वृद्धि होती है।

## 6. व्रत कल्प

महाव्रतों का पालन करना व्रत कल्प है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में पाँच महाव्रत होते हैं, इसे पंचयाम धर्म भी कहते हैं। मध्य के बाईस

तीर्थंकर के काल में चार महाव्रत होते हैं इसे चातुर्याम धर्म कहते हैं। चातुर्याम एवं पंचयाम का भेद बहिर्दृष्टि से है। मध्यमवर्ती तीर्थंकरों के साधु बुद्धिमान् होने के कारण ब्रह्मचर्य महाव्रत को अपरिग्रह महाव्रत के अन्तर्भूत स्वीकार करते हैं। यह कल्प सभी तीर्थंकर के साधुओं के लिए नियमित रूप से पालने योग्य है।

### 7. ज्येष्ठ कल्प

महाव्रतों का आरोपण करना उपस्थापना कहलाता है। प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासन में उपस्थापना (बड़ी दीक्षा) में जो साधु बड़ा होता है वही ज्येष्ठ माना जाता है। मध्यम तीर्थंकरों के शासन में सामायिक चारित्र की दीक्षा से उनकी ज्येष्ठता मानी जाती है।

### 8. प्रतिक्रमण कल्प

स्वकृत पापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है। प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए यह नियम है कि उनके द्वारा अतिचार लगे या नहीं उन्हें उभय संध्याओं में प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, जबकि मध्यम तीर्थंकरों के साधुओं के लिए दोष लगने पर प्रतिक्रमण करना अनिवार्य कहा गया है। यदि कोई दोष न लगे तो ऋजु प्राज्ञ होने से प्रतिक्रमण करना जरूरी नहीं है।

### 9. मास कल्प

चातुर्मास या किसी अन्य कारण के बिना एक स्थान पर एक मास से अधिक नहीं रहने का आचार मासकल्प कहलाता है। प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए यह विधान है कि वे चातुर्मास या अन्य विशेष कारण के बिना एक स्थान पर महीने से अधिक नहीं ठहर सकते, किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधु-साध्वी एक महीने से अधिक भी रह सकते हैं क्योंकि वे सरल स्वभावी और तीव्र बुद्धिशाली होते हैं।

मासकल्प का पालन न करने से निम्न दोष लगते हैं–

(i) **प्रतिबद्धता**–शय्यातर आदि के प्रति राग-भाव उत्पन्न होता है।

(ii) **लघुता**–यह साधु अपना घर छोड़कर दूसरे घर में आसक्त है, ऐसी शंका से लोक में लघुता होती है।

(iii) **जनोपकार**–भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रहने वाले लोगों का उपदेश आदि देकर उपकार नहीं किया जा सकता है।

(iv) **देशविज्ञान**–विभिन्न देशों के लौकिक और लोकोत्तर आचार व्यवहार का ज्ञान नहीं हो सकता है।

(v) **आज्ञाविराधना**–आगम वचन खण्डित होता है।

निम्न कारणों के उपस्थित होने पर साधु-साध्वी एक स्थान पर एक महीने से अधिक ठहर सकते हैं–

(i) **कालदोष**–दुर्भिक्ष आदि पड़ जाये या दूसरी जगह आहार मिलना मुश्किल हो जाए।

(ii) **क्षेत्रदोष**–संयम आराधना हेतु अनुकूल स्थान न मिल पाये।

(iii) **द्रव्यदोष**–दूसरे क्षेत्र के आहारादि शरीर के प्रतिकूल हों।

(iv) **भावदोष**–अस्वस्थता या ज्ञान आदि की हानि हो रही हो।

## 10. पर्युषणा कल्प

आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी तक चार महीने एक स्थान पर रहना पर्युषणा कल्प है।

यह आचार धर्म प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकरों के साधुओं के लिए है, मध्यम तीर्थंकरों के साधुओं के लिए नहीं है। उनके द्वारा यदि दोष न लगे तो एक क्षेत्र में पूर्व करोड़ वर्षों तक भी रह सकते हैं।

उक्त दस कल्प विभिन्न तीर्थंकरों के साधुओं की योग्यता के अनुसार स्थित (नियत) और अस्थित (अनियत) ऐसे दो प्रकार के होते हैं। प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकरों के साधुओं के लिए सभी कल्प स्थित होते हैं और मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के लिए इनमें से छह कल्प– 1. अचेलक 2. औद्देशिक 3. प्रतिक्रमण 4. राजपिण्ड 5. मासकल्प और 6. पर्युषण अस्थित होते हैं शेष चार कल्प स्थित होते हैं।[7]

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब सभी तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों का मूल लक्ष्य निर्वाण पद की उपलब्धि है तब प्रथम एवं अन्तिम और बाईस तीर्थंकरों के आचार में भेद क्यों? कल्पसूत्र टीकानुसार इसका समाधान यह है कि प्रथम तीर्थंकर के साधु-साध्वी ऋजु जड़ तथा अन्तिम तीर्थंकर के साधु-साध्वी वक्र जड़ होते है जबकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधु-साध्वी तीक्ष्ण बुद्धिमान और अत्यन्त सरल होते हैं। इस प्रकार आचार भेद का मुख्य कारण स्वभाव की विचित्रता है।

## उपसंहार

दसकल्प, जैन मुनि का आवश्यक आचार है। यदि इस आचार धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में विचार करें तो जैनागमों में इसका मूलस्वरूप यत्र-तत्र प्राप्त हो जाता है किन्तु दसों कल्पों का युगपद् वर्णन लगभग नहीं है।

जब हम आगम टीकाओं का परिशीलन करते हैं तो वहाँ आवश्यकनिर्युक्ति, निशीथभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य, कल्पसूत्र टीका आदि में इसका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। जब हम परवर्ती साहित्य का अवलोकन करते हैं तो वहाँ भी भगवती आराधना, मूलाचार, पंचाशक प्रकरण आदि कुछ ग्रन्थों में यह चर्चा निश्चित रूप से है। इससे स्पष्ट है कि दस कल्प प्रत्येक तीर्थंकरों के शासन का शाश्वत आचार है और इसका स्वरूप उत्तरोत्तर विकसित रूप में देखा जाता है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो सभी ग्रन्थों में इसका स्वरूप समान है। दिगम्बर परम्परा में भी यह कल्पधर्म मान्य है। इन्हें प्रकारान्तर से वैदिक एवं बौद्ध परम्परा में भी खोजा जा सकता है। इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन द्वारा लिखित जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' पठनीय है। यदि दस कल्प का निष्पक्ष दृष्टि से मनन किया जाए तो कहना होगा कि यह एक ऐसा अनमोल रसायन है जो दोष लगने पर भी और दोष मुक्त अवस्था में भी ग्राह्य है।

इन दस कल्पों के वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रभाव पर चिन्तन करें तो, इनके माध्यम से वैक्तिक जीवन में संयम के प्रति उत्साह एवं अधिक सजगता आती है। साधु एवं गृहस्थ वर्ग के सम्बन्धों में सीमा मर्यादाएँ बनी रहती हैं। औद्देशिक, शय्यातर पिण्ड आदि न लेने से गृहस्थ के मन में साधु वर्ग के प्रति अभाव नहीं आता तथा साधु में भी प्रमाद की वृद्धि नहीं होती। कृतिकर्म, ज्येष्ठकल्प आदि के पालन से विनय गुण में वृद्धि होती है और अहंकार का दमन होता है। समाज में आपसी सम्बन्धों में स्थिरता एवं मधुरता उत्पन्न होती है। मासकल्प के पालन से किसी भी स्थान या व्यक्ति विशेष के प्रति राग भाव पैदा नहीं होता एवं पर्युषणा कल्प के माध्यम से अहिंसा आदि का पालन होता है।

यदि प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में दस कल्पों का चिन्तन किया जाए तो यह

वैयक्तिक, सामाजिक, सामुदायिक एवं व्यावहारिक प्रबन्धन के क्षेत्र में बहुपयोगी है। अचेलकत्व के माध्यम से व्यक्तिगत स्वार्थ को न्यून किया जा सकता है, वहीं औद्देशिक एवं शय्यातर पिण्ड कल्प के माध्यम से व्यावहारिक जीवन में लेन-देन तथा किसी के यहाँ अतिथि रूप में रहने की मर्यादा आदि का ज्ञान होता है। राजपिण्ड आदि की मर्यादा रखने पर आज के पाँच सितारा होटलें और बड़े लोगों की पार्टियों के प्रति मोह से बचा जा सकता है। कृतिकर्म एवं ज्येष्ठ कल्प के पालन से परिवार समुदाय एवं कार्यालय आदि में आदर और विनय भाव आदि में वृद्धि होती है तथा आपसी सम्बन्ध सुदृढ़ बनते हैं। प्रतिक्रमण कल्प के द्वारा स्वदोषों का निरीक्षण एवं उसमें सुधार होने से जीवन का विकास होता है। पर्युषणाकल्प के माध्यम से अहिंसा आदि धर्मों का तथा साधु जीवन की मर्यादाओं का पालन होता है।

आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में यदि दस कल्पों की प्रासंगिकता पर विचार किया जाए तो इसके द्वारा आसक्ति या राग भाव के कारण उत्पन्न होने वाली अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है क्योंकि इनका मुख्य हेतु मोहादि कषायों का दमन करना है। आहार शुद्धि एवं व्यवस्था के कारण कई शारीरिक रोगों का शमन किया जा सकता है। ज्येष्ठ कल्प आदि के माध्यम से बड़ों के प्रति अनादर, असम्मान आदि की समस्या का निवारण हो सकता है।

## दस सामाचारी

सामाचारी का शाब्दिक अर्थ है–सम्यक् आचरण करना अथवा शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित क्रियाकलाप सामाचारी कहलाता है। सामाचारी के निम्न अर्थ भी ग्राह्य हैं–1. मुनि संघ का व्यवहारात्मक आचार 2. मुनि के लिए विशेष रूप से पालनीय नियम 3. आगमोक्त-अहोरात्र-क्रियाकलापसूचिका 4. साधु जीवन के आचार-व्यवहार की सम्यक् व्यवस्था।[8]

जैनागमों में सामाचारी के दो रूप पाये जाते हैं– 1. ओघ सामाचारी और 2. पदविभाग सामाचारी।[9] ओघनिर्युक्ति में वर्णित प्रतिलेखन, प्रमार्जनादि रूप क्रियाकलाप करना ओघ सामाचारी है। निशीथ, जीतकल्प आदि में वर्णित सामाचारी का पालन करना पदविभाग सामाचारी है। ओघ सामाचारी दस प्रकार की बतायी गयी है और उन्हें संयम धर्म के प्रति हरपल सजग रहने के उद्देश्य से दैनिक नियमों के रूप में अनिवार्य माना गया है। दस सामाचारी का सामान्य

विवरण इस प्रकार है[10]–

1. **इच्छाकार**–'अगर आपकी इच्छा हो तो मैं अमुक कार्य करूँ या आप चाहें तो मैं आपका यह कार्य कर दूँ?' इस प्रकार पूछकर प्रत्येक काम करना इच्छाकार है।

**लाभ**–पूज्यजनों की इच्छापूर्वक कार्य करने या करवाने से पारस्परिक सद्भावनाएँ पनपती हैं। जिनाज्ञा का पालन करने से पराधीनताजनक कर्मों का क्षय होता है, उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है और जैनशासन के प्रति लोगों का सम्मान बढ़ता है।[11]

2. **मिथ्याकार**– संयम धर्म का पालन करते हुए कोई छोटी-बड़ी गलती हो गई हो तो 'यह गलत है' ऐसा जानकर पश्चात्ताप पूर्वक 'मिच्छामि दुक्कडं' देना मिथ्याकार है।

**लाभ**–मिथ्या दुष्कृत देने से पापों के प्रति जागृति बढ़ती है।

3. **तथाकार**–सूत्रादि आगम के विषय में गुरु से कुछ पूछने पर जब उत्तर दें तब या सूत्र की वाचना सुनते समय, आचार सम्बन्धी उपदेश के समय और सूत्रार्थ के व्याख्यान के समय गुरु के सामने 'तहत्ति' (आप जो कहते हैं वही ठीक है) शब्द कहना तथाकार सामाचारी है।

**लाभ**–इस सामाचारी का पालन करने से विनय धर्म की उत्पत्ति होती है, गुरु का बहुमान होता है, हठाग्रह वृत्ति छूटती है और गम्भीरता एवं विचारशीलता पनपती है।

4. **आवश्यिकी**–आवश्यक कार्य (ज्ञानार्जन, भिक्षाटन या स्थंडिल गमनादि) के लिए उपाश्रय से बाहर निकलते समय 'आवस्सही' (आवश्यक कार्य हेतु बाहर जा रहा हूँ) शब्द कहना आवश्यिकी सामाचारी है।

**लाभ**–इससे साधु का अनावश्यक बाहर जाना रुकता है, अनावश्यक प्रवृत्ति का भी निरोध हो जाता है और निष्प्रयोजन गमनागमन पर नियन्त्रण का अभ्यास होता है।

5. **नैषेधिकी**– जिस प्रकार ज्ञानादि कार्य के लिए वसति से बाहर निकलते समय आवश्यिकी सामाचारी है उसी प्रकार देव-गुरु के स्थान में प्रवेश करते समय निषीधिका सामाचारी है यानी देव-गुरु के अवग्रह में प्रवेश करते समय अशुभ व्यापार के त्याग सूचक 'निसीहि' शब्द बोलना नैषेधिकी सामाचारी है।

**लाभ**–इससे प्रवृत्ति के दौरान कोई पापानुष्ठान हुआ हो तो उसका निषेध हो जाता है और गमनागमन काल में लक्ष्य के प्रति जागृति बनी रहती है।

6. **आपृच्छना**–किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु या गुरु सम्मत ज्येष्ठ साधु से यह पूछना कि 'क्या मैं यह कार्य करूँ?' आपृच्छना सामाचारी है।

**लाभ**–इससे स्वच्छन्दवृत्ति पर अंकुश लगता है।

7. **प्रतिपृच्छना**–गुरु द्वारा पूर्व निषिद्ध कार्य को पुनः करना आवश्यक हो तो दुबारा गुरु से पूछना-भगवन! आपने पहले इस कार्य के लिए मना किया था लेकिन यह जरूरी है, अतः आप आज्ञा दें तो यह कार्य कर लूँ? इस प्रकार फिर से पूछना प्रतिपृच्छना सामाचारी है।

**लाभ**–आपृच्छा और प्रतिपृच्छा से श्रमशील और दूसरों के लिए उपयोगी बनने की भावना पनपती है।

8. **छन्दना**–स्वयं के लिए पहले से लाये गए आहार हेतु अन्य साधुओं को आमन्त्रित करना कि 'यह आहार लाया हूँ इसमें से आपके उपयोगी कुछ हो तो ग्रहण कीजिए, मैं धन्य हो जाऊँगा' यह छन्दना सामाचारी है।

**लाभ**–छन्दना से अतिथि सत्कार की प्रवृत्ति बढ़ती है।

9. **निमंत्रणा**–आहार लाने के लिए जाते समय अन्य साधुओं से भी पूछना कि 'क्या आप के लिए भी आहार लेता आऊँ?' यह निमंत्रणा सामाचारी है।

**लाभ**–निमंत्रणा से गुरुजनों के प्रति भक्ति एवं गुरुता बढ़ती है।

10. **उपसंपदा**–ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि की विशिष्ट प्राप्ति के लिए अपवादतः स्वगच्छ को छोड़कर किसी ज्ञानी गुरु के समीप अमुक अवधि तक रहना उपसंपदा सामाचारी है। इस सामाचारी का आवश्यक स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

उपसम्पदा (निशीथभाष्य 5452) जघन्य से छह मास, मध्यम से बारह मास और उत्कृष्ट से यावज्जीवन स्वीकार की जा सकती है।

उपसम्पदा के तीन प्रयोजन हैं–ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र। ज्ञान एवं दर्शन उपसम्पदा तीन कारणों से स्वीकार की जाती है–सूत्र, अर्थ और तदुभय। ये तीन भी तीन-तीन प्रकार से होते हैं।

1. **वर्त्तना**–पूर्वगृहीत सूत्र आदि का पुनः पुनः अभ्यास करने के लिए।

2. **संधान**–पूर्वगृहीत सूत्रादि जो विस्मृत हो चुके हैं उनका पुनः संस्थापन

करने के लिए।

3. **ग्रहण**–अपूर्व श्रुत का ग्रहण करने के लिए।

दर्शन उपसम्पदा दर्शन प्रभावक एवं दर्शन विशोधक ग्रन्थों के अध्ययन के लिए ग्रहण की जाती है।

चारित्र उपसम्पदा वैयावृत्य एवं तपस्या के उद्देश्य से स्वीकार की जाती है।

आचार्य भी निम्न तीन कारणों से उपसम्पदा ग्रहण करते हैं–

**ज्ञानार्थ**–महाकल्पश्रुत आदि के अध्ययन के लिए।

**दर्शनार्थ**–विद्या, मन्त्र और निमित्त सम्बन्धी शास्त्रों को जानने के लिए।

**चारित्रार्थ**–चारित्र विशोधि के स्थानों की अभिवृद्धि एवं सामाचारी की विशिष्ट परिपालना करने के लिए अथवा निम्न तीन विकल्पों के समुपस्थित होने पर उपसंपदा ग्रहण करते हैं–

1. कोई आचार्य अवसन्न हो गया है तो उसके शिष्य समुदाय में कौन साधु वय और श्रुत से सम्पन्न आचार्यपद के योग्य है–इसकी खोज के लिए।

2. कोई आचार्य या उपाध्याय गृहस्थ बन गया हो तो उस गण की व्यवस्था के लिए।

3. कोई आचार्य दिवंगत हो गया हो तो उस गण की सार-संभाल के लिए।

यह ध्यातव्य है कि सामान्य भिक्षु स्वगण को छोड़कर अन्य गण की उपसंपदा स्वीकार करना चाहे तो, वह आचार्य आदि पदस्थ साधुओं को पूछकर जाए। यदि वे अनुमति न दें तो नहीं जा सकता है।

इसी तरह आचार्य आदि पदवीधर साधु उपसंपदा स्वीकार करना चाहें तो वे अपने पदों का त्याग कर एवं गुर्वाज्ञा लेकर जाएँ।

निशीथभाष्य (3627) के अनुसार जो श्रमण निम्न दस कारणों से निर्गमन करता है, वह उपसंपदा की दृष्टि से अयोग्य है–

1. जो भिक्षु गृहस्थ या मुनि से कलह होने के कारण आया हो 2. विकृति सेवन के प्रयोजन से आया हो 3. योगोद्वहन के भय से आया हो 4. 'अमुक मुनि मेरा प्रत्यनीक है' यह सोचकर आया हो 5. आचार्य द्वारा कठोर अनुशासन से त्रस्त होकर आया हो 6. उत्कृष्ट द्रव्यों की लोलुपता के कारण आया हो 7. यहाँ आचार्य उग्रदण्ड देते हैं–इस विचार से आया हो 8. भिक्षाचर्या के श्रम से बचने के लिए आया हो 9. सहवर्ती मुनि तीव्र वैर परिणामी हैं–इस कारण से आया

हो 10. यहाँ कहीं भी आने-जाने में स्वतन्त्रता नहीं है यह सोचकर आया हो।

व्यवहार भाष्य (257-261) के अनुसार कुछ साधु योग्य हों, तो भी निम्न कारणों से उपसंपदा हेतु निषिद्ध माने गये हैं– 1. जो एकाकी आचार्य को छोड़कर आया हो 2. पीछे आचार्य या मुनिगण वृद्ध हो और वह उनकी सेवा करता हो 3. पीछे ग्लान या रूग्ण साधु अकेला हो और वह उनकी सेवा करता हो 4. साधु–समुदाय आचार्य की आज्ञा न मानता हो केवल उससे ही भयभीत हो और 5. गुरु का सहयोगी हो।

उपसंपदावान की परीक्षा करनी चाहिए, उपसंपदावान मुनि के द्वारा भी अन्य आचार्य की परीक्षा की जानी चाहिए, उपसंपदा से पूर्व आचार्य द्वारा स्वयं का परीक्षण किया जाना चाहिए इत्यादि के सम्बन्ध में विशद जानकारी हेतु बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीषभाष्य आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

## उपसंहार

मुनि जीवन का व्यवहार प्रधान आचरण सामाचारी कहलाता है। इसके क्रमिक विकास का विवरण सर्वप्रथम स्थानांगसूत्र[12] में उपलब्ध है। तदनन्तर भगवतीसूत्र[13], उत्तराध्ययनसूत्र[14], पंचाशक[15], प्रवचनसारोद्धार[१६] आदि ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है। पंचाशक आदि परवर्ती ग्रन्थों में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया गया है।

इस विषय में स्थानांग और भगवती में नाम एवं क्रम समान हैं।

स्थानांग, भगवती एवं उत्तराध्ययन इन तीनों सूत्रों में 9वीं-10वीं सामाचारी का क्रम समान है, शेष के क्रम में भिन्नता है तथा 9वीं सामाचारी का नाम अलग होने पर भी अर्थ समान है।

वैदिक या बौद्ध परम्परा में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। यह व्यवहारात्मक आचार है जो संघीय जीवन को सुव्यवस्थित ढंग से यापित करने के लिए अधिक आवश्यक है। जिस धर्म तीर्थ (संघ) में व्यवहारात्मक आचार का सम्यक पालन होता है, वह दीर्घजीवी एवं भव्य प्राणियों को संसार सागर से तारने में समर्थ होता है।

दशविध सामाचारी का यदि प्रबन्धन की दृष्टि से अनुशीलन किया जाए तो यह व्यक्तिगत या सामुदायिक जीवन के प्रबन्धन में विशेष लाभदायी है तथा

इसका निरूपण सामुदायिक जीवन की व्यवस्था की अपेक्षा से ही किया गया है। इच्छाकार के द्वारा दूसरों की इच्छा का ज्ञान करने से किसी का कार्य करने या करवाने पर मन में उनके प्रति सद्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं तथा मन से किए गए कार्य का प्रतिफल भी शीघ्र प्राप्त होता है। स्वकृत दोषों का पश्चाताप करने से जागृति बढ़ती है तथा पुन: गलती होने की संभावनाएँ भी कम होती हैं। बड़ों की आज्ञा मानने से या उनकी बात का समर्थन करने से विनय गुण पुष्ट होता है तथा सामुदायिक जीवन में परस्पर स्नेह एवं सहयोग भाव में वृद्धि होती है। आवश्यकी सामाचारी के पालन द्वारा कार्यालय आदि में इधर-उधर होने से लोगों के मन में विभ्रम उत्पन्न नहीं होते। इसी प्रकार नैषेधिकी सामाचारी के माध्यम से चित्त को किसी भी कार्य में एकाग्र किया जा सकता है, जिससे कार्य क्षमता में वृद्धि होती है। आपृच्छना एवं प्रतिपृच्छना सामाचारी के द्वारा अनुशासन आदि का पालन होता है और उससे स्वच्छन्द वृत्ति का निरसन हो जाता है। छन्दना एवं निमंत्रणा के द्वारा अतिथि सत्कार, आपसी सामंजस्य एवं सहयोग वृत्ति में वृद्धि होती है। उपसंपदा के द्वारा ज्ञान का आदान-प्रदान सम्यक् प्रकार से हो सकता है। इस प्रकार प्रबन्धन के क्षेत्र में दस सामाचारी के द्वारा आपसी सामंजस्य एवं मधुर सम्बन्ध स्थापित होता है।

आधुनिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में यदि दशविध सामाचारी का चिन्तन किया जाए तो इसके द्वारा बढ़ती स्वच्छन्द वृत्ति, कार्यालयों, पाठशालाओं आदि में बढ़ती अव्यवस्था, घटता अनुशासन, आपसी कटुता आदि को नियन्त्रित किया जा सकता है। गुरु-शिष्य सम्बन्धों के बिगड़ते स्वरूप को सुधारा जा सकता है। कर्तव्यों के प्रति बढ़ती लापरवाही एवं सम्बन्धों में बढ़ती औपचारिकता को तथा स्वार्थवृत्ति को भी इसके द्वारा कम किया जा सकता है।

## इक्कीस शबल दोष

शबल का अर्थ है–कर्बुरा रंग वाला।

जिन कार्यों को करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है वे शबल दोष कहलाते हैं।[17]

निम्नोक्त इक्कीस प्रकार की प्रवृत्तियों से शबल दोष लगता है।[18]

1. **हस्तकर्म**–स्त्रीवेद के प्रबल उदय से हस्त मर्दन द्वारा वीर्य का नाश करना हस्तकर्म है।

2. **मैथुन**–मैथुन सेवन करना।

3. **रात्रिभोजन**–रात्रिकाल में भोजन का सेवन करना।

4. **आधाकर्म**–साधु के निमित्त से बनाया गया भोजन लेना।

5. **सागारिकपिण्ड**–शय्यातर अर्थात स्थानदाता का आहार लेना।

6. **औद्देशिक**–साधु के या याचकों के निमित्त बनाया गया, खरीदा हुआ, आहृत-स्थान पर लाकर दिया हुआ, प्रामित्य-उधार लाया हुआ, आच्छिन्न-छीनकर लाया हुआ आहार लेना।

7. **प्रत्याख्यान भंग**–प्रत्याख्यान का बार-बार भंग करना।

8. **गणपरिवर्तन**–छह मास में एक गण को छोड़कर दूसरे गण में प्रवेश करना।

9. **उदकलेप**–एक मास में तीन बार नाभि या जंघा प्रमाण जल में प्रवेश कर नदी आदि पार करना।

10. **मातृस्थान**–एक मास में तीन बार माया स्थान का सेवन करते हुए कृत अपराधों को छुपा लेना।

11. **राजपिण्ड**–राजकुल का आहार ग्रहण करना।

12. **आकुट्या हिंसा**–जानबूझकर हिंसा करना।

13. **आकुट्या मृषा**–जानबूझकर झूंठ बोलना।

14. **आकुट्या अदत्तादान**–जानबूझकर चोरी करना।

15. **सचित्त पृथ्वी स्पर्श**–जानबूझकर सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सोना, खड़े होना।

16. इसी प्रकार सचित्त जल से स्निग्ध और सचित्त रज वाली पृथ्वी आदि पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग आदि करना।

17. प्राणी, बीज, हरित, कीड़ी नगरा, लीलन-फूलन, कीचड़ और मकड़ी के जाल युक्त स्थानों पर बैठना, सोना आदि।

18. जानबूझकर कन्द, मूल, छाल, प्रवाल, पुष्प, फूल आदि का भोजन करना।

19. वर्ष के अन्दर दस बार उदक लेप अर्थात नदी पार करना।

20. वर्ष में दस बार माया स्थानों का सेवन करना।

21. जानबूझकर सचित्त जलयुक्त हाथ से या सचित्त कड़छी आदि से

दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना।

जैनागमों में साधु-साध्वियों के लिए उपर्युक्त कार्य निषिद्ध कहे गये हैं।

## उपसंहार

चारित्र धर्म की पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए शबल दोष का सर्वथा परिहार करना चाहिए। मुनि जीवन के ये नियम आगम विहित हैं। विकास क्रम की दृष्टि से इन दोषों का स्वरूप सर्वप्रथम समवायांगसूत्र[19] में निर्दिष्ट हैं। तदनन्तर यह चर्चा दशाश्रुतस्कन्ध[20] एवं उत्तराध्ययन सूत्र[21] में की गई है। यद्यपि बिखरे हुए अंशों में यह वर्णन बहुत-सी जगहों पर प्राप्त होता है किन्तु इसका व्यवस्थित रूप उपरोक्त ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इसके सिवाय श्रमण प्रतिक्रमणसूत्र[22] में भी इसका उल्लेख है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से मनन किया जाए तो समवायांगसूत्र में प्रतिपादित ग्यारहवाँ और पांचवाँ शबल दोष दशाश्रुतस्कन्ध में क्रमशः पांचवाँ और ग्यारहवाँ दोष है। इसके अतिरिक्त नाम, स्वरूप आदि में लगभग समानता है।

यदि शबल दोषों के वैयक्तिक और सामाजिक दुष्प्रभाव के विषय में चिन्तन किया जाए तो सर्वप्रथम इससे वैयक्तिक चारित्र का ह्रास एवं सामाजिक स्तर पर साधु धर्म की उपेक्षा होती है तथा प्रत्याख्यान भंग होने से मन में ढीलापन आता है। गण आदि परिवर्तन करने से या सामान्य व्यवहार में भी जो व्यक्ति बार-बार नौकरी आदि बदलता रहता है उसकी प्रतिष्ठा कम होती है। संयम विरुद्ध आचरण से जीवन में शिथिलता, लापरवाही, कामचोरी आदि में वृद्धि होती है। दोषयुक्त आहार आदि ग्रहण करने से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक पतन होता है।

इन दोषों से रहित मुनि का प्रभाव प्रबन्धन के क्षेत्र में देखा जाए तो वह साधु ब्रह्मचर्य का पालन करने से वीर्य का सम्यक नियोजन करते हुए समाज पर अपनी वाणी का विशेष प्रभाव डाल सकता है। नियमों के प्रति दृढ़ता रखते हुए अनुशासनबद्ध कार्य का संचालन तथा अपनेगण में स्थिर रहने से अथवा स्वयं के कार्य एवं कार्यालय आदि के प्रति विश्वासभाजन बनने से उसकी एवं प्रतिष्ठान दोनों की गरिमा बढ़ती है। लोभ आदि से रहित होने के कारण स्वयं के आचार एवं आत्मा दोनों का पतन नहीं होता है। इस प्रकार शबल दोषों का सेवन नहीं करने वाला मुनि उत्कर्ष के साथ सामाजिक उत्कर्ष में सहायक होता

है तथा भाव प्रबन्धन, कषाय प्रबन्धन, समाज प्रबन्धन आदि में भी सहायक होता है।

## बीस असमाधि स्थान

जिस सत्कार्य के करने से चित्त में शान्ति हो, दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप मोक्षमार्ग में अवस्थिति हो वह समाधि है तथा जिस कार्य से चित्त में अशान्ति हो एवं ज्ञानादि मोक्षमार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो वह असमाधि है।

जैन ग्रन्थों में असमाधि उत्पन्न करने के बीस स्थान बताये गये हैं जो निम्न हैं–[23]

1. **द्रुत-द्रुत चारित्र**–जल्दी-जल्दी चलना।

**हानि**–शीघ्र चलने वाला व्यक्ति कहीं गिर सकता है, शारीरिक पीड़ा पैदा कर सकता है और दूसरे प्राणियों की हिंसा कर उन्हें असमाधि पहुँचा सकता है। इससे परलोक में भी असमाधि प्राप्त होती है।

2. **अप्रमृज्य चारित्व**–रात्रिकाल में बिना पूँजे–प्रमार्जन करते हुए चलना।

**हानि**–अप्रमार्जना पूर्वक चलने से जीवों की हिंसा होती है जिससे संयम धन की भी हानि होती है।

3. **दुष्प्रमृज्य चारित्व**–उपयोग शून्य होकर प्रमार्जन करना।

**हानि**–अविवेक या असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति से अनेकों समस्याएँ उत्पन्न होती है।

4. **अतिरिक्त शय्यासनिकत्व**–आवश्यकता से अधिक शय्या-संस्तारक आदि और आसन आदि रखना।

**हानि**–अनावश्यक उपधि रखते हुए उनका प्रतिदिन उपयोग न करने पर और प्रतिलेखन-प्रमार्जन न करने पर उनमें जीवोत्पत्ति होने की संभावना रहती है तथा उन जीवों के संघर्षण-संमर्दन से संयम की क्षति होती है।

5. **रात्निक पराभव**–गुरुजनों का अपमान करना।

**हानि**–गुरुजनों का सम्मान न करने से लोकनिन्दा का पात्र बनता है और गुरु कृपा से वंचित हो सद्गति का निरोध कर लेता है।

6. **स्थविरोपघात**–स्थविरों (दीक्षा, आयु एवं ज्ञान से श्रेष्ठ मुनियों) की अवहेलना करना।

**हानि**–स्थविर मुनियों की आशातना करने वाला ज्ञानावरणीयकर्म एवं

मोहनीयकर्म का उपार्जन करता है।

7. **भूतोपघात**–एकेन्द्रिय आदि जीवों की निष्प्रयोजन हिंसा करना।

**हानि**–निष्प्रयोजन हिंसा करने वाला अशातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है।

8. **संज्वलन**–बात-बात में क्रोध करना।

**हानि**–क्रोधी दूसरों को तो जलाता ही है वह अपनी आत्मा और चारित्र को भी नष्ट कर देता है।

9. **दीर्घ कोप**–चिरकाल तक क्रोध करना।

**हानि**–दीर्घकोप से वैरभाव का जन्म होता है और संसार की वृद्धि होती है।

10. **पृष्ठमांसिकत्व**–किसी की पीठ के पीछे निन्दा या चुगली करना।

**हानि**–निन्दक स्वयं की और दूसरों की शान्ति भंग करता है तथा स्वयं की अपकीर्ति करवाता है। अठारह पापों में इसे पन्द्रहवाँ पापस्थान भी माना गया है।

11. **अभीक्ष्णव भाषण**–किसी विषय में शंका होने पर भी निश्चयकारी भाषा बोलना।

**हानि**–निश्चयात्मक भाषा के अनुसार परिस्थिति घटित न होने पर जिनशासन की निन्दा होती है, बोलने वाले का अवर्णवाद होता है तथा अनेक प्रकार के अनर्थ होने की संभावनाएँ बनी रहती हैं।

12. **नवाधिकरण करण**–प्रतिदिन नए-नए कलह उत्पन्न करना।

**हानि**–कलह का प्रारम्भ करने से समुदाय में अशान्ति बढ़ती है।

13. **उपशान्त कलहोदीरण**–शान्त कलह को पुन: उत्तेजित करना।

**हानि**–इससे द्वेष और वैर की परम्परा का अन्त नहीं होता है।

14. **अकाल स्वाध्याय**–अकाल में शास्त्रों का स्वाध्याय करना।

**हानि**–इससे आज्ञा भंग और संयम विराधना होती है।

15. **सरजस्कपाणि भिक्षाग्रहण**–सचित्त धूल युक्त हाथ से भिक्षा ग्रहण करना।

**हानि**–इससे षट्कायिक जीवों की विराधना और संयम धर्म की प्रवंचना होती है।

16. **शब्दकरण**–रात्रि का प्रथम प्रहर बीत जाने के पश्चात ऊँचे स्वर से स्वाध्याय करना।

**हानि**–इससे सहवर्ती साधुओं एवं निकटवर्ती लोगों में क्रोध पैदा होने की

संभावना रहती है एवं निद्रा न आने से मानसिक शान्ति भी भंग होती है।

17. **झंझाकरण**–संघ में मतभेद उत्पन्न करने वाले वचन बोलना।

**हानि**–समाज में फूट डालने वाला सभी के लिए असमाधि उत्पन्न करता है।

18. **कलहकरण**–आक्रोशादि वचन का प्रयोग कर कलह उत्पन्न करना।

**हानि**–इससे संयम का अहित होता है।

19. **सूर्यप्रमाण भोजित्व**–दिन भर कुछ न कुछ खाते-पीते रहना।

**हानि**–इससे शारीरिक अस्वस्थता और रसास्वादन की आसक्ति बढ़ जाती है।

20. **एषणाऽसमितत्व**–एषणा समिति का ध्यान नहीं रखना।

**हानि**–अनैषणीय आहार लेने से चारित्र दूषित तथा जीवों की विराधना होती है।

## उपसंहार

जिन प्रवृत्तियों से स्वयं या दूसरे के इहलोक, परलोक या उभयलोक में असमाधि होती हो उन्हें असमाधि स्थान कहा गया है।[24] जैन भिक्षु के लिए उक्त बीस स्थान सर्वथा वर्जित कहे गये हैं क्योंकि इन बीस कार्यों के आचरण से स्वयं के और दूसरे जीवों के प्रति असमाधि भाव उत्पन्न होता है तथा साधक की आत्मा दूषित एवं चारित्र मलिन होता है। यह आगम विहित आचार संहिता है

इसका मूल स्वरूप समवायांगसूत्र,[25] दशाश्रुतस्कन्धसूत्र,[26] उत्तराध्ययनसूत्र,[27] श्रमण प्रतिक्रमणसूत्र[28] में प्राप्त होता है। दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति-चूर्णि में इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है।

तुलनात्मक रूप से कुछ नामों में मतभेद देखा जाता है।

यहाँ यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि असमाधिस्थान बीस ही क्यों? दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्तिकार[29] ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि असमाधि के ये बीस स्थान केवल निदर्शन मात्र हैं। इनके आधार पर तत्सदृश अनेक स्थान हो सकते हैं जैसे द्रुतगति से चलना असमाधि स्थान है वैसे ही जल्दी-जल्दी बोलना, त्वरता से प्रतिलेखना करना, जल्दबाजी में खाना आदि भी असमाधि स्थान हैं। जितने असंयम के स्थान हैं, उतने ही असमाधि के स्थान हैं।

बीस असमाधिस्थान का यदि वैयक्तिक या मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में चिन्तन किया जाए तो जो इन असमाधि स्थानों का सेवन नहीं करता वह संयम की रक्षा करता है। अहिंसा धर्म का दृढ़ पालक होता है। प्रमार्जन आदि करने से प्रमाद अवस्था में वृद्धि नहीं होती। स्थविर आदि बड़ों का विनय करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय होता है। सूक्ष्म जीवों की रक्षा करने से, कलह आदि में उत्तेजित न होने से, उचित समय में स्वाध्याय-ध्यान आदि करने से, वाणी नियन्त्रित रखने से वह सभी के लिए सम्माननीय तथा जिन धर्म की प्रभावना करता है।

यदि प्रबन्धन की अपेक्षा से इन समाधि स्थानों का चिन्तन किया जाए तो इनमें संयम रखने से सर्वप्रथम मानसिक शान्ति बनी रहती है जिससे तनाव आदि में वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार यह तनाव प्रबन्धन में सहायक होता है। सभी क्रियाएँ समयानुसार करने से समय नियोजन में सहायता मिलती है तथा शक्ति एवं समय का सदुपयोग होता है। भोजन आदि पर नियन्त्रण रखने से शरीर एवं भाव सन्तुलित रहते हैं। जीवन में अप्रमत्त दशा का विकास होने से समय, शक्ति एवं सामर्थ्य का सदुपयोग होता है। इसी प्रकार कलह आदि नहीं करना, क्रोधादि में निमित्त नहीं बनना तथा प्रतिकूल स्थिति में उत्तेजित न होने से जीवन शान्त एवं समाधियुक्त रहता है।

## बाईस परीषह

'परी' उपसर्ग + 'सह' धातु से यह शब्द निष्पन्न है।

परीषह का शब्दानुसारी अर्थ है–सम्यक प्रकार से सहन करना अथवा मुनि जीवन में आने वाले क्षुधा आदि कष्ट परीषह कहलाते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार जो कष्ट मार्ग से च्युत न होने के लिए और निर्जरा के लिए सहे जाते हैं वह परीषह है।[30]

ज्ञातव्य है कि तपश्चर्या में भी कष्टों को सहन किया जाता है लेकिन तपश्चर्या और परीषह में अन्तर यह है कि तपश्चर्या में स्वेच्छा से कष्ट सहन करते हैं जबकि परीषह में मुनि जीवन के नियमों का परिपालन करते हुए आकस्मिक रूप से यदि कोई संकट उपस्थित हो जाये, उसे सहन किया जाता है। जिनभद्रगणि के अनुसार परीषह द्विविध प्रयोजनों से सहन किये जाते हैं–

1. स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए एवं 2. कर्मों को क्षीण करने के लिए।[31]

जैन परम्परा में 22 परीषह माने गये हैं उनमें दर्शन और प्रज्ञा ये दो परीषह मार्ग से च्युत न होने में सहायक होते हैं तथा शेष बीस परीषह निर्जरा के लिए होते हैं।[32] मुनि को कष्ट सहिष्णु होना आवश्यक है। यदि वह कष्ट सहिष्णुता का अभ्यासी नहीं हो तो संयम पथ से कभी भी विचलित हो सकता है। इसलिए श्रमण के लिए निम्नोक्त बाईस स्थितियों में सहनशील रहने का उपदेश दिया गया है।[33]

1. **क्षुधा परीषह**–भूख से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी नियम विरुद्ध आहार ग्रहण नहीं करना अपितु समभावपूर्वक भूख वेदना को सहन करना, क्षुधा परीषह है।

2. **तृषा परीषह**–प्यास से व्याकुल होने पर भी सचित्त जल ग्रहण नहीं करते हुए प्यास की वेदना सहन करना, तृषा परीषह है।

3. **शीत परीषह**–वस्त्र अल्प होने के कारण शीत निवारण न हो तो भी अग्नि से तापना नहीं और नियम विरुद्ध वस्त्रों को ग्रहण कर शीत निवारण नहीं करना, शीत परीषह है।

4. **उष्ण परीषह**–ग्रीष्म ऋतु में गर्मी की अधिकता के कारण चित्त में बेचैनी हो रही हो, तब भी स्नान या पंखे आदि का प्रयोग नहीं करते हुए उसे शान्त भाव से सहन करना, उष्ण परीषह है।

5. **दंश मशक परीषह**–डांस, मच्छर आदि के काटने पर क्रोध नहीं करना और न ही उन्हें त्रास देना दंशमशक परीषह है।

6. **अचेल परीषह**–वस्त्र अल्प हो या वस्त्र फट गये हों तो चिन्ता नहीं करना और न ही मुनि मर्यादा के विरुद्ध वस्त्र ग्रहण करना।

7. **अरति परीषह**–प्रतिकूल परिस्थिति आने पर मुनि जीवन में सुख-सुविधाओं का अभाव है इस प्रकार का विचार नहीं करना।

8. **स्त्री परीषह**–स्त्री संग को आसक्ति, बन्धन और पतन का कारण जानकर स्त्री-संसर्ग की इच्छा नहीं करना व उनसे दूर रहना।

9. **चर्या परीषह**–संयम जीवन का निर्वाह करने हेतु चातुर्मास को छोड़कर सदैव भ्रमण करते रहना और पदयात्रा में आने वाले कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करना।

10. **निषद्या परीषह**–स्वाध्याय आदि के लिए एक आसन में बैठना। श्मशान, शून्यागार या वृक्ष के मूल में अचपल भाव से बैठना अथवा बैठने के लिए विषम भूमि हो तो मन में दुखी नहीं होना।

11. **शय्या परीषह**–ठहरने या सोने के लिए विषम भूमि हो या तृण, पराल आदि उपलब्ध न हो तो उस कष्ट को सहन करना।

12. **आक्रोश परीषह**–यदि कोई कठोर-कर्कश या अपशब्द कहे तो उन्हें सहन करना और उसके प्रति क्रोध नहीं करना।

13. **वध परीषह**–यदि कोई मुनि को लकड़ी आदि से मारे या ताड़ना आदि करे तो भी समभाव रखना।

14. **याचना परीषह**–भिक्षावृत्ति करते हुए किसी प्रकार का अपमान होने पर समभाव से सहन करना। मुनि की यह चर्या अत्यन्त कठिन है क्योंकि उसे जीवनभर सब कुछ याचना से ही मिलता है। गृहस्थों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं है, ऐसा विचार कर मन में दु:खी नहीं होना अपितु मुनि मर्यादा का पालन करते हुए भिक्षावृत्ति करना।

15. **अलाभ परीषह**–वस्त्र, पात्र आदि सामग्री अथवा आहार प्राप्त नहीं होने पर भी समभाव रखना।

16. **रोग परीषह**–शरीर में किसी प्रकार की व्याधि उत्पन्न होने पर चिकित्सा नहीं करवाना और रोग वेदना को सहन करना।

17. **तृण परीषह**–तृण आदि की शय्या पर सोने से तथा मार्ग में नंगे पैर चलने से कांटा आदि की चुभन हो तो समभाव से सहन करना।

18. **मल परीषह**–वस्त्र या शरीर पर पसीने एवं धूल आदि के कारण मैल जम जाये तो खिन्न नहीं होते हुए सहन करना।

19. **सत्कार परीषह**–किसी के द्वारा सम्मान किया जाये तो भी प्रसन्न नहीं होना अपितु तटस्थ रहना।

20. **प्रज्ञा परीषह**–अपनी बुद्धि का अहंकार नहीं करना अथवा किसी के द्वारा बार-बार पूछे जाने पर परेशान होकर यह विचार नहीं करना कि इससे तो अज्ञानी होना अच्छा था।

21. **अज्ञान परीषह**–यदि बुद्धि मन्द हो और शास्त्र आदि का अध्ययन न कर सकें तो खिन्न नहीं होते हुए ध्यान, सेवा, विनय आदि की साधना में प्रवृत्त रहना।

22. **दर्शन परीषह**–अन्य सम्प्रदायों का आडम्बर देखकर या अन्य दार्शनिकों की महिमा देखकर जिनमार्ग से विचलित नहीं होते हुए शुद्ध मार्ग पर स्थिर रहना।

उल्लेखनीय है कि बाईस परीषह ज्ञानावरणीय, मोहनीय, वेदनीय एवं अन्तराय इन चार कर्मों के विपाकोदय से उपस्थित होते हैं तथा एक साथ उत्कृष्टत: बीस परीषह और जघन्यत: एक परीषह हो सकता है।

## उपसंहार

चारित्र धर्म में सुदृढ़ रहने एवं पूर्वबद्ध कर्मों का क्षरण करने के लिए उपस्थित कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करना परीषह कहलाता है। जैन मुनि द्वारा पालनीय यह आचार धर्म आगम कथित है। इन 22 परीषहों की चर्चा सर्वप्रथम समवायांगसूत्र[34] में प्राप्त होती है। इसके अनन्तर मूल पाठों के रूप में यह विवेचन उत्तराध्ययनसूत्र[35], प्रवचनसारोद्धार[36], तत्त्वार्थसूत्र[37] में उपलब्ध होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में परीषह नामक एक स्वतन्त्र अध्याय है। प्रवचनसारोद्धार वृत्ति में भी यह वर्णन विस्तार के साथ प्राप्त होता है। नवतत्त्व प्रकरण आदि ग्रन्थों में भी इसका मौलिक स्वरूप देखा जाता है।[38]

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो उक्त ग्रन्थों में संख्या की दृष्टि से समानता होने पर भी क्रम की दृष्टि से क्वचित अन्तर है। समवायांग में परीषह के बाईस भेद इस प्रकार मिलते हैं–

1. क्षुधा 2. पिपासा 3. शीत 4. उष्ण 5. दंशक 6. अचेलक 7. अरति 8. स्त्री 9. चर्या 10. निषद्या 11. शय्या 12. आक्रोश 13. वध 14. याचना 15. अलाभ 16. रोग 17. तृण स्पर्श 18. मल 19. सत्कार 20. ज्ञान 21. दर्शन 22. अज्ञान।

उत्तराध्ययनसूत्र में 19 परीषहों के नाम एवं क्रम वही हैं, किन्तु 20,21 और 22 वें नाम में अन्तर है। उसमें 20वाँ प्रज्ञा, 21वाँ अज्ञान और 22वाँ दर्शन है।

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने 'अज्ञान' परीषह का क्वचित श्रुति के रूप में वर्णन किया है।[39] आचार्य उमास्वाति ने 'अचेल' परीषह के स्थान पर 'नाग्न्य' परीषह लिखा है और 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'अदर्शन' परीषह

लिखा है।[40] आचार्य नेमिचन्द्र ने 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'सम्यक्त्व' परीषह माना है। दर्शन और सम्यक्त्व इन दोनों में केवल शाब्दिक अन्तर है, भाव का नहीं।[41]

बाईस परीषहों की तुलना वैदिक एवं बौद्ध परम्परा से भी की जा सकती है। वैदिक परम्परा में मुनि को जान-बूझकर अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने का निर्देश दिया गया है। मनु ने कहा है–वानप्रस्थी को पंचाग्नि के बीच खड़े होकर, वर्षा में बाहर खड़े होकर और सर्दी में भीगे वस्त्र धारण कर कष्ट सहन करना चाहिए।[42]

भगवान बुद्ध भिक्षु जीवन में आने वाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करने का उपदेश देते हुए सुत्तनिपात में कहते हैं कि मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना कर खड्ग विषाण की तरह अकेला विचरण करे।[43] यद्यपि बौद्ध साहित्य में कायक्लेश को किंचित मात्र भी महत्त्व नहीं दिया गया है किन्तु परीषह सहन करने पर विशेष बल दिया है।

यदि समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो परीषह साधना प्रगति के लिए परमावश्यक है। जिस तरह भूमि में वपन किया गया बीज तभी अंकुरित होता है जब उसे जल की शीतलता के साथ सूर्य की उष्मा प्राप्त हो, उसी तरह साधना की सफलता के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ प्रतिकूलता की उष्मा भी आवश्यक है।

बाईस परीषहों का चिन्तन यदि मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में किया जाए तो इन परीषहों के द्वारा मनोबल में वृद्धि एवं सहिष्णुता का अभ्यास होता है। क्षुधा, पिपासा आदि परीषह सहने से आहार विजय प्राप्त होती है। शीत, उष्ण, दंश, अचेल आदि परीषह सहने से देहाध्यास में कमी आती है। याचना, अलाभ, मल, अज्ञान आदि परीषह सहने से अहंकार का दमन होता है तथा प्रज्ञा, सत्कार, स्त्री आदि अनुकूल परिषहों को सहन करने से आत्मप्रशंसा आदि के भाव उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार विविध परीषहों पर विजय प्राप्त करने से जीवन में आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं मानसिक स्थिरता आती है।

यदि प्रबंधन की दृष्टि से विचार करें तो परीषह जय तनाव प्रबन्धन, शरीर प्रबन्धन, भाव प्रबन्धन में बहुत सहायक हो सकता है।

चर्या, निषद्या, शय्या, अरति आदि परीषह सहने से शरीर प्रतिकूल

परिस्थितियों को सहने का अभ्यासी हो जाता है जिससे शरीर प्रबन्धन सधता है। तृष्णा, आक्रोश, वध, अरति आदि परीषह में लोगों के द्वारा पीड़ा देने पर भी शान्त भाव रखने से आपसी समन्वय एवं सहिष्णुता में वृद्धि होती है और विद्वेष भाव उत्पन्न नहीं होते। इससे तनाव मुक्त जीवन जीने में सहायता प्राप्त होती है। इसी प्रकार अन्य परीषह भी जीवन में निर्मल भाव उत्पन्न करते हुए कषाय भावों का नाश करते हैं जिससे क्रोध प्रबन्धन, मान प्रबन्धन आदि में सहायता प्राप्त होती है।

## बावन अनाचीर्ण

अनाचार और अनाचीर्ण दो शब्द हैं। अनाचार का अर्थ है–विहित आचार का अतिक्रमण, अकरणीय कार्य[44], उन्मार्ग गमन[45] और सावद्य प्रवृत्ति करना।[46]

अनाचीर्ण का अर्थ है–अकरणीय कार्य का आचरण नहीं करना। अनाचार कारण है एवं अनाचीर्ण कार्य है।

जैन धर्म में श्रमण और श्रमणी के लिए 52 कृत्य अनाचीर्ण के रूप में माने गये हैं अत: साधु-साध्वी वर्ग को उन कृत्यों का त्याग कर देना चाहिए। वे अनाचीर्ण निम्न हैं[47]–

1. **औद्देशिक**–साधु के निमित्त बनाया गया भोजन, वस्त्र, मकान आदि ग्रहण करना 2. **क्रीतकृत**–मुनि के निमित्त खरीदी हुई वस्तु ग्रहण करना 3. **नित्याग्र**–प्रतिदिन निमन्त्रित करके दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना 4. **अभिहृत**–साधु के निवास स्थान पर गृहस्थ के द्वारा लाकर दिया गया आहार ग्रहण करना 5. **रात्रि भक्त**–रात्रि भोजन करना 6. **स्नान**–स्नान करना 7. **गंध**–इत्र, चन्दन आदि सुवासित पदार्थों का उपयोग करना 8. **माल्य**–पुष्पों की माला धारण करना 9. **वीजन**–पंखे आदि से हवा लेना 10. **सन्निधि**–खाद्य वस्तु का संग्रह करना 11. **गृहि अमत्र**–गृहस्थ के पात्र में भोजन करना 12. **राजपिण्ड**–राजा के घर से भिक्षा लेना 13. **किमिच्छक**–'कौन क्या चाहता है?' इस प्रकार पूछकर दिया जाने वाला दानशाला आदि का आहार ग्रहण करना 14. **संबाधन**–शरीर पुष्टि हेतु तेल मर्दन करवाना 15. **दंत प्रधावन**–दाँतों को साफ करना 16. **संप्रश्न**–गृहस्थ के कुशल पूछना या उनकी पारिवारिक बातें पूछना 17. **देह प्रलोकन**–दर्पण आदि में अपना शरीर देखना 18. **अष्टापद**–शतरंज खेलना 19. **नालिका**–चौपड़ या पासा खेलना 20. **छत्र**–वर्षा या गर्मी

आदि से बचने के लिए या सम्मान-प्रतिष्ठा के लिए छत्र धारण करना 21. **चिकित्सा**–रोग निवारण हेतु चिकित्सा करना 22. **उपानह**–जूते पहनना 23. **ज्योति समारम्भ**–दीपक, चूल्हा आदि सुलगाना 24. **शय्यातरपिण्ड**–स्थान दाता के घर से भिक्षा लेना 25. **आसंदी**–मञ्चिका आदि पर सोना बैठना 26. **पर्यंक**–पलंग पर बैठना 27. **गृहान्तर निषद्या**–निष्प्रयोजन गृहस्थ के घर बैठना 28. **गात्रउद्वर्तन**–पीठी-उबटन आदि लगाना 29. **गृहि वैयावृत्य**–गृहस्थ से अकारण सेवा लेना या गृहस्थ की सेवा करना 30. **जात्याजीविका**–सजातीय या सगोत्रीय बताकर आहार आदि प्राप्त करना 31. **तापनिवृत्ति**–गर्मी के निवारण के लिए सचित्त जल एवं पंखे आदि का उपयोग करना 32. **आतुर स्मरण**–कष्ट आने पर प्रिय बान्धवों का स्मरण करना 33-39. मूली, अदरक, कंद, इक्षुखंड, मूल, कच्चे फल एवं सचित्त फलों का सेवन करना 40-45. अपक्व सौंचल नमक, सैन्धव नमक, सामान्य नमक, रोमदेशीय नमक, समुद्री नमक एवं काला नमक का उपयोग करना 46. **धूम नेत्र**–शरीर या वसति को धूप आदि से सुवासित करना 47. **वमन**–रोग प्रतिकार के लिए या रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना 48. **वस्तिकर्म विरेचन**–एनीमा आदि लेकर शौच करना 49. **अंजन**–आँखों में अंजन लगाना 50. **दंतवण**–दाँतों को दातौन से घिसना 51. **गात्र अभ्यंग**–शरीर पर तेल-मर्दन करना, या व्यायाम करना या कुश्ती लड़ना 52. **विभूषण**–शरीर को अलंकृत करना।

## अनाचीर्ण से हानि

जैन मुनि सामान्य स्थिति में ऊपर वर्णित अनाचीर्णों का आचरण कभी भी न करें, क्योंकि दशवैकालिक चूर्णि के उल्लेखानुसार उनमें निम्न दोष लगते हैं[48]–

1. औद्देशिक से जीववध 2. क्रीतकृत से अधिकरण 3. नित्याग्रह से समारंभ 4. आहृत से षड्जीवनिकाय का वध 5. रात्रिभोजन से जीववध, 6. स्नान से विभूषा, 7. गंधमाल्य से सूक्ष्म जीवों का उपघात और लोकापवाद, 8. वीजन से सम्पातिम वायुकाय जीवों का वध, 9. सन्निधि से पिपीलिका आदि जीवों का वध 10. गृहीभाव से अप्कायिक जीवों का वध 11. राजपिण्ड से संयम विराधना एवं एषणा का घात 12. संबाधन से सूत्र और अर्थ की हानि एवं

शरीरासक्ति का विकास 13. दंत धावन से दंत विभूषा 14. संप्रश्न से पाप का अनुमोदन 15. संलोकन से ब्रह्मचर्य का घात 16. द्यूत से लोकापवाद 17. नालिकाद्यूत से निग्रह आदि तथा लोकापवाद 18. छत्र से लोकापवाद एवं अहंकार वृद्धि 19. चिकित्सा से सूत्र और अर्थ की हानि 20. उपानह से जीव हिंसा 21. अग्निसमारम्भ से जीववध 22. शय्यातरपिण्ड से एषणादोष 23. आसन्दी और पर्यङ्क से शुषिर में रहे जीवों की विराधना की संभावना 24. गृहान्तर निषद्या से ब्रह्मचर्य की अगुप्ति, शंका आदि दोष 25. गात्र उद्वर्तन से विभूषा 26. आजीववृत्तिता से आसक्ति 27. आतुरस्मरण से दीक्षा त्याग आदि 28. मूल आदि का ग्रहण करने से वनस्पति जीवों का घात 29. सौवर्चल आदि नमक का ग्रहण से पृथ्वीकाय का विघात आदि अनेक दोष लगते हैं।

## उपसंहार

मुनि जीवन में वैसे तो नहीं करने योग्य अनेकों कार्य हैं परन्तु दशवैकालिकसूत्र में बावन अनाचीर्णों की चर्चा है।[49] यदि व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में इनके प्रभावों को देखें तो औद्देशिक, क्रीत, नित्याग्र, अभिहृत आदि दोषों से दूषित आहार आदि ग्रहण नहीं करने पर निवास स्थान आदि के प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होती तथा समाज में भी साधु के तप-त्याग का अच्छा प्रभाव पड़ता है। स्नान, पंखा, देह प्रलोकन, दंत प्रधावन, उपानह, छत्र, गात्र उद्वर्त्तन, शरीर विभूषा आदि शरीर उपयोगी वस्तुओं का त्याग करने से शरीर के प्रति ममत्व भाव न्यून होता है। उससे व्यक्ति आध्यात्मिक साधना में अधिक संलग्न हो सकता है। चौपड़, शतरंज, गृहस्थ परिचर्चा आदि करने से समय एवं बुद्धि का मात्र अपव्यय होता है। इसी प्रकार अन्य अनाचीर्णों का त्याग करने से भी जीवन में अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। सूक्ष्म जीवों की रक्षा भी होती है। ऐसे शुद्ध एवं अनुकरणीय आचरण का पालनकर्ता मुनि समाज में आदर्शों की स्थापना कर सकता है।

यदि प्रबन्धन की दृष्टि से अनाचीर्ण की उपयोगिता के विषय में चिन्तन किया जाए तो इनके माध्यम से आचार एवं विचार दोनों को नियन्त्रित किया जा सकता है। अनाचीर्णों का सेवन करने से जीवन में अनियमितता आती है जबकि अयोग्य आचरण का त्यागी मुनि ही सदाचार की प्रेरणा दे सकता है। आहार एवं शरीर के प्रति आसक्ति भाव कम होने से उसके लिए संभावित दुष्कृत्यों को कम

किया जा सकता है। जीवन को व्यसनमुक्त रखने से वह अनेक दोषों से मुक्त रहता है। अन्य विषयों में मन का भटकाव न होने से चित्त की स्थिरता बढ़ती है, बुद्धि आदि का विकास होता है तथा समाज पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है।

यदि अनाचीर्ण की प्राचीनता के सम्बन्ध में मनन किया जाये तो ज्ञात होता है कि दशवैकालिकसूत्र का तीसरा अध्ययन अनाचीर्ण से ही सम्बन्धित है इसलिए इसका नाम 'क्षुल्लकाचार कथा' है। दशवैकालिक चूर्णि एवं टीका में इसकी विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दशवैकालिकसूत्र में अनाचीर्णों की संख्या का उल्लेख नहीं है तथा अगस्त्य चूर्णि और जिनदासचूर्णि में भी तत्सम्बन्धी निर्देश नहीं है। समयसुन्दर कृत दीपिका में 54 संख्या का निर्देश है। यद्यपि अगस्त्यसिंह ने संख्या का उल्लेख नहीं किया है फिर भी उनके अनुसार अनाचारों की संख्या 52 हैं, पर दोनों में अन्तर यह है कि अगस्त्यसिंह ने राजपिण्ड और किमिच्छक को एवं सैन्धव और लवण को पृथक्-पृथक् न मानकर एक-एक माना है। जिनदासगणि ने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक न मानकर अलग-अलग माना है तथा सैन्धव और लवण को एवं गात्राभ्यंग और विभूषण को एक-एक माना है।

दशवैकालिक टीका में आचार्य हरिभद्रसूरि ने अनाचारों की संख्या 53 मानी है, उन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक तथा सैन्धव और लवण को पृथक-पृथक माना है। इस प्रकार अनाचारों की संख्या 54,53 और 52 प्राप्त होती है। संख्या में भेद होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। अनाचारों का निरूपण संक्षेप में भी किया जा सकता है जैसे सभी सचित्त वस्तुओं का परिहार एक माना जाए तो अनेक अनाचार स्वत: कम हो सकते हैं।

यहाँ यह भी ध्यान देने जैसा है कि कुछ नियम उत्सर्ग मार्ग में अनाचार हैं, परन्तु अपवादमार्ग में वे अनाचार नहीं रहते तथा जो कार्य पापयुक्त हैं और जिनका हिंसा से साक्षात सम्बन्ध हैं वे कार्य प्रत्येक परिस्थिति में अनाचीर्ण ही हैं जैसे– सचित्त भोजन, रात्रिभोजन आदि। जो नियम संयम साधना की विशेष शुद्धि के लिए बनाए गए हैं, वे अपवाद में अनाचीर्ण नहीं रहते, जैसे मुनि को गृहस्थ के घर बैठने का निषेध किया गया है परन्तु रोगी हो, तपस्वी हो, वृद्ध हो तो उस परिस्थिति में बैठ सकता है। उसमें न तो ब्रह्मचर्य के प्रति शंका उत्पन्न

होती है और न अन्य किसी विराधना की संभावना बनती है, इसलिए वह अनाचार नहीं है। अस्तु, जो कार्य सौन्दर्य, शोभा या गौरव की दृष्टि से किए जायें वे अनाचार हैं, किन्तु उन्हीं कार्यों को रुग्णावस्था आदि विशेष परिस्थिति में किया जाये तो अनाचार नहीं है।[49]

## अठारह आचार स्थान

शिष्ट व्यक्तियों द्वारा आचीर्ण ज्ञान-दर्शन आदि के क्रियाकलाप आचार कहलाते हैं। मुख्य रूप से आचार के पाँच प्रकार हैं– 1. ज्ञानाचार 2. दर्शनाचार 3. चारित्राचार 4. तपाचार 5. वीर्याचार। सामान्य रूप से श्रमण आचार के अठारह स्थान हैं। दशवैकालिकसूत्र के छठवें अध्ययन में इस विषय का सम्यक प्रतिपादन है। इसमें इन स्थानों को 'महाचार' कहा गया है। वास्तविकता यह है कि दशवैकालिक के छठवें अध्ययन के दो नामों में दूसरा नाम 'महाचारकथा' है।

पहला नाम 'धर्मार्थकाम' का भावार्थ है– श्रुत-चारित्ररूप धर्म का प्रयोजनभूत जो मोक्ष है, एक मात्र उसी की कामना (अभिलाषा) करने वाले सत्पुरुष। महाचारकथा का अर्थ है– सत्पुरुषों के महान आचार का कथन। दोनों का संयुक्त अर्थ होता है– धर्म साधना के द्वारा मोक्ष के इच्छुक महापुरुषों के आचारों का कथन करने वाला। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि मोक्षार्थी साधकों के लिए उक्त 18 स्थान अपरिहार्य रूप से आचरणीय है।

कर्मबन्धन से मुक्त होने का उत्तम मार्ग है सम्यग्दर्शन आदि धर्म का आचरण। मोक्ष साध्य है, उसकी प्राप्ति के लिए श्रुत-चारित्र रूप या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप धर्म साधन है और महाव्रती साधु-साध्वियों के द्वारा सद्धर्म के आचरण का नाम आचार या महाचार है अथवा चारित्र धर्म का सम्यक परिपालन करने के उद्देश्य से जो मौलिक नियम निर्धारित किए जाते हैं, उनका नाम आचार है।

## श्रमण द्वारा आचरणीय 18 स्थान

जैन धर्म के संवाहक साधु-साध्वियों द्वारा सदैव परिपालनीय अठारह स्थान निम्न हैं–[50]

1-6. **व्रत षट्क–** अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं रात्रिभोजन त्याग का पालन करना।[51]

7-12. **पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय–** इन षड् जीवनिकायों के प्रति संयम रखना।[52]

13. **अकल्पवर्जन–** मुनि जीवन के लिए आवश्यक 1. आहार-पानी 2. शय्या (आवास स्थान) 3. वस्त्र और 4. पात्र। ये चारों पदार्थ अकल्पनीय हों तो उसे ग्रहण नहीं करना, यह तेरहवाँ स्थान है।[53]

दशवैकालिक चूर्णि में अकल्प दो प्रकार के बताए गए हैं– 1. शैक्ष स्थापना अकल्प 2. अकल्पस्थापना अकल्प। जिसने पिण्डनिर्युक्ति का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा लाया हुआ आहार पानी, जिसने शय्यैषणा (आचारचूला-2) का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा याचित वसति (उपाश्रयादि) और जिसने वस्त्रैषणा (आचारचूला-5) का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा आनीत वस्त्र, वर्षाऋतु में किसी को प्रव्रजित करना तथा ऋतुबद्ध काल में अयोग्य को प्रव्रजित करना, यह शैक्ष स्थापना अकल्प है। अकल्पनीय पिण्डादि ग्रहण करना अकल्पस्थापना अकल्प कहलाता है।[54]

14. **गृहस्थपात्र वर्जन–** गृहस्थ के कांसे के कटोरे, कांसे के पात्र अथवा कुण्डे के आकार वाले कांसे के बर्तन में आहार नहीं करना, यह चौदहवाँ आचार है।[55]

साधु के लिए गृहस्थ के पात्र में भोजन करने का निषेध इसलिए है कि वह साधु-साध्वी को अपना बर्तन देने से पहले या लौटाने के पश्चात संचित्त जल से धो सकता है और धोया हुआ पानी जहाँ-तहाँ अविवेक से डालने पर त्रस जीवों की उत्पत्ति और विराधना होती है। इससे पश्चात्कर्म और पुरःकर्म नामक एषणा दोष भी लग सकता है।

15. **पर्यंक वर्जन–** जैन मुनि आसंदी (भद्रासन), पलंग, माचा, (खाट), आसालक (जिसमें सहारा हो, ऐसा सुखकारक आसन, वर्तमान में इसे आराम कुर्सी आदि कहते हैं) पर नहीं बैठे और न शयन करे। किसी विशेष परिस्थिति में अथवा रुग्णावस्था आदि कारणों से इन साधनों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाए तो सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखन करके उनका उपयोग करे।[56]

पर्यंक आदि पर बैठने-सोने का निषेध इसलिए किया गया है कि शयन-आसन आदि पोले छिद्र वाले अथवा इनके विभाग अप्रकाशकर होते हैं, अतः इनमें रहने वाले सूक्ष्म जीवों का भली भांति प्रतिलेखन करना दुःशक्य है।

16. **गृहनिषद्या वर्जन–** भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुआ साधु गृहस्थ के घर कभी भी न बैठे, यह सोलहवाँ आचार स्थान है। गृहस्थ के घर बैठने से अनाचार की संभावना, अबोधिकारक फल (मिथ्यात्व) की प्राप्ति, ब्रह्मचर्य के आचरण में विपत्ति, प्राणियों का वध होने से संयम का घात, भिक्षाचरों को अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न हो सकता है अत: गृहनिषद्या का निषेध किया गया है।[57]

अपवादत: भिक्षार्थ गया हुआ साधु रोगी, उग्र तपस्वी या वृद्धावस्था से पीड़ित हो, तो वह कदाचित हांफने लगे या थक जाए तो गृहस्थ के यहाँ घर के लोगों से अनुज्ञा माँगकर अपनी थकान मिटाने या विश्राम लेने हेतु थोड़ी देर तक विवेकपूर्वक बैठ सकता है। यह अपवाद विधि है।

17. **स्नान वर्जन–** साधु रोगी हो या निरोगी, उसे कभी भी स्नान की इच्छा नहीं करनी चाहिए। यह सत्तरहवां आचार है।

संयमी मुनि के लिए स्नान का निषेध निम्न दोषों की सम्भावनाओं को लेकर किया गया है–

इससे आचार का अतिक्रमण होता है, क्योंकि अस्नान साधु के लिए यावज्जीवन का आचार है वह भंग हो जाता है। संयम की विराधना होती है, क्योंकि स्नान का पानी बहने से अनेक सूक्ष्म त्रस प्राणियों की हिंसा होने की सम्भावना रहती है। पोली भूमि में और दरार वाली भूमि में स्नान का बहता हुआ पानी घुस जाए तो वहाँ पर रहने वाले अनेक सूक्ष्म जीवों की विराधना होती है।[58]

18. **विभूषा वर्जन–** मुनि शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए गन्ध चूर्ण, कल्क, लोध्र, पद्मकेसर आदि का उबटन न करें। यह अठारहवाँ आचार है।

दशवैकालिकसूत्र में विभूषा वर्जन का कारण बताते हुए कहा गया है कि इससे देहभाव बढ़ता है, जिसके फलस्वरूप शरीर पर ममता-मूर्च्छा बढ़ती है, आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं और चारित्रिक नियमों में शिथिलता आती है। अहर्निश शरीर सज्जा पर ध्यान रहने से चित्त भ्रान्त रहता है और स्वाध्याय, ध्यान आदि आवश्यक दिनचर्या से मन हट जाता है। विभूषा के लिए आरम्भ-समारम्भयुक्त साधनों का उपभोग करना असंयम वर्द्धक एवं सावद्य बहुल है तथा विभूषा द्वारा शरीर के प्रति आसक्ति अभिवृद्ध होने से चिकने कर्मों का बंधन होता है।[59]

उपर्युक्त वर्णन का फलित यह है कि जैन साधु-साध्वी के लिए पूर्वोक्त 18 आचार स्थान यावज्जीवन के लिए स्वीकारने योग्य हैं, अन्यथा वह संयम मार्ग से पतित होते हुए यथार्थ धर्म से भी विचलित हो सकता है। इनमें से दो-तीन आचार स्थान विधि-निषेध रूप भी हैं, जो मुनियों की रुग्णादि अवस्था को ध्यान में रखते हुए निर्दिष्ट हैं।

## उपसंहार

दशवैकालिकसूत्र में प्रतिपादित मुनि आचार के अठारह स्थानों में पाँच महाव्रत मूलगुण रूप हैं, शेष उत्तरगुण रूप हैं। जिस प्रकार भीत और कपाट युक्त गृह के लिए भी दीपक का प्रकाशित होना और व्यक्ति का जागृत रहना– दोनों रक्षा के कारणभूत होते हैं, उसी प्रकार पाँच महाव्रतधारी साधु के लिए उत्तरगुण महाव्रत अनुपालन में हेतुभूत हैं।

जैसे पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए पच्चीस भावनाएँ होती हैं वैसे ही छह व्रत और छह काय की रक्षा के लिए अकल्पग्रहण, गृह पात्र, पर्यंक, निषद्या, स्नान और विभूषा– ये छह स्थान वर्जनीय हैं।

इससे सुस्पष्ट है कि मुनि के लिए मूलगुण और उत्तरगुण रूप आचार स्थान समान रूप से पालनीय है। यह वर्णन दशवैकालिकसूत्र एवं दशवैकालिकचूर्णि में प्राप्त होता है।

## सन्दर्भ-सूची


1. *प्रशमरति प्रकरण, 143*
2. *कल्पसूत्र सुखबोधिनी टीका-गुजराती भाषान्तर, पृ. 1*
3. *श्री भिक्षु आगम विषय कोश, भा. 2, पृ. 167*
4. *(क) आवश्यक निर्युक्ति-मलयगिरिवृत्ति 121*
   *(ख) निशीथभाष्य, संपा. अमरमुनि, 4/5933*
   *(ग) बृहत्कल्पभाष्य, गा. 6360-6437*
   *(घ) भगवती आराधना, 423*
   *(ङ) मूलाचार-समयसाराधिकार, 118*
   *(च) पंचाशकप्रकरण, 17/6-40*
5. *पंचाशकप्रकरण, 17/18*
6. *वही, 17/20-22*

7. वही, 17/6
8. (क) समाचरणं समाचारः–शिष्टाचरितः क्रियाकलापस्तस्य भावः।
   आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति पत्र, 257
   (ख) साधुजनेतिकर्त्तव्यतारूपाम् सामाचारी।
   (ग) संव्यवहारे, स्थानांगसूत्र,10
9. प्रवचनसारोद्धार, गा. 759
10. पंचाशक प्रकरण, 12/2-3
11. वही, 12/7
12. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 10/102
13. भगवतीसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 25/7/194
14. उत्तराध्ययनसूत्र, 26/2-7
15. पंचाशक प्रकरण, 12/2-42
16. प्रवचनसारोद्धार, 101/760-766
17. शबलं कर्बुरं चारित्रं यैः क्रियाविशेषैर्भवति ते शबलास्तद्योगात साधवोऽपि।
    समवायांग टीका–21/1
18. दशाश्रुतस्कंध, संपा. मधुकर मुनि 2/1
19. समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 21/1
20. दशाश्रुतस्कन्ध, दशा, 2/1
21. उत्तराध्ययनसूत्र, 31/15
22. श्रमणसूत्र, अमरमुनि, पृ. 273
23. दशाश्रुतस्कन्ध, संपा. मधुकर मुनि, दशा-1
24. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति 8 की चूर्णि
25. समवायांगसूत्र, सम. 20/140
26. दशाश्रुतस्कन्ध, दशा, 1
27. उत्तराध्ययनसूत्र, 31/14
28. श्रमणसूत्र, 273
29. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति, 11
30. मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। तत्त्वार्थसूत्र, 9/8
31. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3004

32. प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पृ. 192
33. उत्तराध्ययनसूत्र, दूसरा अध्ययन
34. समवायांग, सम. 22/150
35. उत्तराध्ययन, दूसरा अध्ययन
36. प्रवचनसारोद्धार, 86/685-686
37. तत्त्वार्थसूत्र, 9/8
38. नवतत्त्वप्रकरण, 29-28
39. समवायांग टीका, सम. 22
40. तत्त्वार्थसूत्र, 9/8
41. प्रवचनसारोद्धार, 86/686
42. मनुस्मृति, 6/23
43. सुत्तनिपात अट्ठकथा, भा. 1, उरगवग्ग पृ. 11
44. अणायारो अकरणीयं वत्थुं। दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 193
45. अणायारो उम्मग्गोत्ति वुत्तं भवइ। दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 285
46. अनाचारं सावद्ययोगम्। दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति, पृ. 233
47. दशवैकालिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/2-9
48. दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 60-62
49. दशवैकालिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, पृ. 32
50. दशवैकालिकसूत्र, 6/7
51. वही, 6/8-25
52. वही, 6/26-45
53. वही, 6/46-49
54. दशवैकालिकचूर्णि, पृ. 226
55. दशवैकालिकसूत्र, 6/50-52
56. वही, 6/53-55
57. वही, 6/56-59
58. वही, 6/60-62
59. वही, 6/63-66

## अध्याय-3

# अवग्रह सम्बन्धी विधि-नियम

जैन मुनि का आचार निर्धारण अत्यंत ही सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है। उसकी प्रत्येक क्रिया आंतरिक एवं बाह्य शांति में हेतुभूत बनती है। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए मुनि को ठहरने योग्य स्थान एवं अन्य उपयोगी वस्तु आदि की आवश्यकता पड़ती है। उन सभी का ग्रहण एवं उपयोग भी मुनि को मालिक आदि की आज्ञापूर्वक ही करने का निर्देश है जिससे उसका तीसरा महाव्रत खंडित न हो एवं तदस्थानीय गृहस्थों को भी मुनि से अप्रीति नहीं हो। इसी आज्ञा ग्रहण को जैन शास्त्रीय भाषा में अवग्रह कहा गया है।

## अवग्रह का अर्थ विचार

'अवग्रह' जैन धर्म का आचार प्रधान शब्द है। सामान्यतया अवग्रह का अर्थ ग्रहण करना होता है, परन्तु जैन अवधारणा में इसके निम्न अर्थ माने गये हैं– जैसे • आवास, स्थान अथवा मर्यादित भू-भाग • ग्रहण करने योग्य वस्तु • स्वामी या अधिकारी व्यक्ति की अनुमति लेकर वस्तु का उपयोग करना • अधिकृत वस्तु और क्षेत्र आदि। यहाँ अवग्रह का तात्पर्य गृहस्थ की अनुमतिपूर्वक स्थान आदि ग्रहण करने से है।[1]

## अवग्रह के प्रकार

आचारांग टीका में अवग्रह छह प्रकार का बताया गया है– 1. नाम अवग्रह 2. स्थापना अवग्रह 3. द्रव्य अवग्रह 4. क्षेत्र अवग्रह 5. काल अवग्रह और 6. भाव अवग्रह।

**1. नाम अवग्रह–** किसी भी सचित्त-अचित्त वस्तु की संज्ञा अर्थात नाम 'अवग्रह' हो वह नाम अवग्रह है। जैसे आचारांग के सोलहवें अध्ययन का नाम 'अवग्रह प्रतिमा' है।

**2. स्थापना अवग्रह–** अवग्रह की आकृति या उसकी कल्पना स्थापना अवग्रह है।

**3. द्रव्य अवग्रह–** द्रव्य अवग्रह तीन प्रकार का कहा गया है – 1. सचित्त 2. अचित्त और 3. मिश्र। शिष्यादि ग्रहण करना सचित्त अवग्रह है, रजोहरण आदि ग्रहण करना अचित्त अवग्रह है और रजोहरण सहित शिष्य को ग्रहण करना मिश्र द्रव्य अवग्रह है।

**4. क्षेत्र अवग्रह–** क्षेत्र अवग्रह तीन प्रकार का होता है – 1. सचित्त 2. अचित्त और 3. मिश्र अथवा 1. ग्राम 2. नगर और 3. अरण्य।

**5. काल अवग्रह–** कालावग्रह दो प्रकार का निर्दिष्ट है – ऋतुबद्ध और वर्षाकाल।

**6. भाव अवग्रह–** यह अवग्रह दो प्रकार का होता है– मति अवग्रह और ग्रहणावग्रह। मति अवग्रह विषयक ज्ञान कुल 10 प्रकार का होता है। जब अपरिग्रही साधु के द्वारा आहार, वसति, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण किये जाते हैं तब भाव ग्रहणावग्रह होता है।[2]

भाव ग्रहणावग्रह भी निम्न पाँच प्रकार का कहा गया है–

**1. देवेन्द्र अवग्रह–** इस तिर्यक लोक के मध्य भाग में मेरु पर्वत है। मेरु के ऊपरवर्ती मध्य भाग में ऊपर से नीचे प्रतररूप और एक प्रदेश वाली एक श्रेणी है। यह श्रेणी लोक को उत्तर और दक्षिण दो भागों में विभक्त करती है। दक्षिण भाग का अधिपति शक्रेन्द्र और उत्तर भाग का अधिपति ईशानेन्द्र माना जाता है। अतएव दक्षिण भरत क्षेत्र में विचरण करने वाले साधु-साध्वी शक्रेन्द्र की अनुज्ञा लेते हैं। जंगल या अन्य स्थानों में जहाँ कोई अवग्रह दाता न हो वहाँ शक्रेन्द्र की आज्ञा ली जाती है। पद यात्रा के समय किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करना हो, मल–मूत्रादि की शंका दूर करने के लिए निर्जन स्थान में बैठना हो, भूमि पर से तृण-काष्ठादि ग्रहण करना हो तब शक्रेन्द्र की अनुज्ञा ली जाती है। उस समय 'अणुजाणह जस्स ओग्गहं'– यह जिसका स्थान है वह हमें अनुज्ञा दें, ऐसा बोलते हुए अनुमति ग्रहण करते हैं। उसके पश्चात वस्तु या स्थानादि का उपयोग करते हैं। इसी तरह जहाँ कोई अनुमति देने वाला नहीं हो वहाँ देवेन्द्र की अनुज्ञा लेकर स्थान-तृणादि ग्रहण करना, देवेन्द्र अवग्रह है।

**2. राजा अवग्रह–** जिस क्षेत्र का जो राजा हो उसके आधिपत्य वाले क्षेत्र में विचरण करने वाले मुनि के द्वारा जो भी कार्य व्यवहार किया जाये उसके लिए राजा की अनुमति लेना, राजा अवग्रह है।

**3. गृहपति अवग्रह–** किसी भू-भाग या स्थान विशेष का स्वामी गृहपति कहलाता है। मण्डल का नायक या गाँव का मुखिया भी गृहपति कहलाता है। अत: जिस भू-भाग में रहना हो उसके मालिक की अनुमति ग्रहण कर वहाँ ठहरना, गृहपति अवग्रह है।

**4. सागारिक अवग्रह–** सामान्य गृहस्थ सागारिक कहलाता है। वह घर बनाकर रहता है, इसलिए उन्हें सागारिक कहा है। इनके आधिपत्य सम्बन्धी किसी स्थान या वस्तु को उनकी अनुमतिपूर्वक ग्रहण करना, सागारिक अवग्रह है। जो गृहस्थ साधुओं को ठहरने के लिए स्थान देता है वह 'शय्यातर' कहा जाता है। अत: सागारिक का एक अर्थ शय्यातर भी है। किसी स्थान या वस्तु को याचनापूर्वक ग्रहण करना तिर्यक्दिशा सम्बन्धी अवग्रह है। अधोदिशा में वापी, कूंप, भूमिगृह तक जाना हो तो वहाँ गृहपति और सागारिक दोनों का अवग्रह माना जाता है। ऊर्ध्व दिशा में पर्वत के शिखर पर्यन्त चढ़ना हो तो वहाँ भी पूर्वोक्त दोनों का अवग्रह माना जाता है।

**5. साधर्मिक अवग्रह–** साधर्मिक का अर्थ है– समानधर्मी। समान धर्म वाले साधुओं के क्षेत्र में उनकी अनुमति लेकर रुकना साधर्मिक अवग्रह है। जैसे कोई मुनि किसी गांव में गया हो और वहाँ कोई आचार्य अथवा स्थविर मुनि आदि पहले से ही रूके हुए हैं और उन्होंने चातुर्मास भी वहीं किया हो तो उस गांव के आस-पास का क्षेत्र उनके अधिकृत कहलाता है। चातुर्मास के दो माह उपरान्त तक वह स्थान उनके अधिकृत कहा जाता है। यदि इस बीच अन्य मुनि को वहाँ रहना हो तो पूर्व स्थित मुनि या आचार्य की अनुज्ञा लेना आवश्यक है, अन्यथा उस क्षेत्र में रहना नहीं कल्पता है अथवा साधु-साध्वी के द्वारा परस्पर में किसी वस्तु का लेन-देन करना साधर्मिक अवग्रह है।[3]

## अवग्रह ग्रहण करने का क्रम

आगमिक व्याख्याकारों के मतानुसार अपवाद विशेष के अवग्रह से सामान्य अवग्रह बाधित हो जाते हैं अर्थात पूर्व-पूर्व के अवग्रह उत्तर-उत्तर के अवग्रह से क्रमश: बाधित हैं, जैसे राजावग्रह में राजा ही प्रभु है, देवेन्द्र नहीं। किसी स्थान विशेष की देवेन्द्र द्वारा अनुज्ञा लिये जाने पर भी राजा की अनुमति के बिना मुनि उसके क्षेत्र में नहीं रह सकते। इसी प्रकार क्रमश: राजा, गृहपति और शय्यातर द्वारा अनुज्ञात क्षेत्र में साधर्मिक की अनुमति के बिना नहीं रहा जा

सकता। अत: किसी भी अवग्रह को एकांतत: प्राधान्यता प्राप्त नहीं है।

प्रथम चार अवग्रहों में पूर्व और उत्तर अनुज्ञा की भजना (विकल्प) है तथा अंतिम साधर्मिक अवग्रह में साधर्मिक की ही अनुज्ञा लेनी होती है। इससे पूर्व अवग्रहों की अनुज्ञा लेने का नियम नहीं है, क्योंकि पूर्वागत साधुओं द्वारा वह स्थान अनुज्ञापित होता है। अत: बाद में आने वाले साधु के द्वारा पुन: अनुज्ञा लेने की जरूरत नहीं रहती है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिस दिन स्थानीय श्रमण पूर्वगृहीत स्थान को छोड़कर विहार कर रहे हों, उसी दिन दूसरे श्रमण आ जाएं तो उसी पूर्व गृहीत आज्ञा से यथालंदकाल (शास्त्र निर्धारित समय) तक वहाँ रह सकते हैं। यदि उपयोग में आने जैसा कोई अचित्त उपकरण उपाश्रय में हो तो उसका भी उसी पूर्व की आज्ञा से उपयोग किया जा सकता है।[4]

## कौनसा अवग्रह किस योग पूर्वक?

बृहत्कल्पचूर्णि में अवग्रह की चर्चा करते हुए लिखा गया है कि देवेन्द्र और राजा के अवग्रह की अनुज्ञा मन से ली जाती है, गृहपति के अवग्रह की अनुज्ञा मन से अथवा वचन से ली जाती है तथा शय्यातर और साधर्मिक के अवग्रह की अनुमति नियमत: वचन से ली जाती है, जैसे शय्या, पात्र, शैक्ष आदि के ग्रहण की हमें अनुमति दें।[5]

## अवग्रह की क्षेत्र सीमा

बृहत्कल्प टीका के अनुसार साधु और साध्वियाँ किसी भी स्थान सम्बन्धी अवग्रह चारों दिशाओं एवं चारों विदिशाओं में पाँच कोश की मर्यादा तक ग्रहण कर सकते हैं।

मूल गाँव से प्रत्येक दिशा में ढाई कोस का अवग्रह होता है। वह पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण के हिसाब से पाँच कोस का हो जाता है अथवा जाकर पुन: आने पर एक दिशा में भी पाँच कोस का अवग्रह जानना चाहिए।[6]

## अवग्रह सम्बन्धी कुछ निर्देश

किसी स्थान पर रुकने के लिए मालिक की अनुमति ग्रहण कर रहे हों तो मुनि को उस समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि वह स्थल वैयक्तिक है या सार्वजनिक? यदि व्यक्तिगत स्थल है तो किसी तरह का उपद्रव खड़ा होने की संभावना अल्प रहती है, परन्तु सार्वजनिक हो तो बहुत-सी सावधानियाँ अपेक्षित हो जाती हैं।

श्रमणाचार की मर्यादा के अनुसार मुनि सामान्य स्थिति में तथा अन्य उपयुक्त स्थान उपलब्ध होने की स्थिति में धर्मशाला आदि सार्वजनिक अथवा सर्वजन संसक्त स्थल पर न रुकें। यदि किसी कारणवश रुकना पड़े तो निम्न निर्देशों का ख्याल रखें[7]–

• सर्वप्रथम याचना करते समय उस स्वामी या अधिष्ठाता को काल मर्यादा और क्षेत्र मर्यादा के विषय में स्पष्ट सूचना कर दें।

• उन्हें स्पष्ट रूप से कहें कि 'जितने समय के लिए और जितना स्थान तुम दोगे उतने ही समय तक और उतने ही स्थान में हम रहेंगे। हमारे साधर्मिक साधु आयेंगे तो वे भी तुम्हारे द्वारा अनुमत समय तक और अनुज्ञा क्षेत्र में ही ठहरेंगे। उसके बाद हम सब विहार कर जायेंगे।' इस प्रकार काल, क्षेत्र और साधर्मिक संख्या की मर्यादा का स्पष्टीकरण कर देने से अवग्रह दाता और अवग्रह ग्रहण करने वाला दोनों में नि:शंकता की स्थिति आ जाती है। अन्यथा गृहस्थ के मन में आशंका हो सकती है कि 'ये साधु कहीं यहीं न जम जायें, ये न जाने कितना स्थान लेंगे?' इस तरह की शंका से उसके मन में साधुओं के प्रति अश्रद्धा हो सकती है और वह स्थान देने में कतरा सकता है। इसलिए अवग्रह की आज्ञा लेते समय ही गृहस्थ को पूरी तरह से आश्वस्त कर दें। यदि गृहपति स्वयं यह कह दे कि 'आपकी इच्छा हो उतनी अवधि तक और उतने क्षेत्र में रह सकते हो' तब साधु कल्प मर्यादा का विचार करते हुए वहाँ रहे।

• सार्वजनिक स्थल पर रहते हुए मुनि को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि वहाँ पहले से ही शाक्यादि श्रमण ठहरे हुए हों तो उनके साथ शिष्टाचार का व्यवहार करें। उन श्रमणों के दंड, छत्र आदि उपकरण और उनका सामान पड़ा हो तो उसे बाहर न डालें, उनके सामान को इधर-उधर न करें। यदि वे सोये हुए हों तो उन्हें शोरगुल करके न उठायें, ऐसा कोई भी व्यवहार न करें जो उनके लिए अप्रीतिकारक हो। आचारांगसूत्र के उल्लेखानुसार श्रमण को पूर्व से ठहरे हुए संन्यासियों के साथ मृदु, उदार, शिष्ट एवं सौजन्यपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

• मालिक को अप्रीति और अरुचि न हो उस तरह से मल-मूत्र आदि का परिष्ठापन करना चाहिए। इसी तरह के अन्य कर्तव्यों का भी पालन करना चाहिए, जिससे किसी को कष्ट या अप्रीति न हों।[7]

## अवग्रह याचना की आवश्यकता क्यों?

यह सुविदित है कि जैन संघ में दीक्षित होने वाली भव्य आत्माएँ पाँच महाव्रतों को धारण करती हैं। उसके अन्तर्गत तीसरे महाव्रत में सब प्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान करते हुए वे प्रतिज्ञा लेते हैं कि 'आज से वे किसी भी वस्तु को उसके स्वामी या अधिपति की अनुमति लिये बिना ग्रहण नहीं करेंगे' क्योंकि अनुमति लिये बिना किसी वस्तु को लेना चोरी कहलाता है। अतएव तीन करण, तीन योग से चोरी का सर्वथा त्याग करने में प्रतिज्ञारत मुनि के लिए यह अनिवार्य है कि उसे अदत्त वस्तु अनुमति पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। इस तरह अदत्तादान की निवृत्ति एवं अचौर्य महाव्रत के संरक्षणार्थ यह विधान किया गया है। इस नियम के माध्यम से साधु-साध्वियों को उनके द्वारा गृहीत अदत्तादान विरमण महाव्रत का स्मरण कराया जाता है।[8]

अवग्रह की आवश्यकता का दूसरा कारण यह है कि जब व्यक्ति अनगार धर्म को स्वीकार करता है और स्वयं सब तरह के पाप कर्म न करने, दूसरों से न करवाने एवं करते हुए का अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा करता है तब वह जीवन निर्वाह के लिए गृहस्थ के द्वारा दी गई भिक्षा का ही सेवन करता है और आवश्यक वस्तुओं को दूसरे की अनुमति से ही ग्रहण कर सकता है। इसीलिए कहा गया है कि साधु गाँव से लेकर राजधानी में जहाँ कहीं भी जायें या रहें वे स्वयं बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण नहीं करते, दूसरों से भी बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करवाते हैं। और बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करते। यहाँ तक कि जिनके साथ वे प्रव्रजित हुए हैं और जिनके साथ वे रहते हैं उनके उपकरणों में से भी यदि उन्हें किसी की आवश्यकता पड़ जाये तो उनकी अनुमति के बिना उसे भी ग्रहण नहीं कर सकते हैं। यदि पुराने उपकरण विनष्ट हो गये हों और उसे कोई नया उपकरण लेना होता है तो वे पूर्व में उनकी अनुमति लेते हैं। अनुमति लेने के पश्चात भी उस उपकरण को भली-भांति देखकर और प्रमार्जन करके ही ग्रहण करते हैं। ताकि किसी जीव-जन्तु की विराधना न हो जाये। जब अपने साधर्मिक (सहवर्ती मुनियों) की वस्तु भी अनुमति के बिना नहीं ली जा सकती तब आवास (उपाश्रय), आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि वस्तुएँ गृहस्थ की अनुज्ञा के बिना कैसे ग्रहण की जा सकती है?

सार रूप में कहा जा सकता है कि जैन संघ में साधु-साध्वी के लिए भिक्षाटन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि के निमित्त गुर्वाज्ञा तथा स्थान, आहार, वस्त्र, पात्रादि की प्राप्ति हेतु गृहस्थ स्वामी की आज्ञा लेना अनिवार्य है इससे तीसरे महाव्रत का पोषण एवं मुनि धर्म की नैतिकता का दिग्दर्शन होता है। अवग्रह का मूल हार्द यही है।

## आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अवग्रह विधि की उपयोगिता

अवग्रह विधि की मूल्यवत्ता पर यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में चिंतन किया जाए तो वर्तमान में बढ़ते प्रदेशवाद, क्षेत्रवाद, भू-माफिया, जमीन-जायदाद के लिए होती लड़ाइयाँ, आपस में बढ़ते वैमनस्य आदि में अवग्रह का नियम बहुत लाभदायक हो सकता है।

अवग्रह के अन्तर्गत किसी भी वस्तु या क्षेत्र का उपयोग उसके स्वामी की आज्ञा से किया जाता है, जिससे भय की स्थिति नहीं रहती और किसी भी कार्य को निश्चिन्तता एवं निर्भीकतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। जबकि अनधिकारपूर्वक दूसरों की भूमि आदि पर कब्जा कर लिया जाता है, छोटी-छोटी बातों को लेकर भाई-भाई, एक ही सम्प्रदाय के लोग कोर्ट में चले जाते हैं। आज अयोध्या मामला, अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का मुद्दा आदि इसी के उदाहरण हैं। अत: अवग्रह सिद्धान्त को नैतिकता के साथ निभाया जाए तो कई पारिवारिक एवं साम्प्रदायिक समस्याओं का समाधान हो सकता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो युद्ध स्वयं के वर्चस्व को स्थापित करने हेतु हो रहे हैं तथा एक दूसरे के क्षेत्रों में जो अनधिकारिक प्रवेश किया जा रहा है, इन समस्याओं के समाधान में अवग्रह का नियम बहुपयोगी हो सकता है।

यदि प्रबंधन के परिप्रेक्ष्य में अवग्रह की उपयुक्तता पर चिंतन किया जाए तो इसके द्वारा विशेष रूप से तनाव प्रबंधन, परिवार प्रबंधन, राष्ट्र प्रबंधन आदि में सहयोग प्राप्त हो सकता है। यदि किसी स्थान पर अतिथि रूप में अथवा पेइंग-गेस्ट के रूप में रुका जाए तो भी उसका उपयोग इसी तरह किया जाए, जिससे आपसी सम्बन्धों में मृदुता बनी रहे तथा क्लेश आदि उत्पन्न न हो। इसी प्रकार चोरीपूर्वक रहने से भय आदि की स्थिति बनी रहती है, जो तनाव वृद्धि का कारण बनता है। अत: अवग्रह के माध्यम से मालिक की इच्छा के अनुसार प्रवृत्ति करने पर तनाव के कारण ही उत्पन्न नहीं होते। इससे तनाव प्रबंधन में

सहयोग मिलता है। इसी प्रकार स्वयं को जितना हिस्सा प्राप्त हुआ है उसमें संतुष्ट रहने का मनोभाव पैदा होता है। साथ ही पारिवारिक क्लेश न होने पर आपसी सहयोग की भावना बढ़ती है, इससे परिवार प्रबंधन में सहायता प्राप्त हो सकती है। इसी तरह आज राष्ट्र में व्याप्त क्षेत्रवाद, प्रदेशवाद आदि के कारण जो नित नई समस्याएँ उत्पन्न होती रहती है, उससे आपसी बंधुत्व की भावना नष्ट हो रही है। अवग्रह याचना के माध्यम से इसको भी नियंत्रित किया जा सकता है तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सुधारते हुए उनका भी प्रबंधन संभव है।

## उपसंहार

जिनशासन में अवग्रह अर्थात स्थान आदि की प्राप्ति हेतु अनुमति ग्रहण करने का गरिमामय स्थान है। अवग्रह के माध्यम से मुनि धर्म की सर्व आराधनाएँ सम्यक रूप से संचालित होती हैं, उच्छृंखलता के समस्त द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं तथा अवग्रह दाता के प्रति जन मानस में अनुमोदना के भाव उत्पन्न होते हैं।

अवग्रह मर्यादा की प्राचीनता जैनागमों से प्रमाणित है। यह सामाचारी तीर्थंकर प्रणीत है, जिसका उल्लेख सर्वप्रथम आचारांग सूत्र में है।[9] आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 'अवग्रह प्रतिमा' नामक एक स्वतन्त्र अध्ययन भी है। उसमें दो उद्देशकों द्वारा इस विषय को भलीभाँति स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात यह वर्णन भगवतीसूत्र में प्राप्त होता है।[10] इसी क्रम में बृहत्कल्पभाष्य'', व्यवहारभाष्य[12], आचारांगचूर्णि एवं टीका में भी इसका विवेचन देखा जाता है।

तदनन्तर मध्यकालवर्ती साहित्य के अन्तर्गत प्रवचनसारोद्धार[13] में पाँच अवग्रहों की चर्चा मात्र उपलब्ध है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रथम आगम आचारांगसूत्र में अवग्रह का विस्तृत विवेचन है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो उपलब्ध ग्रन्थों में अवग्रह का स्वरूप, अवग्रह के प्रकार, अवग्रह प्रतिमा आदि को लेकर कहीं असमानता नहीं है। दूसरी ओर इसकी विस्तृत व्याख्या एक मात्र आचारचूला में होने से अन्य के साथ तुलना संभव ही नहीं है।

यदि हम प्रचलित परम्पराओं में इस विधि को देखें तो सर्वत्र समरूपता के ही दर्शन होते हैं, क्योंकि यह आचरणा आगम सम्मत होने से इसमें सभी का

मतैक्य है। हिन्दू संस्कृति में इसका पृथक से तो कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता है यद्यपि संन्यासी के द्वारा भिक्षा, वस्त्र, पात्रादि वस्तुएँ याचनापूर्वक ग्रहण की जाती है। इससे अवग्रह की पुष्टि हो जाती है।[14]

यदि हम अवग्रह की उपादेयता के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो लौकिक और लोकोत्तर उभय जीवन में परिवार के मुखिया से अनुमति प्राप्त कर किसी कार्य को करने पर उसके श्रेष्ठ परिणाम ही देखे जाते हैं। इससे बड़ों का सम्मान एवं स्वयं में विनय का गुण विकसित होता है। आपसी सद्भाव और स्नेह सरिता प्रवहमान होने से परिवार, समाज एवं संघ एक सूत्र में बंध जाते हैं और जीवन की विविध समस्याओं का निराकरण हो जाता है।

## सन्दर्भ-सूची


1. *आचारांगसूत्र, अनु. मुनि सौभाग्यमल, श्रुत. 2, पृ. 392*
2. *वही, पृ. 392*
3. *(क) वही, 2/7/2/162*
   *(ख) प्रवचनसारोद्धार, 681-683*
4. *(क) श्री भिक्षु आगम विषय कोश, भा. 2, पृ. 41*
   *(ख) प्रवचनसारोद्धार, 684*
5. *बृहत्कल्पभाष्य, 684 की चूर्णि*
6. *बृहत्कल्पभाष्य, गा. 4845 की टीका*
7. *आचारांगसूत्र, भाग 2, पृ. 394*
8. *वही, 2/7/2/157*
9. *वही, 2/7*
10. *व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 12/5/10*
11. *बृहत्कल्पभाष्य, 669-670 की टीका*
12. *व्यवहारभाष्य, 2216-2223*
13. *प्रवचनसारोद्धार, गा. 681-684*
14. *धर्मशास्त्र का इतिहास, भा. 1, पृ. 491-493*


●

## अध्याय-4

# मुनियों के पारस्परिक आदान-प्रदान (साम्भोगिक) सम्बन्धित विधि-नियम

जैन मुनि भिक्षाचर्या के माध्यम से उचित मात्रा में आहार आदि ग्रहण करते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि मुनि को प्राप्त आहार में से सहवर्ती अन्य मुनियों को कुछ देना हो तो कैसे संभव है? इसके जवाब में कहा जाता है कि मुनि के द्वारा आहार ग्रहण करने की दो विधियाँ हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार मुनि जिस घर में भिक्षा प्राप्त करता है, वह उसे वहीं उदरस्थ कर लेता है, क्योंकि वह पाणिपात्री होता है अत: आहार को अपने निवास स्थल पर नहीं ले जाता। इसलिए उनमें परस्पर आहार के आदान-प्रदान का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में जो मुनि पात्र के द्वारा भिक्षा ग्रहण करते हैं, वे उसे उपाश्रय आदि में लाकर उदरस्थ करते हैं। उनके लिए यह प्रश्न दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि वे अपने वर्ग में उस भिक्षा का आदान-प्रदान करें? अथवा दूसरा यह कि वे किसी असहाय, निर्बल, क्षुधा-व्याकुल गृहस्थ अथवा तापस आदि अन्य परम्परा के भिक्षु को वह आहार प्रदान करें? इस सम्बन्ध में यदि हम आगमिक आधारों को ढूँढ़ते हैं तो पाते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में प्रथम तो खुले पात्र में भिक्षा लाने का निषेध किया गया है। साथ ही खुले स्थान में आहार ग्रहण करने का भी निषेध किया गया है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि मुनि को अपने लिए प्राप्त भिक्षा में से किसी अन्य व्यक्ति को आहार नहीं देना चाहिए। इस सम्बन्ध में उनका कथन यह है कि भिक्षु अपने लिए ही भिक्षा माँगकर लाता है और गृहस्थ भी उसके उपभोग के लिए भिक्षा देते हैं, अत: अपनी भिक्षा में से किसी को देना दाता की आज्ञा या इच्छा का उल्लंघन है। इससे अदत्तादान का दोष भी लगता है। अत: जैन साधु-साध्वी अपने लिये प्राप्त की

गई भिक्षा अन्य किसी को नहीं दे सकते हैं। किन्तु दूसरी ओर श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में यह भी उल्लेख है कि जो साधु संविभाग करके नहीं खाता है, वह मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता है। तो यह संविभाग किसके बीच में हो, इसके बारे में सामान्यतया यही माना गया है कि ऐसा संविभाग अपने वर्ग में ही करना चाहिए। इसे शास्त्रीय भाषा में साम्भोगिक व्यवहार कहा गया है।

## संभोग का अर्थ

निशीथ चूर्णिकार के मतानुसार संभोग का अर्थ है–एक मण्डली में भोजन करना।[1]

श्वेताम्बर परम्परा में साधु-साध्वियों के स्वाध्याय, भोजन, वन्दन आदि के पारस्परिक सम्बन्ध एवं व्यवहार को 'सम्भोग' शब्द से अभिहित किया गया है। एक मण्डली में आहारादि करने वाले सांभोगिक कहलाते हैं। यह प्रतीकात्मक अर्थ है। सामान्यत: स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि सभी मंडलियों में जिसका सम्बन्ध होता है, वह सांभोगिक कहलाता है।[2]

निशीथभाष्य के अनुसार स्थितिकल्प, स्थापनाकल्प और उत्तरगुणकल्प–ये तीनों कल्प (आचार मर्यादाएँ) जिनके समान होते हैं, वे मुनि सांभोगिक कहलाते हैं और जिन मुनियों में ये कल्प समान नहीं होते, वे असांभोगिक कहलाते हैं तथा जिस मुनि का सभी मंडलियों से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है, वह विसांभोगिक कहलाता है।[3]

पूर्वनिर्दिष्ट सात मंडली के नाम हैं– 1. सूत्र मंडली 2. अर्थ मंडली 3. भोजन मंडली 4. काल प्रतिलेखन मंडली 5. आवश्यक मंडली 6. स्वाध्याय मंडली और 7. संस्तारक मंडली।

सांभोगिक मुनि भी सदृशकल्पी और असदृशकल्पी ऐसे दो प्रकार के होते हैं। जिन मुनियों में दशविध स्थितकल्प, द्विविध स्थापना कल्प और उत्तरगुणकल्प समान होते हैं, वह सदृशकल्पी सांभोगिक हैं।[4]

यहाँ स्थितकल्पी का अर्थ – अचेलक, औद्देशिकवर्जन, शय्यातर पिण्डवर्जन, राजपिण्ड परिहार, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासकल्प एवं पर्युषणाकल्प–इन दस प्रकार की सामाचारी में समानता रखने वाला साधु है।

स्थापनाकल्प दो प्रकार का होता है– 1. अकल्पस्थापनाकल्प–अकल्पनीय आहार, उपधि और शय्या को ग्रहण नहीं करने वाला मुनि अकल्पस्थापना

कल्पी कहलाता है। 2. शैक्ष स्थापनाकल्प–अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ तथा दस प्रकार के नपुंसक–इन अड़तालीस प्रकार के निषिद्ध व्यक्तियों को निष्कारण दीक्षित नहीं करने वाला शैक्ष स्थापनाकल्पी कहलाता है।[5]

उत्तरगुणकल्प–उद्गम आदि दोषों से रहित भिक्षाग्रहण करने वाला तथा समिति, गुप्ति, शीलांग और क्षमा आदि श्रमणधर्म–इन उत्तरगुणों का समान रूप से पालन करने वाला सदृशकल्पी सांभोगिक कहा जाता है और पालन नहीं करने वाला विसदृशता के कारण विसदृशकल्पी कहलाता है।[6]

उत्सर्गतः सदृशकल्पी मुनि ही सांभोगिक कहलाते हैं इसलिए उनके साथ आहार आदि का आदान-प्रदान रूप व्यवहार किया जा सकता है। जिसका सभी मंडलियों से सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया जाता है, वह विसांभोगिक कहलाता है।

## संभोग के प्रकार

व्यवहारभाष्य में संभोग के मुख्य रूप से छह प्रकार निर्दिष्ट हैं–1. ओघ अर्थात उपधि आदि 2. अभिग्रह 3. दान ग्रहण 4. अनुपालना 5. उपपात और 6. संवास।[7]

साध्वियाँ इनमें से केवल अनुपालना संभोग के द्वारा साधुओं की सांभोगिक होती हैं।

संभोग के मुख्य भेदों में पहला ओघ संभोग है वह बारह प्रकार का बतलाया गया है[8]–

1. उपधि 2. श्रुत 3. भक्तपान 4. अंजलिप्रग्रह 5. दान और 6. निकाचना 7. अभ्युत्थान 8. कृतिकर्मकरण 9. वैयावृत्त्यकरण 10. समवसरण 11. संनिषद्या और 12. कथाप्रबन्ध।

**1. उपधि संभोग–** सांभोगिक साधुओं के साथ मर्यादा के अनुसार उपधि का ग्रहण करना उपधि संभोग है। यह संभोग व्यवहारतः छह प्रकार से होता है– 1. उद्गम शुद्ध 2. उत्पादन शुद्ध 3. एषणा शुद्ध 4. परिकर्मणा शुद्ध 5. परिहरणा और 6. संयोग।

सांभोगिक द्वारा आधाकर्म आदि सोलह उद्गम दोषों से रहित वस्त्र, पात्र आदि उपधि को प्राप्त करना, उद्गमशुद्ध उपधि संभोग है। ज्ञातव्य है कि सांभोगिक साधु जिस दोष से अशुद्ध उपधि का संग्रहण करता है उसे

आधाकर्मादि जनित उसी दोष का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में यह व्यवस्था भी है कि अशुद्धग्राही सांभोगिक को शिक्षा दी जाती है, यदि वह अपनी भूल स्वीकार कर पुनः उस दोष को न करने का संकल्प कर लेता है तो उसे तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त देकर सांभोगिक के रूप में मान्य कर लिया जाता है। एक बार, दो बार, तीन बार तक अशुद्ध ग्रहण कर निवृत्त हो जाए अर्थात प्रायश्चित्त पूर्वक भूलों को स्वीकार कर लिया जाए तो उसे अपने साथ रखा जा सकता है, किन्तु चौथी बार दोष लगाकर प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध भी हो जाए, तो भी उसे क्षम्य नहीं माना जाता, फिर उसे विसांभोगिक घोषित कर दिया जाता है।

यदि कोई सांभोगिक साधु पहली बार में स्वयं के दोषों को स्वीकार कर प्रायश्चित्त नहीं करता है, तो वह उसी समय विसंभोगी बन जाता है। अन्यथा प्रायश्चित्त कर लेने पर तीन बार तक शुद्ध हो सकता है।

व्यवहारटीका के अनुसार जो निष्कारण अन्य सांभोगिक के साथ शुद्ध या अशुद्ध उपधि ग्रहण करता है वह भी अनुशासित करने पर दोष से निवृत्त हो जाता है तो सांभोगिक है, अन्यथा प्रथम बार में ही उसे विसांभोगिक कर दिया जाता है अर्थात फिर उसके साथ उपधि आदि के लेन-देन का व्यवहार समाप्त कर दिया जाता है।

उद्गम की तरह उत्पादना सम्बन्धी सोलह दोषों तथा एषणा सम्बन्धी दस दोषों से रहित शुद्ध उपधि आदि को संभोगी के द्वारा प्राप्त किया जाना या परस्पर में लेने-देने का व्यवहार करना उत्पादनाशुद्ध एवं एषणाशुद्ध उपधि संभोग है।

वस्त्र आदि उपधि को उचित परिमाण में व्यवस्थित कर साधु के योग्य बना देना, जैसे गणधर सांभोगिक साध्वियों के लिए उपधि का विधिपूर्वक परिकर्म कर साध्वी प्रायोग्य बनाते हैं और साध्वियों को देते हैं, यह परिकर्मणा संभोग है। इसमें भी चार विकल्प हैं–1. कारण उपस्थित होने पर विधिपूर्वक की गई 2. कारण उपस्थित होने पर अविधि पूर्वक की गई 3. निष्कारण विधिपूर्वक की गई और 4. निष्कारण अविधि पूर्वक की गई।

उक्त विकल्पों में पहला शुद्ध है, शेष भंग दूषित है। इन तीन अशुद्ध विकल्पों का सेवन करने वाला साधु प्रायश्चित्त लेकर तीसरी बार तक शुद्ध हो सकता है, इससे आगे नहीं।

सांभोगिक के साथ उपकरणों का विधिपूर्वक परिभोग करना परिहरणा संभोग है। इसमें भी पूर्ववत चार विकल्प बनते हैं। उनमें पहला विकल्प शुद्ध है।

पूर्वोल्लेखित पाँचों में से दो, तीन आदि का एक साथ प्रयोग करना संयोग संभोग है। इसमें दो के संयोग से दस, तीन के संयोग से दस, चार के संयोग से पाँच और पाँच के संयोग से एक, इस प्रकार छब्बीस भंग बनते हैं। जैसे सांभोगिक का सांभोगिक के द्वारा उद्गम और उत्पादना दोष से रहित शुद्ध उपधि ग्रहण करना–यह प्रथम भंग है। इनमें केवल साम्भोगिक वाला विकल्प शुद्ध है।[9]

**2. श्रुत संभोग –** इस व्यवस्था के अनुसार समानकल्पी साधुओं को विधिपूर्वक शास्त्र पढ़ाना अथवा अन्य सांभोगिक के समीप जाकर शास्त्र पढ़ना श्रुत संभोग है।

श्रुत संभोग रूप व्यवहार के छह प्रकार हैं– 1. वाचना 2. पृच्छना 3. प्रतिपृच्छना 4. परावर्तना 5. अनुयोगकथा और 6. संयोग विधि।

**3. भक्तपान संभोग –** इस व्यवस्था के अनुसार समानकल्पी साधुओं के साथ एक मंडली में बैठकर शुद्ध भोजन करना अथवा परस्पर में आहार का लेन-देन करना भक्तपान संभोग है।

भक्तपान रूप व्यवहार के छह प्रकार हैं– 1. उद्गम शुद्ध 2. उत्पादना शुद्ध 3. एषणा शुद्ध 4. संभुंजन 5. निसृजन और 6. संयोग विधि।

**4. अंजलि प्रग्रह संभोग –** इस नियम के अनुसार समानकल्पी साधुओं में संयम पर्याय में ज्येष्ठ सांभोगिक को वन्दन आदि करना अंजलि प्रग्रह संभोग है। इसके छह स्थान हैं– 1. वन्दना–कृतिकर्म के पच्चीस प्रकारों का प्रयोग करना 2. प्रणाम–सिर झुकाकर नमन करना 3. अंजलि–दोनों हाथ जोड़कर उन्हें ललाट पर संस्थित करते हुए प्रणाम करना 4. गुरु आलाप–भक्ति और बहुमानपूर्वक भाव को अभिव्यक्त करते हुए नमन करना 5. निषद्याकरण–सूत्रपौरुषी, अर्थपौरुषी और आलोचना–इन तीनों प्रयोजनों से गुरु के लिए आसन बिछाना और 6. संयोग–उपर्युक्त विकल्पों के संयोग से निष्पन्न विकल्प।

सांभोगिक और अन्य सांभोगिक संविग्न साधुओं के प्रति इन सभी नियमों का पालन करने वाला साधु शुद्ध है।

**5. दान संभोग –** इस व्यवस्था के अनुसार समानकल्पी अथवा सांभोगिक साधुओं को शय्या आदि देना अथवा परस्पर में शय्यादि के लेन-देन का व्यवहार करना दान संभोग है।

यह संभोग छह प्रकार से संभव होता है – 1. शय्या 2. उपधि 3. आहार 4. शिष्यगण 5. स्वाध्याय और 6. संयोग विधिविभक्त।

**6. निकाचना (निमन्त्रण) संभोग –** समानकल्पी साधुओं को आहार आदि के लिए निमन्त्रित करना निकाचना संभोग है। इसके भी शय्या, उपधि आदि छह स्थान हैं।

**7. अभ्युत्थान संभोग –** इस व्यवस्था के अनुसार समानकल्पी ज्येष्ठ साधुओं को आते हुए देखकर आसन से उठना, उनका विनय आदि करना अभ्युत्थान संभोग है। यह सांभोगिक व्यवहार छह प्रकार से होता है– 1. अभ्युत्थान–ज्येष्ठ मुनि के आने पर खड़े होना 2. आसन–आगन्तुक ज्येष्ठ भिक्षु को आसन देना 3. किंकर–आचार्य आदि से कहना–आज्ञा दीजिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? 4. अभ्यासकरण–आचार्य के समीप रहना 5. अविभक्ति–अन्य सांभोगिक के साथ एक मण्डली में भोजन नहीं किया जाता, उनकी अविभक्ति की जा सकती है, जैसे स्थविरा साध्वी को कहना–तुम हमारी माता के समान हो और 6. संयोग–उक्त सभी नियमों का पालन करना।

**8. कृतकर्म करण संभोग –** समानकल्पी मुनियों को विधिपूर्वक वंदना आदि करना कृतकर्मकरण संभोग है। इस संभोग रूप व्यवहार के छह प्रकार हैं– 1. सूत्र–वंदनसूत्रों का अस्खलित उच्चारण करना 2. आयाम–सूत्रोच्चारण–युक्त आवर्त्त देना 3. शिरोनत–सूत्रोच्चारणपूर्वक शिरोनमन करना 4. मूर्धा–वन्दना सूत्र की समाप्ति पर केवल सिर झुकाना 5. सूत्रवर्जित–यदि मुखरोग हो तो मानसिक सूत्रोच्चारण करते हुए आवर्त्त आदि समस्त क्रियाएं करना और 6. संयोग–उपर्युक्त सभी नियमों का पालन करना।

**9. वैयावृत्यकरण संभोग –** इस व्यवस्था के अनुसार समानकल्पी साधुओं को आहार-उपधि आदि देना, उनका मूत्रादि विसर्जित करना, कलह-शमन करना, वृद्ध आदि मुनियों का सहयोग करना वैयावृत्यकरण संभोग है।

**10. समवसरण संभोग –** इसके अनुसार व्याख्यान, वर्षावास, वाचना आदि के समय समानकल्पी साधुओं द्वारा एक स्थान पर एकत्रित होकर रहना समवसरण संभोग है।

**11. संनिषद्या संभोग –** इस नियम के अनुसार सांभोगिक साधु द्वारा अन्य सांभोगिक को आसन आदि देना अथवा दो सांभोगिक आचार्यों द्वारा अपने-अपने आसन पर बैठकर संघाटक के रूप में श्रुत परावर्तना करना संनिषद्या संभोग है।

**12. कथाप्रबन्ध संभोग –** सांभोगिक साधु द्वारा अन्य सांभोगिक के साथ पाँच प्रकार की कथा करना कथाप्रबन्ध संभोग है।

1. **अभिग्रह संभोग–** सांभोगिक साधुओं के साथ यथाशक्ति बारह तप सम्बन्धी अभिग्रह ग्रहण करना अभिग्रह संभोग है।

2. **दान ग्रहण संभोग–** सांभोगिक साधुओं में परस्पर आहार आदि का लेन-देन करना दानग्रहण संभोग है।

3. **अनुपालना संभोग–** यह साध्वीवर्ग से सम्बन्धित है। इस व्यवस्था के अनुसार सांभोगिक साधु द्वारा साध्वियों के लिए उनके योग्य क्षेत्र, उपधि आदि की विधियुत व्यवस्था करना, सहयोग करना, सुरक्षा का दायित्व निभाना आदि अनुपालना संभोग है।

4. **उपपात संभोग–** समानकल्पी साधु द्वारा अपेक्षा होने पर पाँच प्रकार की उपसंपदा ग्रहण करना, जैसे सूत्र और अर्थ के निमित्त उपसंपदा ग्रहण करना, देशान्तरगमन के इच्छुक दो आचार्यों में एक मार्गज्ञ हो और दूसरा अमार्गज्ञ हो तो उनमें अमार्गज्ञ आचार्य द्वारा मार्गज्ञ आचार्य से अनुमति लेकर उनके साथ विहरण करना आदि उपपात संभोग है।

5. **संवास संभोग–** सांभोगिक साधुओं का एक स्थानवर्ती होकर रहना संवास संभोग है। संभोग के मुख्य छह और सामान्य बारह भेदों द्वारा समानकल्पी श्रमणों के पारस्परिक व्यवहार की मर्यादा निश्चित की गई है। इनका अतिक्रमण करने पर समानकल्पी साधु या साध्वी के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है। असमान सामाचारी साधुओं के साथ उपधि, शय्या आदि का आदान-प्रदान करने पर दोनों प्रायश्चित्त के भागी बनते हैं। अत: यह व्यवहार सदृश सामाचारी का पालन करने वाले साधुओं में ही होता है।

## उपसंहार

समान सामाचारी का पालन करने वाला मुनि अथवा जिसका अन्य मुनियों के साथ मंडली व्यवस्था का संबंध हो, वह साम्भोगिक कहलाता है। वर्तमान में

गच्छबद्ध या समुदायबद्ध साधु, जो एक साथ मंडली में बैठकर आहारादि करते हैं या परस्पर उपकरण आदि का आदान-प्रदान करते हैं, वे साम्भोगिक कहलाते हैं। आगमों में साम्भोगिक सामाचारी के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। आचारचूला में कहा गया है कि किसी भिक्षु द्वारा अतिरिक्त भोजन ग्रहण कर लिया जाए और उससे उतना खाया न जा सके तो उस स्थिति में यदि वहाँ अपरिहारिक सांभोगिक-समनोज्ञ भिक्षु समीप में हों तो उन्हें बिना पूछे, बिना आमन्त्रित किए अवशिष्ट आहार परिष्ठापित नहीं करना चाहिए, अन्यथा वह मायास्थान का संस्पर्श करता है।[10] इस प्रकार सांभोगिक शब्द अतिरिक्त आहार का सदुपयोग करने के सन्दर्भ में व्यवहृत हुआ है। इससे इस व्यवस्था की प्राचीनता एवं मूल्यवत्ता भी स्पष्ट होती है।

स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि तीन कारणों से श्रमण अपने साधर्मिक सांभोगिक को विसांभोगिक करता हुआ प्रभु आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है–1. स्वयं किसी को सामाचारी के प्रतिकूल आचरण करते हुए देखकर, 2. श्रद्धा से सुनकर, 3. तीन बार अनाचार का प्रायश्चित्त देने के बाद चौथी बार प्रायश्चित्त के योग्य न होने के कारण।[11] इसी प्रकार पाँच स्थानों से भी सांभोगिक को विसांभोगिक (मंडली निर्गत) करने वाला मुनि आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।[12]

इसमें यह भी निर्दिष्ट है कि जो मुनि आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, ज्ञान, दर्शन और चारित्र– इन नौ स्थानों का प्रत्यनीक होता है, उसे विसांभोगिक कर दिया जाता है। यद्यपि संभोग के भेद-प्रभेद की चर्चा प्राप्त नहीं होती है।[13]

संभोग के बारह प्रकार सर्वप्रथम समवायांगसूत्र में मिलते हैं,[14] जो संभोग की विधि-व्यवस्था का सम्यक स्वरूप उपदर्शित करते हैं। इसके अनन्तर भगवती में उल्लेख है कि सांभोगिक का भक्ति, बहुमान और वर्णसंज्वलन करना अर्थात उनके योग्य गौरव बढ़ाना अनाशातना दर्शन विनय है।[15]

बृहत्कल्पसूत्र में बारह सांभोगिक व्यवहारों का वर्णन करते हुए औत्सर्गिक विधि से साध्वियों के साथ छह प्रकार के सांभोगिक व्यवहार रखने का निर्देश दिया गया है। तदनुसार साध्वियों के साथ एक मांडलिक आहार का व्यवहार नहीं होता है तथा आगाढ़ कारण के बिना उनके साथ आहारादि का लेन-देन भी

नहीं होता है, तो भी वे साधु-साध्वी एक आचार्य की आज्ञा में होने से और एक गच्छ बद्ध होने से सांभोगिक कहे जाते हैं।[16] इस सूत्र में सांभोगिक व्यवहार के लिए अन्यगण में जाने की विधि भी कही गई है।[17]

व्यवहारसूत्र में कहा गया है कि जो साधु और साध्वियाँ साम्भोगिक हैं उन्हें परस्पर एक-दूसरे के समीप आलोचना करना नहीं कल्पता है अर्थात साधु और साध्वी समानकल्पी होने के बावजूद साधु अपने दोषों की आलोचना एवं प्रायश्चित्त आचार्य-उपाध्याय आदि के पास ही करें और साध्वियाँ अपनी आलोचना प्रवर्त्तिनी, स्थविरा आदि योग्य श्रमणियों के पास ही करें, यही विधिमार्ग या उत्सर्ग मार्ग है।[18]

अपवादमार्ग के अनुसार किसी गण में साधु या साध्वियों में कभी कोई आलोचना श्रवण के योग्य न हो या प्रायश्चित्त देने योग्य न हो तब परिस्थितिवश साधु स्वगच्छीय साध्वी के पास आलोचना, प्रतिक्रमण आदि कर सकता है और साध्वी स्वगच्छीय साधु के पास आलोचना आदि कर सकती है।[19]

इस विधान से यह स्पष्ट है कि सामान्यतया एक गच्छ के साधु-साध्वियों को भी परस्पर आलोचना, प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए। पारस्परिक आलोचना के निषेध का मुख्य कारण यह है कि कदाच साधु या साध्वी को चतुर्थव्रत भंग सम्बन्धी आलोचना करनी हो और आलोचना सुनने वाला साधु या साध्वी भी कामवासना से पराभूत हो, तो ऐसे अवसर पर उसे अपने भाव प्रकट करने का अवसर मिल जाता है और वह कह सकता है कि 'तुम्हें प्रायश्चित्त लेना ही है तो एक बार मेरी इच्छा भी पूर्ण कर दो, फिर एक साथ प्रायश्चित्त हो जाएगा।' इस प्रकार परस्पर आलोचना के कारण एक दूसरे का अधिकाधिक पतन होने की संभावना रहती है। अन्य दोषों की आलोचना करते समय भी एकांत में साधु-साध्वी का सम्पर्क होने से ऐसे दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। ऐसे ही कारणों से स्वाध्याय या वाचना आदि के सिवाय साधु-साध्वी के परस्पर सभी प्रकार का संपर्क वर्जित है। इसी कारण बृहत्कल्पसूत्र में साधु को साध्वियों के उपाश्रय में खड़े रहना, बैठना, आहार करना आदि 16 प्रकार के कृत्यों का निषेध किया गया है।

इसी प्रकार सांभोगिक साधु-साध्वियों को परस्पर एक-दूसरे की सेवा-

शुश्रूषा भी नहीं करनी चाहिए। पारस्परिक व्यवहारों के निषेध का मुख्य कारण यह है कि इन प्रवृत्तियों से अति सम्पर्क, मोहवृद्धि होने के साथ-साथ जन साधारण में कई प्रकार की कुशंकाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि जैनागमों में सांभोगिक का स्वरूप, उसके प्रकार, पारस्परिक आदान-प्रदान के नियम, समानकल्पी साधु-साध्वियों के विधि-निषेध आदि का सुव्यवस्थित वर्णन है।

यदि इस सम्बन्ध में आगमिक व्याख्या साहित्य का अवलोकन करें तो वहाँ भी व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य, निशीथभाष्य एवं इनकी टीकाओं, चूर्णियों में विवेच्य विषय का सुविस्तृत स्वरूप उपलब्ध होता है। इससे सिद्ध है कि सांभोगिक व्यवस्था प्राचीनतम है। यद्यपि प्राचीनकाल में अर्ध भरत क्षेत्र में सब संविग्न साधुओं की संभोजविधि एक रूप थी। तत्पश्चात कालदोष से ये सांभोजिक हैं और ये असांभोजिक हैं–इस प्रकार का विभाग प्रवृत्त हुआ।

यदि हम त्रिविध परम्पराओं के सन्दर्भ में इसका मूल्यांकन करें तो कह सकते हैं कि जैन धर्म की सभी आम्नायों में आज भी यह धर्म व्यवस्था जीवन्त है। सामान्यतया वर्तमान परम्परा में आचार्य अथवा साथ-साथ विहार करने वाले वर्ग में जो वरिष्ठ अथवा पदवीधारी होता है वह यथासम्भव भिक्षा के लिए नहीं जाता है। अत: वर्तमान में पूरे संघाडे के लिए कुछ मुनिगण ही भिक्षा के लिए जाते हैं और उनके द्वारा लाई गई भिक्षा का संविभाजन संघाडे के वरिष्ठ साधु या पदवीधारी के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार वर्तमान में स्वगच्छ अथवा स्ववर्ग में भिक्षा एवं उपधि आदि के आदान-प्रदान की परम्परा है, किन्तु प्राचीन काल में ऐसी परम्परा नहीं थी। अन्तकृतदशा आदि आगमों में गौतम स्वामी को स्वयं भी भिक्षा हेतु जाते हुए बताया गया है। अत: भिक्षा तो स्वकीय स्वतन्त्र रूप से लाते थे, परन्तु आगम के अनुसार लाई हुई भिक्षा को गुरु अथवा वरिष्ठ पदवीधारी साधु को बताकर उसके दोषों की शुद्धि करने तथा सवर्गीय साधुओं में उस लाई हुई भिक्षा में से यथेच्छा ग्रहण करने हेतु निमन्त्रित करने की परम्परा थी। इस प्रकार भिक्षा, उपधि आदि के सम्बन्ध में समान सामाचारी और सवर्गीय साधुओं में आदान-प्रदान होता था, किन्तु अन्य वर्ग एवं अन्य परम्परा के साधुओं में परस्पर आदान-प्रदान की प्रवृत्ति नहीं थी। आगमों में हमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि जहाँ भिन्न वर्गों में आदान-प्रदान की परम्परा हो।

तदुपरान्त आज कहीं-कहीं अतिपरिचय आदि कुछ कारणों को लेकर विसांभोगिक साधु-साध्वियों के साथ भी एक मंडली में बैठकर आहार करना, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का आदान-प्रदान करना, रजोहरण आदि उपकरण बनाकर देना, वस्त्र धोना-इत्यादि क्रियाकलाप देखे जाते हैं, जो आगम सम्मत नहीं हैं। हाँ! इतना अवश्य ध्यातव्य है कि उपसंपदा ग्रहण करने वाला भिक्षु विसांभोगिक के साथ स्वाध्यायादि आवश्यक कर्म कर सकता है।

दिगम्बर मुनि करपात्री एवं वस्त्र रहित होते हैं, अत: उनमें आहार आदि के आदान-प्रदान की संभावना नहीं होती हैं। यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द ने इस सम्बन्ध में दो प्रकार के मुनि बतलाये हैं–शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी। इनमें शुभोपयोगी श्रमण सराग चारित्र का धारक होता है। वह संयम साधना की दृष्टि से आचार्यादि को वन्दन करना, उनके लिए उठना-बैठना, ग्लानादि एवं पूज्यजनों की सेवा-शुश्रुषा करना, शिष्यों का ग्रहण करना, जिनपूजा का उपदेश देना–वगैरह व्यावहारिक प्रवृत्ति कर सकता है। जबकि शुद्धोपयोगी मुनि के लिए इस प्रकार का व्यवहार निषिद्ध है।[20]

मूलाचार में भी इस विषय पर बल देते हुए कहा गया है कि गुणाधिक श्रमण, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, साधुगण, कुल संघ और समनोज्ञ मुनियों पर किसी प्रकार की आपत्ति या उपद्रव आये तो वसति, स्थान, आसन तथा उपकरण इनका प्रतिलेखनपूर्वक उपकार करना चाहिए अर्थात इस सम्बन्ध में सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए।[21] वैदिक एवं बौद्ध परम्परा में इस तरह की आचार मर्यादाओं का परिपालन सामान्य शिष्टाचार के रूप में किया जाता है। वहाँ सांभोगिक–विसांभोगिक जैसी कोई व्यवस्था नहीं है।

## सन्दर्भ-सूची


1. *एकत्रभोजनं सम्भोग:। अहवा समं भोगो संभोगो यथोक्त विधानेनेत्यर्थ:। निशीथभाष्य, 5/64 की चूर्णि।*
2. *स्थानांग (ठाणं), 5/46, टिप्पण पृ. 620*
3. *णितिकप्पम्मि दसविहे, ठवणाकप्पे य दुविधमण्णयरे।*
   *उत्तरगुणकप्पम्मि य, जो सरिकप्पो स सम्भोगो।।*
   *निशीथभाष्य, 2149*
4. *निशीथभाष्य, 5932*

5. वही, 5934
6. वही, 5935
7. ओह अभिग्गह दाणग्गहणे, अणुपालणाय उववाते।
   संवासम्मि य छट्ठो, संभोगविधी मुणेयव्वो॥
   व्यवहारभाष्य, 2350
8. उवही सुअ भत्तपाणे, अंजली पग्गहे त्ति य।
   दायणे य निकाए अ, अब्भुट्ठाणे ति आवरे॥
   किइकम्मस्स य करणे, वेयावच्चकरणे इ अ।
   समोसरणं संनिसिज्जा य, कहाए अ पबंधणे॥
   (क) समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 12/78
   (ख) व्यवहारभाष्य, 2351-2353
   (ग) निशीथभाष्य, 2094, 2097, 2107, 2110, 2103, 2111-2141
9. व्यवहारभाष्य, 2354 की टीका
10. आचारचूला, संपा. मधुकरमुनि, 2/1/6/311
11. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/3/350
12. वही, 5/1/46
13. वही, 9/1
14. समवायांगसूत्र, 12/78
15. भगवतीसूत्र अंगसुत्ताणि, 25/586
16. बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, पृ. 214
17. वही, 4/23-25
18. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि 5/19,20
19. वही, 5/19,20
20. प्रवचनसार, 3/45-47
21. मूलाचार, 5/390-91

●

## अध्याय-5

# उपधि और उपकरण का स्वरूप एवं प्रयोजन

चारित्र धर्म की आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न करने एवं संयम यात्रा में गतिशील रहने के लिए कुछ विशेष संसाधनों की आवश्यकता होती है। दिगम्बर मुनि साधारणत: निष्परिग्रही होते हैं किन्तु कमण्डल, मोरपिच्छी, शास्त्र आदि कुछ साधन उनके द्वारा भी स्वीकृत हैं। वस्त्र, कंबली आदि उपधि कहलाते हैं और जो साधन शारीरिक क्रियाओं हेतु उपयोगी बनते हैं जैसे पात्र, रजोहरण, आसन आदि उपकरण कहलाते हैं। बोलचाल की भाषा में भी पात्र, रजोहरण, आसन आदि के साथ उपकरण शब्द का ही प्रयोग होता है और वस्त्र आदि के साथ उपधि शब्द प्रयुक्त होता है। 'वस्त्रोपकरण' ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं होता है। यहाँ 'वस्त्र-उपधि' ऐसा प्रयोग ही रूढ़ है। स्वरूपत: धर्म साधना में उपयोगी वस्त्र-कंबली आदि उपधि एवं पात्र-रजोहरण आदि उपकरण कहे जाते हैं।

### उपधि एवं उपकरण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

'उपधि' इस शब्द में 'उप्' उपसर्ग समीपार्थक और 'धा' धातु धारण करने के अर्थ में है। इसका स्पष्टार्थ है कि जो सदैव समीप में धारण किया जाता है वह उपधि है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – जो सम्यक् प्रकार से धारण की जाती है, संगृहीत की जाती है, वह उपधि है।[1] ओघनिर्युक्ति टीका के अनुसार जो संयम के धारण-पोषण में सहयोगी हो, वह उपधि है।[2]

'उपकरण' शब्द उप्-उपसर्ग, कृ-धातु और ल्युट्-प्रत्यय से निष्पन्न है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – जिसके द्वारा विशेष क्रिया की जाती है वह उपकरण है।[3]

प्राकृत–हिन्दी कोश के अनुसार सामग्री, साधन या साधन की वस्तु उपकरण कही जाती है।[4]

सामान्यतया जिन साधनों के द्वारा धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न किये जाते हैं, वे उपधि या उपकरण कहलाते हैं।

ओघनिर्युक्ति में उपधि के समानार्थी शब्द भी बतलाये गये हैं। तदनुसार उपधि, उपग्रह, संग्रह, प्रग्रह, अवग्रह, भंडक, उपकरण, करण आदि शब्द उपधि के अर्थ का ही बोध कराते हैं।[5]

## उपधि के प्रकार

जैन आगमों में उपधि दो प्रकार की बतायी गयी है–

1. **ओघ उपधि –** जो प्रतिदिन उपयोग में आती है और जिसे समीप में रखा जाता है जैसे रजोहरण, मुखवस्त्रिका, आसन आदि ओघ उपधि है।

2. **औपग्रहिक उपधि –** जो प्रयोजन विशेष से ग्रहण की जाती हैं जैसे पाट, पट्टे आदि औपग्रहिक उपधि है।[6]

औघिक एवं औपग्रहिक दोनों प्रकार की उपधि गणना परिमाण और मान परिमाण की अपेक्षा से दो-दो प्रकार की कही गई हैं। 1. गणना परिमाण– एक दो आदि संख्या से होने वाला परिमाण गणना परिमाण है। 2. मान परिमाण- लम्बाई-गोलाई आदि के आधार पर किया जाने वाला परिमाण मान परिमाण कहलाता है।[7]

## औघिक उपधि की संख्या

आगमिक टीकाओं में जिनकल्पी मुनि के लिए बारह प्रकार की, स्थविरकल्पी मुनि के लिए चौदह प्रकार की और साध्वियों के लिए पच्चीस प्रकार की औघिक उपधि कही गई है। निर्दिष्ट संख्या से अधिक उपधि रखना औपग्रहिक उपधि है।

**जिनकल्पी मुनि की उपधि–** जिनकल्पी मुनि बारह प्रकार की गणना परिमाण वाली ओघ उपधि रख सकते हैं–

1. पात्र 2. पात्रबन्ध-पात्र बांधने का वस्त्र खण्ड (झोली) 3. पात्रस्थापन– पात्र रखने के लिए ऊनी वस्त्र का टुकड़ा (नीचे का गुच्छा) 4. पात्रकेसरिका– पात्र प्रतिलेखन का साधन (पूंजणी) 5. पडला– भिक्षार्थ गमन करते समय पात्र के ऊपर ढँका जाने वाला वस्त्र खण्ड 6. रजस्त्राण– पात्र को लपेटने का वस्त्र खण्ड 6. गोच्छक– पात्र के ऊपर बांधा जाने वाला ऊनी वस्त्र का टुकड़ा (ऊपर का गुच्छा), इस प्रकार पात्र सम्बन्धी सात उपकरण। 8-10. तीन वस्त्र • ऊनी कंबली– अकाल वेला में उपाश्रय से बाहर जाते समय ओढ़ने में उपयोगी

• सूती चद्दर– कम्बली के साथ मिलाकर ओढ़ा जाने वाला सूती वस्त्र • शरीर पर ओढ़ने की सूती चद्दर 11. रजोहरण और 12. मुखवस्त्रिका।[8]

उक्त बारह प्रकार की उपधि जिनकल्पी साधु के लिए उत्कृष्ट होती है यानी जिनकल्पी अधिक से अधिक बारह प्रकार की उपधि रख सकता है, परन्तु सभी जिनकल्पी बारह प्रकार की उपधि रखे ही, ऐसा नियम नहीं है। इनमें से इच्छानुसार उपधि रख सकता है।

निशीथभाष्य में जिनकल्पी की उपधि के सम्बन्ध में दो, तीन, चार, पाँच, नौ, दश, ग्यारह और बारह ऐसे आठ विकल्प कहे गये हैं, जैसे करपात्री और वस्त्र त्यागी जिनकल्पी मुनि के लिए रजोहरण और मुखवस्त्रिका ऐसे दो उपकरण माने गए हैं। करपात्री और वस्त्रधारी के लिए वस्त्र सहित तीन उपकरण कहे गए हैं। इस प्रकार अन्य विकल्प भी जानने चाहिए।

**स्थविरकल्पी की उपधि–** स्थविरकल्पी मुनि के लिए चौदह प्रकार के उपकरण माने गये हैं उनमें बारह उपकरण पूर्वोक्त ही हैं तथा शेष दो उपकरणों में 13वाँ मात्रक और 14वाँ चोलपट्टक है।[9]

**साध्वियों की उपधि–** जैन टीका साहित्य में साध्वियों के लिए पच्चीस प्रकार की उपधि का निर्देश किया गया है। जैन साध्वी अधिकतम पच्चीस प्रकार की उपधि रख सकती हैं। उपर्युक्त चौदह प्रकार के उपकरणों में से चोलपट्ट को छोड़कर तेरह उपकरण साध्वियों के लिए वे ही होते हैं तथा चोलपट्ट के स्थान पर चौदहवाँ उपकरण कमढ़क (शाटिका/साड़ा) होता है। शेष ग्यारह उपकरण निम्न प्रकार हैं[10]–

15. अवग्रहानन्तक– अवग्रह यानी योनि प्रदेश, अनंतक वस्त्र यानी योनि प्रदेश को ढकने का वस्त्र (लंगोटी) अवग्रहानन्तक है।

16. अवग्रहपट्टक– लंगोटी के ऊपर कमर पर लपेटने का वस्त्र।

17. अधोरुक उरू – साथल (आधी जांघों) को ढकने वाला जांघिया जैसा वस्त्र।

18. चलनिका– अधोरूक से बड़ा, घुटनों को भी ढँकने वाला बिना सिला हुआ वस्त्र।

19. अंतर्निवसिनी– कमर से लेकर पिण्डलियों तक लंबा वस्त्र, जिसे पहनते समय फिट रखा जाता है अथवा आधे घुटनों को ढँकने वाला वस्त्र।

20. बहिर्निवसिनी– कमर से लेकर पैर की एड़ियों तक ढंकने वाला लंबा वस्त्र। यह कमर पर डोरे से बंधा हुआ होता है। वर्तमान में इसे साड़ा कहते हैं।

21. कंचुकी– दोनों तरफ कसों से बांधकर शरीर पर पहना जाने वाला बिना सिला हुआ वस्त्र (चोली)।

22. उपकक्षिका– कंचुकी के ऊपर बांधा जाने वाला वस्त्र।

23. वैकक्षिका– कंचुकी और उपकक्षिका को ढँकने वाला वस्त्र विशेष।

24. संघाटी– भिक्षाचर्या, स्थंडिल, प्रवचन, महोत्सव आदि के समय ओढ़े जाने वाला वस्त्र विशेष। वर्तमान में इसे चादर कहते हैं।

## औधिक उपधि के प्रकार

जैन ग्रन्थों में जिनकल्पी, स्थविरकल्पी एवं साध्वी के लिए गणना परिमाण के अनुसार जो उपधि बतायी गई है वह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन प्रकार की होती हैं। ये प्रकार प्रायश्चित्त आदि के लिए उपयोगी बनते हैं, जैसे जघन्य उपधि गुम हो जाये तो अमुक प्रायश्चित्त, मध्यम उपधि गुम हो जाये तो अमुक प्रायश्चित्त और उत्कृष्ट उपधि गुम हो जाये तो अमुक प्रायश्चित्त आता है।[11]

• पंचवस्तुक में जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि की उत्कृष्ट उपधि चार प्रकार की, मध्यम छह प्रकार की और जघन्य चार प्रकार की कही गई है। उत्कृष्ट उपधि में तीन प्रकार के वस्त्र और पात्र ये चार उपकरण आते हैं। जघन्य उपधि में दो गुच्छा (पात्र के ऊपर बांधने का एवं पात्र के नीचे रखने का ऊनी वस्त्र खण्ड), मुखवस्त्रिका और पूंजणी ये चार उपकरण आते हैं।

• मध्यम उपधि में पडला, रजस्त्राण, पात्रस्थापन (झोली) और रजोहरण ये चार उपकरण जिनकल्पियों के हैं तथा इन चारों के साथ चोलपट्टा एवं मात्रक ऐसे छह उपकरण स्थविर कल्पियों के समझने चाहिए।[12]

• पंचवस्तुक टीका में साध्वियों की उत्कृष्ट उपधि आठ प्रकार की, मध्यम तेरह प्रकार की और जघन्य चार प्रकार की बतलायी गयी है। उत्कृष्ट उपधि में – दो सूती और एक ऊनी ऐसे तीन वस्त्र, अंतर्निवसनी, बहिर्निवसनी, संघाटी, स्कंधकरणी और पात्र– ये आठ उपकरण माने गये हैं। मध्यम उपधि में– झोली, पडला, रजोहरण, मात्रक, कमढ़क, रजस्त्राण, अवग्रहानन्तक, अवग्रहपट्ट, अधोरुक, चलनिका, उपकक्षिका, कंचुकी और वैकक्षिका ये तेरह उपकरण माने

गये हैं। जघन्य उपधि में – मुखवस्त्रिका, पूंजणी और दो गुच्छा ये चार उपकरण शामिल हैं।[13]

औघिक उपधि के जघन्य आदि प्रकारों का तात्पर्य यह है कि जैन साधु-साध्वी अल्पतम अथवा अधिकतम उतनी उपधि रख सकते हैं।

## औघिक उपधि के माप एवं प्रयोजन

ओघनिर्युक्ति, पंचवस्तुक, प्रवचनसारोद्धार आदि में औघिक उपधि का माप एवं उसके प्रयोजन इस प्रकार निरूपित हैं–

**1. पात्र–** पात्र तीन प्रकार के परिमाण वाले होते हैं 1. तीन बेंत (वितस्ति या बालिश्त) और चार अंगुल अधिक परिमाण वाला पात्र उत्कृष्ट कहलाता है, 2. तीन बेंत और चार अंगुल परिमाण वाला पात्र मध्यम कहलाता है और 3. तीन बेंत और चार अंगुल से कम परिमाण वाला पात्र जघन्य कहलाता है।[14]

**प्रयोजन –** तीर्थंकर पुरुषों ने पात्र रखने के निम्न हेतु बताये हैं – इससे षट्काय जीवों की रक्षा होती है, आधाकर्मी दोष से बचाव होता है। पात्र होने पर ही गुरु, ग्लान, बाल मुनि, राजपुत्रादि एवं आगन्तुक मुनियों को यथायोग्य आहार लाकर दिया जा सकता है तथा सामुदायिक संस्कृति एवं मंडली मर्यादाओं का पालन हो सकता है।

**2. पात्रस्थापन (झोली)–** झोली का परिमाण पात्र के माप के अनुसार होना चाहिए अथवा गांठ लगाने पर दोनों कोण चार अंगुल परिमाण युक्त होने चाहिए। प्राचीन परम्परा में झोली में गांठ नहीं लगायी जाती थी, अभी आचरणावश झोली में गांठ लगाते हैं।[15]

**प्रयोजन–** झोली का उपयोग आहार के लिए पात्रों को रखने एवं उनकी सुरक्षा के लिए किया जाता है।

**3. दो गुच्छा-पात्र केसरिका –** पात्र स्थापन, पात्र केसरिका और गोच्छग ये तीनों एक बालिश्त और चार अंगुल परिमाण वाले होने चाहिए।[16]

**प्रयोजन –** नीचे का गुच्छा रजकण आदि से पात्र का रक्षण करने हेतु उपयोगी होता है। गोच्छक (ऊपर का गुच्छा) पडले का प्रमार्जन करने में उपयोगी होता है तथा पूंजणी पात्र प्रमार्जन में उपयोगी बनती है। ओघनिर्युक्ति के अनुसार प्रत्येक मुनि एक-एक गोच्छग और पात्र स्थापन रख सकता है। प्रत्येक पात्र की एक-एक पात्र केसरिका होती है।

**4. पटल (पडला)–** पडला लम्बाई में ढाई हाथ और चौड़ाई में छत्तीस अंगुल (तीन वेंत) परिमाण वाला होना चाहिए अथवा पात्र और शरीर की ऊंचाई-मोटाई के अनुसार छोटे-बड़े होने चाहिए। आचार्य हरिभद्रसूरि के मतानुसार पडला केले के गर्भ जैसा कोमल, चिकना और वजन में हल्का होना चाहिए। पडला को मिलाने के बाद उसमें से सूर्य न दिखें वैसा मोटा होना चाहिए। काल की अपेक्षा से पडला की संख्या तीन, चार और पाँच कही गई है। वह संख्या भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की है। इस सम्बन्ध में निम्न तालिका द्रष्टव्य है–

| | ग्रीष्म | हेमन्त | वर्षा |
|---|---|---|---|
| उत्कृष्ट– मजबूत, गाढे एवं स्निग्ध | 3 | 4 | 5 |
| मध्यम– कुछ जीर्ण | 4 | 5 | 6 |
| जघन्य– जीर्ण | 5 | 6 | 7 |

इसका स्पष्टार्थ है कि ग्रीष्म ऋतु में अधिकतम तीन, मध्यम रूप से चार एवं न्यूनतम पाँच पडले रखने चाहिए। इसमें भी यदि जीर्ण वस्त्र हो तो पाँच, कुछ जीर्ण हो तो चार और मोटा हो तो तीन पडले रखने चाहिए। इसी तरह का विधान हेमन्त एवं वर्षा ऋतु में भी समझना चाहिए।

## भिन्न-भिन्न ऋतु में पटल की संख्या पृथक-पृथक क्यों?

**ग्रीष्मऋतु–** जैनाचार्यों ने पटल की भिन्न-भिन्न संख्या का कारण बताते हुए कहा है कि ग्रीष्मकाल रूक्ष होता है, अत: उस समय सचित्त रज आदि शीघ्र अचित्त बन जाती है अतएव ग्रीष्मकाल में उत्कृष्ट से तीन, मध्यम से चार और जघन्य से पाँच पडले आवश्यक माने गये हैं। ग्रीष्मऋतु में पडला की संख्या सबसे कम स्वीकारी गयी है।

**हेमन्तऋतु–** यह काल स्निग्ध होने से सचित्त रज बहुत जल्दी अचित्त रूप में परिणत नहीं होती अत: उसके आहार तक पहुँचने की पूर्ण संभावना रहती है। इसी कारण हेमन्त ऋतु में उत्कृष्ट चार, मध्यम पाँच और जघन्य छह पडले होने चाहिए।

**वर्षाऋतु–** वर्षाकाल अत्यन्त स्निग्ध होता है। इस समय सचित्त रज आदि बहुत समय के पश्चात अचित्त रूप में परिणत होती हैं इसीलिए वर्षाऋतु में उत्कृष्ट पाँच, मध्यम छह और जघन्य सात पडले रखने का विधान है।[17]

**प्रयोजन–** पडले का उपयोग पात्र को ढँकने के लिए, हवा के कारण गिरने वाले सचित्त फल, फूल, पत्र एवं सचित्त रज से आहार की रक्षा के लिए, उड़ते हुए पक्षियों के पुरीष (मल), मूत्र आदि से आहार को बचाने के लिए, संपातिम जीवों की रक्षा के लिए तथा वेदोदय होने पर विकृत लिंग को ढँकने के लिए किया जाता है।[18]

**5. रजस्त्राण–** रजस्त्राण का परिमाण पात्र के माप के अनुसार होना चाहिए अर्थात पात्र को प्रदक्षिणाकार से वेष्टित करने के बाद चार अंगुल प्रमाण लटकता रहे, उतना होना चाहिए।[19]

**प्रयोजन–** रजस्त्राण का उपयोग ग्रीष्म काल में चूहे आदि से कुरेदी हुई मिट्टी से बचाव करने, वर्षाऋतु में पानी की बूंदे, तुषार कण, सचित्त रज आदि पात्र में न गिरें इस कारण किया जाता है।[20]

**6. वस्त्र–** जिनकल्पी मुनि वस्त्र धारण नहीं करते हैं, उसके बावजूद भी ओघनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में वस्त्र का भिन्न-भिन्न माप बताया गया है। ओघनिर्युक्ति में जिनकल्पी मुनि के वस्त्र के लिए लम्बाई में स्वशरीर प्रमाण और चौड़ाई में ढाई हाथ का उल्लेख है।[21] बृहत्कल्पसूत्र में लम्बाई में साड़ा तीन हाथ और चौड़ाई में ढाई हाथ का निर्देश है[22] तथा पंचवस्तुक में ढाई हाथ लम्बे वस्त्र का वर्णन है।[23] स्थविरकल्पी मुनि का वस्त्र स्वशरीर परिमाण या उससे कुछ बड़ा होना चाहिए। स्थविर मुनि ऐसे तीन वस्त्र रख सकता है– दो सूती और एक ऊनी।[24]

**प्रयोजन–** वस्त्र का उपयोग तृण ग्रहण के निवारण के लिए, अग्नि सेवन के वर्जन के लिए, धर्म-शुक्ल ध्यान के समय शीत आदि से बचने के लिए, ग्लान के संरक्षण के लिए और मृत को आच्छादित करने के लिए किया जाता हैं।

सार रूप में निर्बल संघयण वाले साधुओं को ठण्डी में कपड़े ओढ़ लेने से घास नहीं लेनी पड़ती है और अग्नि ताप का सेवन नहीं करना पड़ता है। शीत का अनुभव न होने से धर्मध्यान और शुक्लध्यान की साधना निर्विघ्नतया होती है। इन्हीं कारणों से वस्त्र रखने का विधान है।[25]

**7. रजोहरण–** यह बत्तीस अंगुल परिमाण लम्बा होना चाहिए। उसमें चौबीस अंगुल परिमाण डंडी और आठ अंगुल परिमाण दशिया इस प्रकार

संपूर्ण रजोहरण बत्तीस अंगुल परिमाण का होना चाहिए। डंडी या दशिया परिमाण में न्यूनाधिक भी हो सकती है किन्तु दोनों को संयुक्त कर रजोहरण का परिमाण बत्तीस अंगुल होना चाहिए। इस माप में रजोहरण के भीतर के दो वस्त्र शामिल हैं।[26]

**प्रयोजन–** कोई भी वस्तु लेना हो या रखना हो, भूमि पर कायोत्सर्ग करना हो, बैठना हो, शरीर से करवट बदलनी हो, शरीर के अंगों को संकुचित करना हो आदि प्रवृत्तियाँ करने से पूर्व भूमि आदि का प्रमार्जन करने के लिए रजोहरण का उपयोग होता है। यह साधु का चिह्न होने से भी इसे रखने का विधान है।[27]

**8. मुखवस्त्रिका–** मुखवस्त्रिका चार कोण वाली तथा एक बेंत और चार अंगुल परिमाण चौरस होनी चाहिए अथवा मुख ढँक जाए उतनी चौरस होनी चाहिए। गणना की दृष्टि से प्रत्येक मुनि एक-एक मुखवस्त्रिका रख सकता है।[28]

**प्रयोजन–** मुखवस्त्रिका का उपयोग बोलते समय संपातिम जीवों की रक्षा के लिए (उड़ते हुए जीव मुख में प्रवेश कर मृत्यु को प्राप्त न हो जाएँ) तथा सचित्त रज और रेणु की प्रमार्जना के लिए किया जाता है। इसका उपयोग वसति आदि का प्रमार्जन करते समय मुख में धूल आदि प्रविष्ट न हो जाये तथा स्थंडिल भूमि पर वहाँ की अशुद्ध हवा से नाक में मस्सा न हो जाये, इन कारणों से नाक और मुंह को बांधने में भी किया जाता है।[29]

**9. मात्रक–** मगध देश में प्रसिद्ध प्रस्थ परिमाण वस्तु से अधिक वस्तु जिसमें समाविष्ट हो सके, मात्रक उतना बड़ा होना चाहिए।

| **प्रस्थ** | | **परिमाण** |
|---|---|---|
| दो असती | = | एक प्रसृति |
| दो प्रसृति | = | एक सेतिका |
| चार सेतिका | = | एक कुलब |
| चार कुलब | = | एक प्रस्थ (मगध देश का माप) |

अथवा दो कोश से विहार करके आये हुए मुनि की क्षुधा शान्त करने के लिए जितना आहार आवश्यक हो वह जिस पात्र में समा सके उतना परिमाण वाला मात्रक होना चाहिए।[30]

**प्रयोजन–** मात्रक के द्वारा आचार्य, ग्लान, प्राघूर्णक आदि के अनुकूल अलग-अलग खाद्य पदार्थ ला सकते हैं। यह इतना बड़ा होता है कि इसमें घृत

आदि दुर्लभ वस्तुएँ भी ला सकते हैं। अन्य साधुओं को पर्याप्त आहार न मिलता हो तो उनके लिए अधिक आहार ला सकते हैं। किसी देश या किसी काल में जीवसंसक्त (सचित्त) आहार-पानी मिलता हो तो उनका मात्रक में शोधन किया जा सकता है। इन कारणों से चातुर्मास में मात्रक अवश्य रखना चाहिए।[31]

**10. चोलपट्ट–** चोल अर्थात पुरुष चिह्न, पट्ट अर्थात प्रावरण वस्त्र। पुरुष चिह्न को ढँकने वाला वस्त्र चोलपट्ट कहलाता है। सामान्यतया दो तह या चार तह करने पर यह लम्बाई-चौड़ाई में एक हाथ परिमाण का होना चाहिए। उम्र की अपेक्षा चोलपट्ट दो प्रकार का कहा गया है– 1. स्थविर और 2. युवा। वयोवृद्ध साधु का चोलपट्ट चार हाथ परिमाण का और युवा साधु का चोलपट्ट दो हाथ परिमाण का होना चाहिए। आकार की दृष्टि से पतला और मोटा– दो प्रकार के चोलपट्ट माने गये हैं। उसमें वृद्ध को पतला और युवा को मोटा चोलपट्ट पहनना चाहिए।[32]

**प्रयोजन–** चोलपट्ट का उपयोग विकृत लिंग को ढँकने के लिए किया जाता है। स्वाभाविक रूप से किसी साधु का लिंग असहज हो तो उसे देखकर लोग उपहास, निन्दा आदि कर सकते हैं। यदि मुनि चपल हो तो स्त्री को देखकर या चंचल स्वभाविनी स्त्री हो तो मुनि को देखकर वासना की भावना जागृत हो सकती है। अत: शील की सुरक्षा के लिए मुनि को चोलपट्ट पहनने की अनुमति है।[33]

**11. संस्तारक उत्तरपट्ट–** संस्तारक और उत्तरपट्ट की लम्बाई ढाई हाथ और चौड़ाई एक हाथ चार अंगुल होनी चाहिए।

**प्रयोजन–** इनका उपयोग षड्निकाय जीव की सुरक्षा के लिए एवं आत्म भावों को सुस्थिर रखने के लिए होता है। शरीर पर लगने वाले रजकण से बचने के लिए भी संथारा बिछाते हैं।

**संथारा के ऊपर उत्तरपट्ट क्यों –** जैन मुनि के चार उपकरण सूती-ऊनी एवं ऊनी-सूती इस क्रम से उपयोग में लिये जाते हैं। जैसे ऊनी संस्तारक और उसके ऊपर सूती उत्तरपट्टा तथा रजोहरण के ऊपर ऊनी ओघारिया और उसके नीचे सूती ओघारिया।

ऊनी संस्तारक के ऊपर सूती उत्तरपट्ट (वस्त्र) बिछाने का प्रयोजन यह है कि यदि वस्त्र में जूं आदि उत्पन्न हो जाए या भूमि पर जीव-जन्तु आदि हों तो

उनकी सुरक्षा होती है। ओघनिर्युक्ति में कहा गया है कि पूर्वोक्त चार तरह के वस्त्रों में पसीना आदि के कारण जूं उत्पन्न हो गई हो और वह कंबली से सीधा शरीर को स्पर्श कर रही हो तो मर जाती है। अत: जूं आदि की रक्षा के निमित्त संथारा के ऊपर सूती और कोमल उत्तरपट्ट बिछाया जाता है।

दूसरा कारण यह है कि सोने की जगह प्रमार्जना करने के उपरान्त भी कुछ सूक्ष्म जीव रह सकते हैं। ऐसी स्थिति में उत्तरपट्ट युक्त संस्तारक बिछाकर शरीर को विश्राम देने से जीव हिंसा की संभावना नहीं रहती है। इसलिए पहले संथारा फिर उसके ऊपर उत्तरपट्ट बिछाते हैं। यही प्रयोजन ऊनी एवं सूती ओघारिया के संदर्भ में भी जानना चाहिए।[34]

## साध्वियों की उपधि का परिमाण एवं प्रयोजन

जैन साध्वी के लिए पच्चीस उपकरण निर्दिष्ट हैं, उनमें से वस्त्र-पात्र आदि तेरह प्रकार की उपधि का माप पूर्ववत जानना चाहिए। शेष उपधि के प्रयोजन इस प्रकार हैं–

**1. कमढ़क–** तुम्बे पर लेप किया गया यह पात्र कांसी की तासट की तरह होता है। एक साध्वी की क्षुधापूर्ति हो सके, उतने आहार परिमाण वाला यह पात्र प्रत्येक साध्वी के लिए अलग-अलग होता है, जिसमें वे आहार करती हैं।[35]

**प्रयोजन–** प्रत्येक साध्वी के लिए अलग-अलग कमढ़क रखने का प्रयोजन यह है कि स्त्री में जातिगत स्वभाव के कारण कलह-ईर्ष्यादि की संभावना रहती है, वह नहींवत हो जाती है।

**2. अवग्रहानन्तक–** अवग्रह-योनि प्रदेश, अनंतक-वस्त्र अर्थात योनिप्रदेश को ढँकने वाला वस्त्र अवग्रहानन्तक कहलाता है। यह शरीर परिमाण होना चाहिए।[36]

**प्रयोजन–** अवग्रहानन्तक का उपयोग ऋतुधर्म एवं ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए किया जाता है। यह स्निग्ध एवं गाढ़े वस्त्र का नहीं होना चाहिए तथा संख्या में एक होना चाहिए।

**3. अवग्रहपट्टक–** यह कमर परिमाण लम्बा और चार अंगुल चौड़ा होना चाहिए।

**प्रयोजन–** इसका उपयोग अवग्रहानन्तक के दोनों सिरों को टिकाने के लिए तथा कमरपट्ट की तरह कमर में बांधने के लिए किया जाता है।[37]

**4. अधोरूक–** यह वस्त्र अर्ध जानु परिमाण का होना चाहिए।

**प्रयोजन–** इसका उपयोग ब्रह्मचर्य के संरक्षार्थ किया जाता है।[38]

**5. चलनिका–** यह वस्त्र कटि परिमाण का होना चाहिए।

**प्रयोजन–** इसका उपयोग भी ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए किया जाता है।

**6. अन्तर्निवसनी–** यह वस्त्र कमर से लेकर पिण्डलियों तक लम्बा होना चाहिए।

**7. बहिर्निवसनी–** यह वस्त्र कमर से नीचे टखनों तक लम्बा होना चाहिए।

**8. कंचुकी–** यह ढाई हाथ लम्बी और एक हाथ चौड़ी अथवा शरीर प्रमाण होनी चाहिए।

**प्रयोजन–** इसका उपयोग हृदय भाग को ढँकने के लिए किया जाता है।

**9. उपकक्षिका–** यह डेढ़ हाथ लम्बी-चौड़ी होनी चाहिए।

**10. वैकक्षिका–** यह डेढ़ हाथ लम्बी-चौड़ी होनी चाहिए।

**प्रयोजन–** पूर्वोक्त दोनों उपकरणों का प्रयोजन संयम रक्षा है।[39]

**11. संघाटी–** वर्तमान में इसे चादर कहते हैं। साध्वी चार संघाटी (पछेवड़ी) रख सकती हैं। पहली चादर दो हाथ चौड़ी, दूसरी-तीसरी तीन हाथ चौड़ी और चौथी चार हाथ चौड़ी होनी चाहिए। चारों ही चादर लम्बाई में साढ़े तीन हाथ की होनी चाहिए।

**प्रयोजन–** दो हाथ की चादर का उपयोग उपाश्रय में ओढ़ने के लिए करते हैं, क्योंकि साध्वी कभी खुले बदन नहीं रह सकती। तीन हाथ की एक संघाटी भिक्षा के लिये जाते समय एवं दूसरी संघाटी मलोत्सर्ग के लिए स्थण्डिल जाते समय ओढ़ने में उपयोगी होती है। चार हाथ की संघाटी का उपयोग प्रवचन या महोत्सव आदि के समय ओढ़ने में किया जाता है। साध्वी के लिए खड़े-खड़े प्रवचन सुनने का विधान है, अत: उस समय चार हाथ की संघाटी ओढ़ने पर शरीर पूर्ण रूप से ढँका हुआ रहता है। संघाटी स्निग्ध एवं कोमल वस्त्र की होनी चाहिए।[40]

**12. स्कंधकरणी–** यह चार हाथ लम्बी और चार हाथ चौड़ी होनी चाहिए।

**प्रयोजन–** यह पवन से उड़ती हुई संघाटी आदि की रक्षा के लिए (कंधा

पर डालने में) उपयोगी होती है तथा रूपवती साध्वी के पीठ पर बांधकर कुबड़ी की तरह विरूप करने में भी उपयोगी होती है। इसलिए इसको कुब्जकरणी भी कहते हैं।[41]

इस तरह पूर्वोक्त सभी प्रकार की उपधि प्रमाणोपेत ग्रहण करनी चाहिए। यह उपधि संघातिम और असंघातिम की दृष्टि से भी दो प्रकार की होती है– 1. संघातिम– दो या तीन वस्त्र जोड़कर या टुकड़ा जोड़कर बनायी गई उपधि संघातिम कहलाती है। 2. असंघातिम – वस्त्र, पात्र आदि अखंडित उपधि असंघातिम कहलाती है।[42]

## औपग्रहिक उपधि के प्रकार, माप एवं प्रयोजन

जो उपकरण नित्य उपयोगी न होने पर भी समय-समय संयम आराधना में सहायक बनते हैं, वे औपग्रहिक उपकरण कहलाते हैं। आचार्य हरिभद्र सूरि ने औपग्रहिक उपधि तीन प्रकार की कही है– 1. जघन्य, 2. मध्यम और 3. उत्कृष्ट।

**औपग्रहिक जघन्य उपधि–** औपग्रहिक जघन्य उपधि 11 प्रकार की बतायी गयी है। वह निम्नोक्त है[43]–

**1. पीठक–** काष्ठ निर्मित पट्ट या पीठिका। इसका माप लोक प्रसिद्ध है। यह पीठिका चातुर्मास में बैठने के लिए उपयोग में आती है तथा साध्वियों के उपाश्रय में पधारे हुए आचार्यादि का विनय करने के लिए आसन के रूप में सहयोगी बनती है।

**2. निषद्या–** बैठने का आसन। इसे पादप्रोंछन भी कहते हैं। यह स्वशरीर परिमाण वाला होना चाहिए। यह उपधि जिनकल्पी मुनि के पास नहीं होती है क्योंकि वे बैठते नहीं हैं।

**3. दंडक–** डंडा। इसका परिमाण प्रसिद्ध है। शरीर के अनुसार पादांगुष्ठ से लेकर नासिका तक लम्बा होना चाहिए। इसका उपयोग आत्मरक्षा, धर्मप्रभावना, उपद्रव निवारण आदि के लिए किया जाता है। यह उपकरण जिनकल्पी मुनि के पास नहीं होता है, क्योंकि वे उपद्रव का निवारण नहीं करते हैं।

**4. प्रमार्जनी–** वसति प्रमार्जन का साधन। इसे दंडासन भी कहते हैं। इसका परिमाण प्रसिद्ध है। यह जीवरक्षा के लिए उपयोगी होती है।

**5. घट्टक–** लेपकृत पात्र को चिकना करने के लिए उसके ऊपर घिसने का एक प्रकार का पत्थर घट्टक कहलाता है।

**6. डगलादि–** गुह्यप्रदेश की शुद्धि के लिए उपयोगी ईंट-पत्थर आदि को डगल कहते हैं।

**7. पिप्पलक–** मस्तक मुंडन के लिए उपयोगी अस्त्र पिप्पलक कहा जाता है।

**8. सूची–** वस्त्र सीलने के लिए बांस आदि से निर्मित सुई, सूची कहलाती है।

**9. नखरदनी–** पत्थर निर्मित नख काटने की नरणी।

**10. कर्ण शोधनक–** कान का मैल निकालने में उपयोगी सली कान खोतरणी।

**11. दंत शोधनक–** दाँत कुचरने की सली।

यह साधु-साध्वी के लिए उपयोग में आने वाली न्यूनतम उपधि मानी गई है।

**औपग्रहिक मध्यम उपधि**– इस औपग्रहिक मध्यम उपधि में अनेक प्रकार की उपधि का समावेश होता है जैसे कि[44]

**1. वर्षात्राण पंचक–** वर्षा से रक्षा करने वाले पाँच साधन– (i) कंबलमय– ऊन का बना हुआ, (ii) सूत्रमय– सूत का बना हुआ, (iii) सूचीमय– ताड़पत्र के सोयों का बना हुआ, (iv) कुटशीर्षक– पलासपत्र का बना हुआ और (v) छत्र-बांस का बना हुआ। इन पाँचों का परिमाण लोक प्रसिद्ध है।

**2. चिलिमिलि पंचक–** पाँच प्रकार के परदे – (i) सूत्रमय–सूत का परदा, (ii) ऊर्णमय–ऊन का परदा, (iii) वाकृमय– बगला आदि के पीछा का बना हुआ परदा, (iv) दंडमय– बांस आदि का गूँथा हुआ परदा और (v) कटमय– बांस की सादड़ी आदि से निर्मित परदा।

उक्त पाँच प्रकार के परदे गच्छ परिमाण के अनुसार होने चाहिए। इनका उपयोग आहारादि करते समय गृहस्थ देख न सके आदि कारणों से किया जाता है।

**3. संस्तारक द्विक–** शुषिर और अशुषिर– दो प्रकार के संस्तारक होते हैं। शुषिर– घास आदि का बनाया हुआ संथारा। अशुषिर–काष्ठ आदि का बनाया गया संथारा।

इसका उपयोग शरीर के आराम एवं जीव रक्षा के लिए होता है।

**4. दंडादि पंचक–** पाँच प्रकार के दंड– (i) यष्टि– यह साढ़े तीन हाथ लम्बा देह परिमाण होता है। गोचरी करते समय गृहस्थ देखे नहीं, इसलिए यवनिका बांधने में उपयोगी होता है।

(ii) वियष्टि– यह यष्टि से चार अंगुल कम प्रमाण वाला होता है। इसका उपयोग उपाश्रय के दरवाजे को बन्द करके अटकाने में होता है।

(iii) दण्ड– यह कंधे से लेकर नीचे तक लंबा होता है। इसका उपयोग शीतोष्ण काल में गोचरी जाते समय द्विपद (कंगारू आदि), चतुष्पद (कुत्ता,गधा आदि) अथवा शिकारी पशुओं का निवारण करने के लिए, जंगल में व्याघ्र-चोरादि के उपद्रव के समय सुरक्षा के लिए एवं वृद्ध व्यक्ति को चलते समय सहारा लेने के लिए किया जाता है।

(iv) विदण्ड– यह ऊँचाई में कांख परिमाण का होता है। इसका उपयोग वर्षाकाल में गोचरी जाते समय किया जाता है। यह लम्बाई में छोटा होने से वर्षाकाल में कम्बली के भीतर रखा जा सकता है जिससे अप्काय की विराधना नहीं होती है।

(v) नालिका– यह शरीर से चार अंगुल अधिक अथवा तीन हाथ सोलह अंगुल परिमाणवाली होती है। विहार करते समय नदी, बावड़ी आदि में उतरना पड़े तो इसके द्वारा पानी मापा जाता है।

**5. मात्रक त्रिक–** तीन प्रकार की कुंडी। इसमें से एक मूत्र विसर्जन के लिए, दूसरी मल विसर्जन के लिए और तीसरी श्लेष्म विसर्जन के लिए उपयोग में आती है।

**6. चर्म त्रिक–** चमड़े के बने हुए तीन प्रकार के साधन।

(i) तलिया– पांव बांधने का साधन। किसी कारणवश रात्रि में अथवा दिन के समय कभी उन्मार्ग पर चलना पड़े तब यह साधन पैर के तलवे पर बांधने में उपयोगी होता है। (ii) वर्ध्र-वाघरी, चमड़े की डोरी जो तलिया बांधने में काम आती है। (iii) कृत्ति– यह दावानल आदि के समय भूमि पर बिछाकर खड़े रहने में काम आता है। प्रवचनसारोद्धार में खल्लग एवं कोष इन दो सहित पाँच प्रकार के चर्म का निर्देश है। (iv) खल्लग-वायु रोग से जिसके पांव फट गये हों उसके पाँव में पहनने के लिए उपयोगी चर्म और (v) कोष– थैली, नखरदानी आदि

शस्त्र रखने का साधन।

**7. पट्टद्विक–** संथारा और उत्तरपट्ट। ये दोनों ढाई हाथ लम्बे और एक हाथ चार अंगुल चौड़े होने चाहिए। संस्तारक ऊनी और उत्तरपट्ट सूती होना चाहिए।

उक्त समस्त प्रकार की उपधि मध्यम औपग्रहिक कहलाती है। तदुपरान्त साध्वियों की मध्यम उपधि में वारक यानी पानी रखने के साधन का भी निर्देश है। यदि उपाश्रय गांव से दूर हो तो वारक रखने की अनुज्ञा है।

**औपग्रहिक उत्कृष्ट उपधि–** उत्कृष्ट प्रकार की औपग्रहिक उपधि में निम्न उपकरण आते हैं[45]–

**1. अक्ष–** स्थापनाचार्य के लिए उपयोगी चंदन।

**2. संथारा–** काष्ठ पट्ट।

**3. पुस्तक पंचक–** पाँच प्रकार के आकार वाली पुस्तकें–

(i) गंडिका– इस पुस्तक की चौड़ाई एवं मोटाई समान और लम्बाई अधिक होती है जैसे ताड़पत्रीय प्रतियाँ।

(ii) कच्छपी– इस पुस्तक के दोनों किनारे पतले और मध्य भाग मोटा होता है।

(iii) मुष्टिका– यह चार अंगुल लम्बी एवं गोलाकार होती है जैसे गुटकाकार पुस्तक।

(iv) संपुटफलक– इस पुस्तक के दोनों ओर जिल्द बंधी हुई होती है।

(v) छेदपाटी– यह पुस्तक लम्बाई में अधिक या न्यून, चौड़ाई में ठीक-ठीक तथा मोटाई में अल्प होती है।

**4. फलक–** लिखने की पाटी जिस पर लिखकर पढ़ सकें अथवा याद कर सकें, जिसका बैठने के लिए सहारा लिया जाये अथवा पीठ पीछे लगाने का व्याख्यान का तख्ता।

नियमत: मुनि को सहारा लेकर बैठने का निषेध है, क्योंकि प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना करने के उपरान्त भी खंभे आदि पर कुंथु, चींटी आदि जीवों का संचरण होता रहता है, इससे जीव हिंसा सम्भव है। इसलिए निरोगी साधु को खंभा, दीवार आदि का सहारा लेकर नहीं बैठना चाहिए। यदि रोग आदि का विशेष कारण हो तो दृढ़ एवं कोमल तख्ते का, पत्थर के खंभे का, चूने से पूती

दीवार का या बिंटिया बनाकर रखी गई उपधि का सहारा ले सकते हैं।[46]

पूर्वोक्त समस्त प्रकार की उपधि उत्कृष्ट औपग्रहिक मानी गई है। जो सामान्य रूप से भिक्षाटन आदि कार्यों के लिए प्राय: उपयोग में आते हैं, वे पात्र आदि ओघ उपधि हैं तथा जो कारण विशेष से उपयोग में ली जाती हैं, वे पट्टे आदि औपग्रहिक उपधि हैं।[47]

ओघनिर्युक्ति में सामान्य साधु, गुरु महाराज एवं वैयावृत्य करने वाले श्रमण के लिए औपग्रहिक उपधि का उल्लेख किया गया है। सामान्य साधु के लिए दण्ड, यष्टि, वियष्टि इन तीन को औपग्रहिक उपकरण माना गया है। गुरु के लिए उपयोगी होने से चर्मकृति, चर्मकोश चर्मपट्टिका, चर्मच्छेदन (कैंची आदि), योगपट्ट और चिलिमिलि (पर्दा) इन छह को औपग्रहिक उपकरण कहा गया है। वैयावृत्य करने वाले साधु के लिए बहत्तर परिमाण वाला नन्दी भाजन (पात्र विशेष) रखने का विधान है। इसका उपयोग शत्रु द्वारा नगर पर आक्रमण किये जाने पर, दुर्भिक्ष, अटवीगमन आदि विशेष प्रसंगों में ही किया जाता है। शेष साधुओं के लिए प्रमाणयुक्त पात्र का ही प्रावधान है।[48]

**5. निशेथिया**– निशीथ शब्द से निशेथिया की रचना हुई है। निशीथ का शाब्दिक अर्थ है रात्रि। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार मुनि आचार के सम्बन्ध में इसके दो अर्थ होते हैं– 1. रात्रि की शय्या पर बिछाने योग्य वस्त्र और 2. रात्रि में सोते समय पहनने योग्य वस्त्र। जैन ग्रन्थों में रजोहरण लपेटने के वस्त्र के रूप में भी निशेथिया शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका रूपान्तरित शब्द निषद्या है।

निषद्या का अर्थ है बैठने योग्य या शयन योग्य वस्त्र। रजोहरण लपेटने के वस्त्र को निशेथिया या निषद्या कहने के पीछे यह कारण मालूम होता है कि पूर्वकाल में जो ऊनी वस्त्र रात्रि में शयन के लिए बिछाया जाता था। उसके पुराने होने पर आगे के कुछ तन्तु निकाल कर दसिया बना लेते थे। नीचे के भाग का रजोहरण के रूप में और ऊपर के भाग का लपेटने या पकड़ने के रूप में उपयोग करते थे। इस प्रकार बिछाने योग्य वस्त्र खण्ड होने से इसका नाम निषद्या या निशेथिया है। आज इसे ओघारिया कहते हैं।

ओघनिर्युक्ति (725) के अनुसार रजोहरण की दण्डी को लपेटने का भीतरी वस्त्र एक हाथ लम्बा होना चाहिए तथा रजोहरण की दण्डी के ऊपरी भाग में

लपेटने का ऊनी वस्त्र भी एक हाथ लम्बा होना चाहिए। इस तरह सूती-ऊनी दोनों ओघारिया एक-एक हाथ लम्बा और चौड़ा होना चाहिए।

**6. पादप्रोंछन–** प्राचीन काल में 'पादप्रोंछन' शब्द अधिक प्रचलित था और इस उपकरण का प्रयोग भी पर्याप्त रूप से होता था।

यह मुनियों का औपग्रहिक उपकरण है। जीर्ण या फटे हुए कम्बल का एक हाथ लम्बा-चौड़ा टुकड़ा पादप्रोंछन कहलाता है। उत्तराध्ययनसूत्र (17/7) में इसे 'पायकंबल' कहा गया है। टीकाकार ने इसका अर्थ 'पादपोंछन' किया है।

आचारांगसूत्र के अनुसार रात्रि में या विकाल में श्रमण को दीर्घ शंका का वेग यदि प्रबल हो और प्रतिलेखित उच्चार प्रश्रवण भूमि तक पहुँचना शक्य न हो तो उपाश्रय के किसी एकान्त विभाग में मल विसर्जन करते समय पादप्रोंछन का उपयोग कर सकते हैं। यदि स्वयं का पादप्रोंछन न हो तो सहवर्ती किसी श्रमण का पादप्रोंछन लेकर भी उसका उपयोग कर सकते हैं।

सामान्यतया पैरों पर लगी हुई अचित्त रज पोंछने, रजोहरण से पादप्रोंछन का प्रमार्जन कर उस पर बैठने एवं मलविशोधन करने में पादप्रोंछन का उपयोग करते हैं। वर्तमान में इस नाम के उपकरण का प्रयोग नहीं देखा जाता। संभवत: आज जिसे आसन कहते हैं, वह पादप्रोंछन का ही परिवर्तित स्वरूप प्रतीत होता है, क्योंकि पादप्रोंछन की भांति यह भी बैठने एवं कभी-कभार पांव पोंछने आदि में उपयोगी होता है।

पादप्रोंछन और रजोहरण भिन्न-भिन्न उपकरण हैं • रजोहरण से केवल प्रमार्जन होता है, जबकि पादप्रोंछन पूर्वोक्त तीन कार्यों में उपयोगी होता है। यद्यपि व्याख्याकारों ने कहीं-कहीं रजोहरण और पादप्रोंछन को एक ही उपकरण मान लिया है, किन्तु स्थानांग में उल्लिखित पाँच प्रकार के रजोहरण में पादप्रोंछन और काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन को भिन्न उपकरण स्वीकार किया है।

• रजोहरण का काष्ठदण्ड वस्त्र वेष्टित होता है और पादप्रोंछन युक्त काष्ठदण्ड वस्त्ररहित होता है।

• श्रमण अनिवार्य आपवादिक स्थिति में काष्टदण्डयुक्त पादप्रोंछन डेढ़ मास तक रख सकता है और श्रमणी विशेष सामाचारी के अनुसार आपवादिक स्थिति में भी काष्ठदंडयुक्त पादप्रोंछन नहीं रख सकती है किन्तु काष्ठदण्डयुक्त रजोहरण दोनों को रखना अनिवार्य है।

• प्रश्नव्याकरण टीका में मुनियों के उपकरण की संख्या चौदह बताई गई है जो रजोहरण और पादप्रोंछन को भिन्न-भिन्न मानने पर ही होती है।

• रजोहरण फलियों के समूह से निर्मित औघिक उपकरण है जबकि पादप्रोंछन वस्त्रखंड होता है और वह औपग्रहिक उपकरण है। काष्ठदंडयुक्त पादप्रोंछन डंडे से बंधा हुआ वस्त्रखंड होता है। इसके द्वारा उपाश्रय के ऊपरी भाग आदि की सफाई की जाती है जिससे मकड़ी आदि के जाले न लगे।

उपर्युक्त प्रमाणों से पादप्रोंछन, काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन और रजोहरण तीनों उपकरण पृथक-पृथक सिद्ध होते हैं।[49]

**7. पात्र केसरिका**– प्राचीन ग्रन्थों में इसका अर्थ 'सूती वस्त्र' किया गया है तथा उस काल में पात्र प्रमार्जन के लिए प्रत्येक पात्र में वस्त्र का एक-एक टुकड़ा रखा जाता था, उससे पात्र प्रमार्जन होता था[50] जबकि वर्तमान काल में पात्र केसरिका के स्थान पर चरवली (पूंजणी) रखी जाती है।[51]

**8. रजोहरण**– रजोहरण की लम्बाई, चौड़ाई एवं मोटाई कितनी हो? इस सम्बन्ध में टीकाकारों का स्पष्ट मन्तव्य है कि रजोहरण की दंडी पर निशेथिया लपेटने के बाद वह पोलाश से रहित, मध्य भाग में स्थिर एवं दसियों का अंतिम भाग कोमल हो। दोनों निशेथिया उतने ही मोटे हों कि उन्हें लपेटने के पश्चात रजोहरण अंगूठा और तर्जनी के बीच आ सके। वह ऊपरी भाग में डोरी के तीन आंटे से बंधा हुआ और बत्तीस अंगुल लम्बा होना चाहिए।

ध्यातव्य है कि यदि दसियां छोटी हो तो दण्डी लम्बी और यदि दण्डी छोटी हो तो दसियां लम्बी–कुल दोनों को मिलाकर बत्तीस अंगुल लम्बा होना चाहिए।

पूर्वकाल में पाठा और दसियां अलग नहीं होती थी, अपितु कंबली के टुकड़े में से ही उसके नीचे के भाग के तन्तु निकाल कर दसियां बना लेते थे और ऊपर का भाग पाठा के रूप में रखा जाता था। इस तरह कंबली का अमुक भाग पाठा के रूप में और अमुक भाग दसियां के रूप में प्रयुक्त होता था।

ओघनिर्युक्ति (707) में यह भी निर्देश है कि दसियां एवं निशेथिया दोनों बिना गाँठ के होने चाहिए। आज भी खरतर गच्छ आदि कुछ परम्पराओं में बिना गाँठ की दसियां होती है।

## प्रतिलेखन-पिच्छी-रजोहरण : एक विमर्श

जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों में रजोहरण मुनि का एक आवश्यक उपकरण माना गया है। इसे मुख्यत: सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों की रक्षा के उद्देश्य से रखते हैं। इसे मुनि लिंग भी कहा गया है।

प्राचीन ग्रन्थों में इसके अनेक पर्यायवाची नाम प्रचलित हैं। दशवैकालिकसूत्र में इसके रजोहरण, पायपुंछन और गोच्छग- ऐसे तीन नाम मिलते हैं।[52] मूलाचार[53] और भगवती आराधना[54] में इसके लिए प्रतिलेखन नाम का उल्लेख है। परवर्ती दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्रतिलेखन के स्थान पर 'पिच्छी' शब्द का प्रयोग मिलता है।[55] श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, स्थानांग, बृहत्कल्प, निशीथ आदि सूत्रों में इसके स्वरूप, प्रयोजन आदि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।[56] विशेष रूप से निशीथ भाष्य आदि में रजोहरण और पायपुंछन को पर्यायवाची ही माना गया है। कुछ आचार्यों ने इन शब्दों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर पादप्रोंछन, पात्रप्रोंछन और रजोहरण इन तीनों को अलग-अलग उपकरण माना है। तदनुसार पादप्रोंछन- पाँव पोंछने के लिए, पात्रप्रोंछन- पात्रों की सफाई के लिए और रजोहरण- धूल एवं जीव-जन्तुओं के प्रमार्जन के लिए उपयोग में लाया जाता है।

वर्तमान की श्वेताम्बर परम्परा में उक्त तीनों अलग-अलग रखे जाते हैं, किन्तु प्राचीन काल में ये तीनों स्वतन्त्र उपकरण रहे होंगे, यह मानना मुश्किल है अन्यथा आगमिक व्याख्याकार इन्हें पर्यायवाची नहीं मानते। डॉ. सागरमल जैन के मन्तव्यानुसार निशीथसूत्र के दूसरे उद्देशक के प्रारंभ में, दशवैकालिक अध्ययन-4 तथा प्रश्नव्याकरणसूत्र अध्याय-5 में इन्हें अलग-अलग उपकरण कहा गया है। किन्तु दशवैकालिक में जहाँ रजोहरण, पायपुंछन और गोच्छग शब्द का प्रयोग हुआ है, उस स्थल को देखने से ऐसा लगता है कि ये पर्यायवाची भी रहे होंगे, क्योंकि वहाँ पीढक, फलक, शय्या और संथारग- ये चार शब्द मुख्यतया पर्यायवाची रूप में ही प्रयुक्त हैं। अत: दशवैकालिक के आधार पर इन तीनों को अलग-अलग उपकरण मानना उचित नहीं लगता। वर्तमान में भी ये तीनों स्वरूप की दृष्टि से एक समान ही हैं। वस्तुत: जैसे-जैसे साफ-सफाई का विवेक बढ़ता गया, वैसे-वैसे इन्हें अलग-अलग कर दिया गया। व्यवहारत: जिससे धूल साफ की जाती हो, उससे पाँव साफ करना और

जिससे पाँव साफ किया जाता हो उससे पात्र साफ करना उचित नहीं है, इसीलिए ये तीनों अलग-अलग उपकरण बना लिए गये। मूल में तो ये एक ही थे और इनका प्रयोजन स्थान आदि अथवा शरीर आदि को रज आदि से रहित करना था।

यहाँ ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य प्राचीन आगम आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा आदि में मुख्यत: 'पायपुंछण' शब्द का ही उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र[57] में 'पायकंबल' ऐसा प्रयोग मिलता है। इसे पृथक-पृथक दो शब्द मानने पर पात्र और कंबल जैसे दो उपकरण ज्ञात होते हैं, किन्तु उसे एक ही शब्द मानने पर इसका अर्थ भी पादप्रोंछन हो सकता है। टीकाकार ने यही अर्थ किया है क्योंकि प्राचीन उल्लेखों के अनुसार पात्रप्रोंछन एक हाथ लम्बा-चौड़ा कम्बल का टुकड़ा होता था। रजोहरण शब्द का प्रयोग परवर्ती आवश्यकसूत्र, दशवैकालिक, बृहत्कल्प, निशीथ, स्थानांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा और प्रश्नव्याकरण आदि आगमों में उपलब्ध है। गोच्छग शब्द का उल्लेख दशवैकालिक के अतिरिक्त उत्तराध्ययन, भगवती और बृहत्कल्पसूत्र में भी हुआ है।[58] यदि इन ग्रन्थों के कालक्रम को ध्यान में रखकर यह चर्चा की जाए तो स्पष्ट होता है कि आचारांग में रजोहरण या पिच्छी का उल्लेख नहीं है, मात्र पायपुंछन का उल्लेख है। डॉ. सागरमल जैन की दृष्टि से प्रारम्भ में ये दोनों ही पर्यायवाची थे।

जहाँ तक पिच्छी का प्रश्न है उसका प्रथम उल्लेख छठीं-सातवीं शती के परवर्ती ग्रन्थों में ही मिलता है। मूलाचार और भगवती आराधना के मूल में कहीं भी पिच्छी शब्द का उल्लेख न होकर सर्वत्र प्रतिलेखन का ही उल्लेख है।[59]

**पिच्छिका–** यह दिगम्बर भिक्षु-भिक्षुणियों का बाह्य उपकरण है। इसे सूक्ष्म जीवों के रक्षार्थ एवं अहिंसा महाव्रत के परिपालनार्थ आवश्यक माना गया है। पिच्छिका का अर्थ है– मोर पिच्छों का एक साथ बंधा हुआ गुच्छ। मयूरपिच्छ रखने का मुख्य प्रयोजन जीव यतना है। इसके माध्यम से देह एवं भू-स्थित सूक्ष्म जीवों का निवारण किया जाता है। यह प्रतिलेखना में विशेष उपयोगी बनती है तथा सामायिक, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित, आहार आदि अनेक क्रियाओं में संयमोपकरण का कार्य भी करती है।

मयूरपिच्छी में पाँच गुण हैं– 1. धूलि को ग्रहण नहीं करना, 2. पसीने को ग्रहण नहीं करना, 3. मृदुता–चक्षु में फिराने पर भी पीड़ा नहीं करना, 4. सुकुमारता अर्थात सुन्दर और कोमल होती है तथा 5. लघुता– यह उठाने में हल्की होती है।[60] वस्तुत: यह इतनी कोमल होती है कि इसके स्पर्श से सूक्ष्म जीवों का थोड़ा भी घात नहीं होता है। नमनशील होने से इसके तन्तु शीघ्र झुक जाते हैं और इससे प्रतिलेखना काल में जीवों को बाधा नहीं होती है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि चक्षु से भी प्रमार्जन करना संभव है तब पिच्छिका धारण करना क्यों आवश्यक है? इसके समाधान में बताते हैं कि बहुत से एकेन्द्रिय एवं बेइन्द्रिय आदि जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे चर्मचक्षु से ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। अत: उन जीवों की रक्षा के लिए एवं संयम पालन के लिए मुनियों को मयूरपिच्छ रखना अनिवार्य है।[61]

मूलाचार में मयूरपिच्छ की उपादेयता को बतलाते हुए कहा गया है कि पिच्छिका के अभाव में साधु-साधु नहीं होता। जो साधु रात्रि में शयन करने के बाद मल-मूत्रादि के लिए पुन: उठते हैं, वे अंधेरे में प्रतिलेखन किये बिना मल-मूत्रादि का विसर्जन करें, संस्तारक पर लेट जायें या करवट आदि बदलें तो निश्चित ही जीव वध होता है, अत: साधु को पिच्छिका अवश्य रखनी चाहिए।[62]

नीतिसार में कहा गया है कि छाया में, आतप में, छाया से आतप में आने से पूर्व एवं आतप से छाया में आने से पूर्व तथा एक स्थान से दूसरे स्थान में गमनागमन करने से पूर्व मृदुतापूर्वक पिच्छी से शरीर का आलेखन कर लेना चाहिए।[63] मूलाचार में प्रतिलेखना योग्य स्थानों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि कायोत्सर्ग करते समय, खड़े होते समय, गमन करते समय, कमण्डलु ग्रहण करते समय, पुस्तकादि रखते समय, पाट आदि लेते समय, हाथ-पैर सिकोड़ते या फैलाते समय तथा आहार के अनन्तर उच्छिष्ट का परिमार्जन करते समय निश्चित ही प्रतिलेखन करना चाहिए, क्योंकि यह श्रमणत्व का चिह्न है।[64] भगवती आराधना के अनुसार यदि कोई श्रमण पिच्छिका ग्रहण किये बिना सात कदम भी गमन करता है तो कायोत्सर्ग द्वारा उस दोष की शुद्धि होती है, एक कोश गमन करने पर एक उपवास तथा इससे अधिक दोष लगने पर दुगुने उपवास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[65]

स्पष्ट है कि शारीरिक हलन-चलन जैसी प्रत्येक क्रिया में पिच्छिका का उपयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से जीवदया का पालन होता है। जन समुदाय में 'यह मुनि है' ऐसा विश्वास उत्पन्न होता है।[66] स्वयं के हृदय में भी अहिंसादि महाव्रतों के पोषण का संकल्प बल जागृत होता है। दूसरे, सर्प, बिच्छु आदि विषधर जीव-जन्तु इसके समीप नहीं आ सकते तथा इसका निर्माण भी प्राणियों के घातपूर्वक नहीं होता। प्रत्युत कार्तिक मास में मोर के पंख स्वयं झड़ जाते हैं। इस कारण मोर पंख सर्वथा निर्दोष होते हैं।

**कमण्डलु–** जिस प्रकार जीवदया एवं प्रतिलेखन के लिए पिच्छिका का होना अनिवार्य है, उसी तरह बाह्यशुद्धि के लिए कमण्डलु भी एक आवश्यक उपकरण है। हाथ-पैर के प्रक्षालन एवं मल-मूत्र त्याग के बाद अपान शुद्धि के लिए इसमें प्रासुक जल रखते हैं, अत: इसे शौचोपकरण भी कहते हैं।[67]

आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे शौचोपकरण के रूप में उल्लिखित किया है।[68] आचार्य वसुनन्दि ने प्रतिलेखन करने योग्य उपकरणों के प्रसंग में इसके लिए 'कुण्डिका' शब्द का प्रयोग किया है और कहा है कि कुण्डिका ग्रहण करते समय उसका पिच्छि से अवश्य प्रमार्जन करना चाहिए।[69] कमण्डलु में समूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति की पूर्ण संभावना रहती है। अत: इसे प्रतिपक्ष के अनन्तर प्रक्षालित करते रहना चाहिए। इस नियम का अतिक्रमण करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है।[70]

## कौनसी उपधि कितनी संख्या में ?

सामान्यतया सभी प्रकार की उपधि संख्या में एक-एक रखनी चाहिए, किन्तु काल विशेष में दुगुनी उपधि रखने का भी उल्लेख मिलता है। आचार्य मलयगिरि (ओघनिर्युक्ति, 726) ने कहा है कि वर्षाऋतु में औपग्रहिक उपधि दुगुनी रखनी चाहिए। इसके साथ ही आहारपात्र को ढँकने में उपयोगी पडले भी दुगुने रखने चाहिए। निर्दिष्ट उपधि को दुगुना रखने से आत्मा और संयम दोनों का संरक्षण होता है। जैसे वर्षा काल में ओढ़ने के लिए एक ही वस्त्र हो और बाहर जाने वाले साधु का वस्त्र भीग गया हो, तब दूसरा न बदलने से सर्दी प्रकोप के कारण उदरशूल आदि रोगोत्पत्ति हो सकती हैं और मृत्यु भी हो सकती है। यदि ओढ़ा हुआ वस्त्र अत्यन्त मलीन हो तो वर्षा में भीगने पर अप्काय जीवों की विराधना भी होती है। इसीलिए वर्षाकाल में उपयोगी उपधि दुगुनी रखनी चाहिए।

## उपधि की आवश्यकता क्यों?

उपधि या उपकरण धर्म साधना में उपयोगी होने के कारण उन्हें परिग्रह रूप नहीं माना है। जैन आचरणा में वस्तु या पदार्थ को परिग्रह नहीं कहा है, अपितु पदार्थ के प्रति होने वाली आसक्ति को परिग्रह माना है। आचार्य उमास्वातिजी कहते हैं 'मूर्च्छा परिग्रहो'– मूर्च्छा या आसक्ति परिग्रह है।[71] यदि इन उपकरणों का प्रयोग आत्मविशुद्धि के लिए किया जाता है तो वस्त्र-पात्र आदि उपकरण धारण करने वाले मुनि को परिग्रही नहीं कहा जाएगा, क्योंकि उसके धर्मोपकरण परिग्रह नहीं है।[72]

आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि तीर्थंकरों और गणधरों ने आसक्ति रहित साधुओं के लिए औघिक और औपग्रहिक– इन दोनों प्रकार की उपधि को चारित्र की सम्यक् साधना हेतु आवश्यक माना है। यदि इनका उपयोग यथोक्त परिमाण एवं विधि-नियम के साथ किया जाये तो ये असंयम से निवृत्त करते हैं तथा यथोक्त परिमाण में एवं यथोक्त संख्या में इनका उपयोग न किया जाये तो उपधि रखने में आज्ञाभंगादि दोष लगते हैं।[73] इससे सिद्ध होता है कि वस्तु परिग्रह नहीं है बल्कि उससे जुड़ी हुई आसक्ति परिग्रह है। दूसरी ओर धर्म साधना में सहयोगी उपकरणों का निर्ममत्व भाव से उपयोग किया जाये तो ये कर्म निर्जरा के पारम्परिक हेतु बनते हैं। इसी दृष्टि से उपधि परिग्रह नहीं हैं।

स्वरूपतया जीवरक्षा और संयम साधना की दृष्टि से उपकरणों की आवश्यकता स्वीकारी गई है। इन उपकरणों के माध्यम से चारित्र धर्म की विशेष रूप से उपासना की जा सकती है।

## वर्तमान काल में प्रयुक्त उपकरण

ओघनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में जिनकल्पी के लिए 12, सामान्य मुनि के लिए 14 एवं साध्वी के लिए 25 उपकरणों का निर्देश है। वर्तमान में इनसे भिन्न कुछ नये उपकरणों का भी प्रयोग होने लगा है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में सामान्यतया निम्नलिखित उपकरण प्रचलन में हैं– 1. पात्र 2. छोटे-बड़े अनेक प्रकार के पात्र 3. पतरी 4. प्याला 4. प्लास्टिक प्याला 6. टोपसी 7. तिरपणी 8. करेटा 9. पात्रादि के ढक्कन 10. जलपात्र-मिट्टी, प्लास्टिक, तुम्बा, तांबा आदि के घड़े 11. झोली 12. पडला 13 गुच्छा (पात्र बंधन), 14. नांगला (पात्र बंधन डोरी)

15. तिरपणी, घडा आदि की डोरी 16. घड़ा रखने की झोली 17. लूणा (पात्रपोंछन) 18. रजोहरण 19. मुखवस्त्रिका 20. कंबली 21. चद्दर (संख्या में यथावश्यक) 22. पाठा 23. रजोहरण दंडी 24. दो निषद्या– बड़ा सूती ओघारिया एवं छोटा ऊनी ओघारिया 25. दंडा 26. दंडासन 27. आसन 28. संथारा 29. उत्तरपट्टा 30. चोलपट्टा 31. साध्वियों के लिए चोला (कंचुकी), साड़ा आदि। 32. विहार करते समय रजोहरण बांधने का वस्त्र 34. खड़िया (कंधे पर रखा जाने वाला उपकरण) 35. पॉकेट (पुस्तकादि रखने का साधन) 36. पूंजणी 37. सुपड़ी (कचरा एकत्रित कर बाहर डालने का साधन) 38. बड़ी पूंजणी (कपाट-अलमारी आदि प्रमार्जित करने का साधन) 39. मात्रक (मल-मूत्र विसर्जन करने का पात्र)।

स्थानकवासी–तेरापंथी परम्परा के श्रमण-श्रमणी वर्ग में निम्नोक्त उपकरण देखे जाते हैं–

1. पात्र 2. छोटे-बड़े कई प्रकार के पात्र 3. झोली 4. पूंजणी 5. रजोहरण 6. पात्रप्रोञ्छन 7. दंडी (रजोहरण) 8. दो या एक निषद्या (ओघारिया) 9. चादर 10. साध्वी के लिए कंचुकी, साड़ा आदि 11. आसन 12. संथारा 13. उत्तरपट्ट 14. विहार के समय अतिरिक्त उपधि को बांधने का वस्त्र खण्ड 15. पुस्तक रखने के साधन आदि।

दिगम्बर परम्परा में कमण्डलु और मयूर पिच्छी– इन दो उपकरणों की परिपाटी है।

**तुलना–** इस पूर्व विवेचन के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दिगम्बर आम्नाय में उपकरण की संख्या नहींवत है, स्थानकवासी–तेरापंथी आम्नाय में अपेक्षाकृत कुछ अधिक है तथा श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में वह संख्या सर्वाधिक देखी जाती है।

## उपकरणों का ऐतिहासिक विकास क्रम

जैन परम्परा में मुनि के पात्रादि उपकरणों का विकास देशकालगत परिस्थितियों के आधार पर देखा जाता है। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में श्रमणों के लिए मात्र पाँच उपकरणों का उल्लेख है – वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन और कटासन (चटाई)।[74] इसमें भी कटासन आवश्यकता होने पर मांगकर बिछाये जाने का निर्देश है। आचारांगसूत्र के इसी श्रुतस्कंध में वस्त्र

धारण करने की नियम संहिता में अचेल, एकशाटक, दो वस्त्रधारी और तीन वस्त्रधारी ऐसे चार प्रकार के निर्ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। जहाँ तक श्रमणियों का प्रश्न है उन्हें एक-दो हाथ विस्तारवाली, दो-तीन हाथ विस्तारवाली एवं एक-चार हाथ विस्तारवाली ऐसी चार संघाटी (चद्दर) रखने का निर्देश है।[75]

इसके अनन्तर आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वस्त्र आदि उपकरणों से सम्बन्धित विधि-निषेधों का विस्तृत विवेचन है, किन्तु उनमें कहीं भी वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों में संख्या वृद्धि का कोई निर्देश नहीं है, अपितु इसमें यही कहा गया है कि जो भिक्षु तरुण, युवा, बलवान, निरोगी एवं स्थिर संहननवाला हो वह एक वस्त्र ही रखे, दूसरा नहीं। यही वस्त्रधारी की सामग्री है।[76]

तत्पश्चात उत्तराध्ययनसूत्र में मुखवस्त्रिका, गोच्छग, पात्रकम्बल और वस्त्र इन तीन उपकरणों का वर्णन है।[77] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि साधु-साध्वी जो वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोंछन रखते हैं, वे केवल अहिंसा के परिपालनार्थ या लोक लज्जा के निवारणार्थ रखते हैं, अत: उसे भगवान ने परिग्रह नहीं कहा है।[78] इसके सिवाय वस्त्र-पात्र की संख्या वृद्धि का कोई निर्देश नहीं है।

हमें उपकरणों की संख्या वृद्धि के सन्दर्भ सर्वप्रथम बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र, निशीथ आदि छेद सूत्रों में ही मिलते हैं, किन्तु उनमें परवर्तीकाल में विकसित एवं प्रचलित 14 उपकरणों का उल्लेख एक साथ नहीं मिलता है। व्यवहारसूत्र में उल्लेख आता है कि वयोवृद्ध स्थविर मुनि को दण्ड, पात्र, छाता, मात्रक, लाठी, पीठफलक, वस्त्र, चिलिमिलिका, चर्म, चर्मकोष और चर्म परिच्छेदक, ऐसे 11 प्रकार के उपकरण अविराधित स्थान में रखकर आना-जाना कल्पता है।[79] इन उपकरणों में दण्ड, मात्रक, पात्र एवं चिलिमिलिका का प्रचलन तो श्वेताम्बर परम्परा में आज भी देखा जाता है, किन्तु छाता एवं चर्म जैसे उपकरणों का प्रचलन श्वेताम्बर परम्परा में कभी रहा हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार सम्भवत: ये उपकरण प्राचीन काल में चैत्यवासियों के द्वारा रखे गये होंगे अथवा पार्श्वापत्यों की परम्परा में रहे होंगे, जो बाद में मान्य नहीं रहे।[80]

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार मात्रक रखने की व्यवस्था सर्वप्रथम आर्यरक्षित के समय में हुई। ऐसी स्थिति में यह संदेह होना स्वाभाविक है कि

भद्रबाहु के द्वारा रचित छेद सूत्रों में उनका उल्लेख कैसे आ गया। लगता है कि छेद सूत्रों एवं ओघनिर्युक्ति काल में कुछ संशोधन या प्रक्षेप हुए हैं।

उपकरणों का सुव्यवस्थित एवं सर्वाधिक विकसित स्वरूप ओघनिर्युक्ति को छोड़कर अन्य टीका ग्रन्थों में लगभग उपलब्ध नहीं होता है।

ओघनिर्युक्ति में जिनकल्पी के लिए 12, सामान्यमुनि के लिए 14 और साध्वी के लिए 25 उपकरणों का उल्लेख है।[81] सामान्य मुनि के लिए जो चौदह उपकरण निश्चित किये गये हैं, उन उपकरणों की सर्वप्रथम चर्चा प्रश्नव्याकरणसूत्र में मिलती है, किन्तु वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरणसूत्र लगभग सातवीं शती की रचना है।[82] अत: उसका कथन ऐतिहासिक दृष्टि से परवर्ती है। विद्वद्वर्य डॉ. सागरमल जैन के मतानुसार निर्युक्तियों का रचनाकाल ईसा की लगभग दूसरी शती माना जा सकता है।

ईसा की प्रथम-दूसरी शती में जैन श्रमणों के वस्त्रादि उपकरणों की स्थिति क्या थी, इसका पुरातात्त्विक प्रमाण हमें इसी काल के मथुरा के अंकनों से मिल जाता है। उसमें चतुर्विध संघ के अंकनों में मुनियों एवं साध्वियों के विविध अंकन हैं। उनमें निम्न उपकरणों का स्पष्ट संकेत है– 1. कम्बल 2. मुखवस्त्रिका 3. पादप्रोंछन/प्रतिलेखन/रजोहरण 4. पात्र और 5 पात्र रखने की झोली। मुनियों के जो अंकन हैं, उनमें एक हाथ में मुखवस्त्रिका तथा कलाईं पर तह किया हुआ कम्बल प्रदर्शित है जिससे किन्हीं अंकनों में उनकी नग्नता छिप गई है और किन्हीं में वह नहीं भी छिपी है। इन अभिलेखों में उपर्युक्त चौदह उपकरणों में से पाँच का स्पष्ट अंकन है, जिनका नामोल्लेख ऊपर हो चुका है। शेष पात्र स्थापन, पात्रपटल, रजस्त्राण और गुच्छग इन उपकरणों का विकास पात्र रखने की परम्परा के साथ हुआ प्रतीत होता है। मात्रक मल-मूत्र विसर्जन हेतु रखा जाता है। इसे रखने की अनुमति आर्यरक्षित ने प्रथम-दूसरी शती में ही दी थी। इस प्रकार कुल दस उपकरणों के चिह्न प्राप्त होते हैं। शेष तीन प्रच्छादक (चादर) और एक चोलपट्टक इन चार का अंकन मथुरा के स्थापत्य में पहली-दूसरी शती तक कहीं नहीं मिलता है। यद्यपि आचारांग में अधिकतम तीन वस्त्रों के रखने का उल्लेख होने से यह माना जा सकता है कि वस्त्र रखने की परम्परा भी प्राचीन है।[83]

जहाँ तक चोलपट्ट का प्रश्न है वह प्रारम्भ में लंगोटी के समान एक छोटा

सा वस्त्र खण्ड था जो नग्नता छिपाने के लिए उपयोग में लिया जाता था। आचारांगसूत्र में इसे 'ओमचेल' अर्थात छोटा वस्त्र कहा गया है।[84] चोलपट्टक मूलत: चूलपट्ट से बना है, जिसका अर्थ भी छोटा कपड़ा या वस्त्रखण्ड ही होता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने मुनियों के द्वारा अकारण कटिवस्त्र धारण करने की आलोचना की है। वर्तमान की श्वेताम्बर परम्परा में घुटनों के नीचे टखनों तक भी अधोवस्त्र धारण किया जाता है, जिसका नाम भी चोलपट्टक है। इससे लगता है चोलपट्ट के आकार-प्रकार में क्रमश: अभिवृद्धि हुई है।

जहाँ तक साध्वियों के पच्चीस उपकरणों का प्रश्न है, उनमें 13 उपकरणों का विकास क्रम पूर्ववत ही समझ लेना चाहिए। शेष बारह उपकरण भी ईसा की दूसरी शती तक अस्तित्व में आ चुके थे और वे उपकरण लगभग लज्जा निवारणार्थ ही धारण किये गये।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का सवाल है वहाँ भगवती आराधना टीका में अपराजित ने मुनि के चौदह उपकरणों का उल्लेख तो किया है[85] किन्तु ये चौदह उपकरण उन्हें स्वीकार्य नहीं थे। जबकि इस ग्रन्थ रचना (नवीं शताब्दी) के पूर्व श्वेताम्बर परम्परा में ये स्वीकृत हो चुके थे। यापनीय परम्परा में इनमें से केवल प्रतिलेखन और पात्र, वह भी केवल शौच हेतु जल ग्रहण के लिए स्वीकृत किये गये। इन्होंने प्रतिलेखन को संयमोपधि और पात्र को शौचोपधि के रूप में मान्य किया है। उनके अनुसार आगम और निर्युक्ति आदि में जिन चौदह उपकरणों की चर्चा है, वह केवल आपवादिक स्थिति के लिए है।

जहाँ तक आवश्यक उपकरणों का प्रश्न है, श्वेताम्बर परम्परा मुख्यत: दो उपकरण अनिवार्य मानती है– एक रजोहरण और दूसरा मुखवस्त्रिका। दिगम्बर परम्परा में पिच्छी और कमण्डलु इन दो उपकरणों को आवश्यक माना गया है।[86]

ओघनिर्युक्ति, पंचवस्तुक और प्रवचनसारोद्धार आदि में समस्त प्रकार की उपधियों को औघिक (नित्योपयोगी) और औपग्राहिक (कारण विशेष में उपयोगी) इन दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक के जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट ऐसे तीन-तीन भेद किये गये हैं तथा प्रत्येक उपधि के प्रयोजन भी बताये गये हैं। इससे कहा जा सकता है कि विक्रम की 5वीं शती से लेकर 12वीं शती तक इस विषय पर बहुत कुछ लिखा गया। इसके पश्चात आचारदिनकर,

साधुविधिप्रकाश आदि विधि ग्रन्थों में भी इन उपकरणों का नामोल्लेख है।

निष्कर्ष रूप में कहा जाए तो आचारांगसूत्र में पाँच, उत्तराध्ययनसूत्र में तीन, व्यवहारसूत्र में ग्यारह और ओघनिर्युक्ति में बारह, चौदह एवं पच्चीस उपकरणों का उल्लेख प्राप्त होता है। परवर्ती जैनाचार्यों ने ओघनिर्युक्ति का ही अनुकरण किया है। वर्तमान में इनमें से कुछ उपकरण अप्रचलित हैं तो कुछ देशकालगत स्थिति के प्रभाव से नये भी जुड़ गये हैं।

## तुलनात्मक विवेचन

उपधि-उपकरण के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि यह विवरण उपलब्ध साहित्य में प्राय: समान रूप से है। उपधि विषयक मुख्य दो भेदों एवं सामान्य तीन प्रकारों का उल्लेख ओघनिर्युक्ति आदि में एक समान है।

जिनकल्पी के लिए 12, सामान्य मुनि के लिए 14 और साध्वी के लिए 25 उपकरणों का निर्देश भी उत्तरवर्ती ग्रन्थों में समान रूप से है। कौनसी उपधि किस प्रयोजन को लेकर स्वीकार की गई है, इसका सामान्य वर्णन पंचवस्तुक[87], प्रवचनसारोद्धार[88] आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में है तथा इसका विस्तृत विवेचन पंचवस्तुक टीका[89] एवं प्रवचनसारोद्धार टीका[90] में किया गया है।

दिगम्बर ग्रन्थों का अवलोकन किया जाए तो वहाँ प्रवचनसार में यथाजात (नग्नत्व), गुरुवचन (गुर्वाज्ञानुसार प्रवृत्ति), विनय (गुणीजनों एवं पूज्यजनों के प्रति विनम्रभाव रखना) और सूत्रों का अध्ययन इन चार को उपकरण बतलाया गया है।[91] मूलाचार में उपधि को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है– 1. ज्ञानोपधि– शास्त्र आदि, 2. संयमोपधि– पिच्छिका आदि 3. शौचोपधि-कमण्डलु आदि और 4. श्रामण्य योग्य अन्य उपधि–पुस्तक, संस्तर आदि।[92]

## उपसंहार

जो पात्र आदि साधन रत्नत्रय की आराधना में सहयोगी हों, वे उपकरण कहलाते हैं। यदि श्रमण विवेकपूर्वक उपकरणों का उपयोग न करे तो वे उसके लिए कर्मबन्धन में हेतुभूत हो सकते हैं। इसलिए उपधि का उपयोग सावधानीपूर्वक करना चाहिए। कोई भी उपधि का संग्रह उसके लक्ष्य को ध्यान रखते हुए करें क्योंकि वही उपधि सम्यक चारित्र का साधन बनती है। परिमाण

एवं प्रयोजनरहित उपधि का उपयोग करने पर आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व, चारित्र विराधना आदि दोष लगते हैं।

सामान्यतया जो साधक बाह्य रूप से उपधि रखते हुए भी निर्ममत्व बुद्धि पूर्वक उसका उपयोग करता है तो वह स्वाध्याय, ध्यान में होने वाली क्षति से बच जाता है। ऐसा नि:संग मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर मानसिक संक्लेश को भी प्राप्त नहीं होता है।

## सन्दर्भ-सूची


1. *उपधीयते संगृह्यते इति उपधि। आचारांग शीलाकांचार्य टीका, 1/4/1/पत्र 179*
2. *उपदधातीत्युपधि:। उप-सामीप्येन संयमं धारयति दधाति पोषयति चेत्युपधि:।*
   *अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 2, पृ. 1087*
3. *उपक्रियते अनेन इति उपकरण। वही, पृ. 905*
4. *पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. 174*
5. *उवही उवग्गहे संगहे य, तह पग्गहुग्गहे चेव।*
   *भंडग उवगरणे या, करणेवि य हुंति एगट्ठा ।।*
   *ओघनिर्युक्ति, 666*
6. *ओघनिर्युक्ति, 667*
7. *(क) वही, गा. 671*
   *(ख) पंचवस्तुक, गा. 771*
8. *पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।*
   *पडलाइं रयत्ताणं, च गुच्छओ पायनिज्जोगो ।।*
   *तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती।*
   *एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु ।।*
   *(क) ओघनिर्युक्ति, 668-669*
   *(ख) पंचवस्तुक, 772-773*
9. *एए चेव दुवालस, मत्तग अइरेग चोलपट्टो।*
   *एसो चउद्दसविहो, उवही पुण थेरकप्पम्मि ।।*
   *(क) ओघनिर्युक्ति, 670*
   *(ख) पंचवस्तुक, 779*
10. *उग्गहणंतगपट्टो, अद्धोरुग चलणिया य बोद्धव्वा।*
    *अब्भिंतर बाहिरियं, सणियं तह कंचुगे चेव ।।*
    *उक्कच्छिय वेकच्छी, संघाडी चेव खंधकरणी य।*

*ओहोवहिम्मि एए, अज्जाणं पन्नवीसं तु ॥*
*(क) ओघनिर्युक्ति, 676-677*
*(ख) पंचवस्तुक टीका, 680-83*

11. *पंचवस्तुक टीका, 784*
12. *वही, 785-87*
13. *वही, 788-791*
14. *(क) ओघनिर्युक्ति, 680*
    *(ख) पंचवस्तुक, गा. 792 की टीका*
    *(ग) प्रवचनसारोद्धार, गा. 500 की टीका*
15. *(क) ओघनिर्युक्ति, 691*
    *(ख) पंचवस्तुक, 798 की टीका*
    *(ग) प्रवचनसारोद्धार, 501 की टीका*
16. *(क) ओघनिर्युक्ति, 694*
    *(ख) पंचवस्तुक, 799 की टीका*
    *(ग) प्रवचनसारोद्धार, 502 की टीका*
17. *(क) ओघनिर्युक्ति, 701, 703, 705 की टीका*
    *(ख) पंचवस्तुक, 802-806 की टीका*
    *(ग) प्रवचनसारोद्धार, 503-505 की टीका*
18. *पंचवस्तुक, 807*
19. *(क) ओघनिर्युक्ति, 708*
    *(ख) पंचवस्तुक, 808 की टीका*
    *(ग) प्रवचनसारोद्धार, 506 की टीका*
20. *पंचवस्तुक, 809*
21. *ओघनिर्युक्ति, 706*
22. *बृहत्कल्पभाष्य, 3969*
23. *पंचवस्तुक, 812*
24. *प्रवचनसारोद्धार, 507 की टीका*
25. *पंचवस्तुक, 813 की टीका*
26. *(क) ओघनिर्युक्ति, 708*
    *(ख) पंचवस्तुक, 814*
    *(ग) प्रवचनसारोद्धार, 508*

27. (क) ओघनिर्युक्ति, 709-710
    (ख) पंचवस्तुक, 815
    (ग) प्रवचनसारोद्धार, 514
28. (क) ओघनिर्युक्ति, 711
    (ख) पंचवस्तुक, 816
    (ग) प्रवचनसारोद्धार, 509
29. (क) ओघनिर्युक्ति, 712
    (ख) पंचवस्तुक, 817
    (ग) प्रवचनसारोद्धार, 515
30. (क) पंचवस्तुक, 818-819
    (ख) प्रवचनसारोद्धार, 510-511
31. पंचवस्तुक, 820
32. (क) ओघनिर्युक्ति, 721
    (ख) पंचवस्तुक, 821
    (ग) प्रवचनसारोद्धार, 512
33. (क) ओघनिर्युक्ति 722
    (ख) पंचवस्तुक, 822
    (ग) प्रवचनसारोद्धार, 518
34. (क) प्रवचनसारोद्धार, 513
    (ख) ओघनिर्युक्ति, 724
35. पंचवस्तुक 824
36. (क) ओघनिर्युक्तिभाष्य, 313
    (ख) पंचवस्तुक, 825 की टीका
    (ग) प्रवचनसारोद्धार, 531 की टीका
37. (क) ओघनिर्युक्ति, 314
    (ख) पंचवस्तुक, 826 की टीका
    (ग) प्रवचनसारोद्धार, 532 की टीका
38. (क) ओघनिर्युक्ति, 315
    (ख) पंचवस्तुक, 827 की टीका
    (ग) प्रवचनसारोद्धार, 533 की टीका
39. (क) ओघनिर्युक्ति 316-317
    (ख) पंचवस्तुक, 828-829 की टीका

(ग) प्रवचनसारोद्धार, 534-36 की टीका
40. (क) ओघनिर्युक्ति, 318-319
(ख) पंचवस्तुक, 829-831 की टीका
(ग) प्रवचनसारोद्धार, 536-537 की टीका
41. (क) ओघनिर्युक्ति, 320
(ख) पंचवस्तुक, 832 की टीका
(ग) प्रवचनसारोद्धार, 538 की टीका
42. पंचवस्तुक, 833
43. वही, 834 टीका
44. वही, 835-836
45. वही, 837
46. ओघनिर्युक्ति, 322-334
47. पंचवस्तुक, 838
48. (क) ओघनिर्युक्ति, 728
(ख) ओघनिर्युक्ति भाष्य, 321, 683
49. निशीथसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, पृ. 32-34
50. पाय पमज्जणा हेउं, केसरिआ पाए-पाए एक्केक्का।
गोच्छग पत्तट्ठवणं, एक्केक्कं गणण माणेणं॥
ओघनिर्युक्ति, 696
51. पंचवस्तुक टीका, भा. 2 पृ. 371
52. दशवैकालिकसूत्र, 4/23
53. मूलाचार, 10/912
54. भगवती आराधना, 96
55. क्रियासार, 25
56. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 26/23,
(ख) दशवैकालिकसूत्र, 4/23,
(ग) स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 5/1/191
(घ) बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/30
(ङ) निशीथसूत्र, 4/23
57. उत्तराध्ययनसूत्र, 17/9
58. (क) दशवैकालिकसूत्र, 4/23
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, 26/23

(ग) भगवतीसूत्र, 8/250

(घ) बृहत्कल्पसूत्र, 3/14,15

59. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 476-479 से उद्धृत

60. रजसेदाणमगहणं, मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं, पडिलिहणं पसंसंति ॥
मूलाचार, 10/912 की टीका

61. वही, 10/913

62. वही, 10/914

63. नीतिसार, 43, पृ. 411

64. मूलाचार, 10/916

65. भगवती आराधना, 96

66. वही, 97

67. मूलाचार, 1/14 की टीका

68. पोत्थइकमंडलाइं गहण विसग्गेसु। नियमसार, गा. 64

69. आदाने कुंडिकादि ग्रहणे। उद्धृत–मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 413

70. शश्वद विशोधयेत् साधु, पक्षे पक्षे कमण्डलुम्।
तदशोधयतो देयम्, सोपस्थानोपवासनम् ॥
प्रायश्चित्तसमुच्चय, 88

71. तत्त्वार्थसूत्र, 7/12

72. ओघनिर्युक्ति, 745

73. पंचवस्तुक, 839

74. वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहं च कडासणं। एतेसु चेव जाणेज्जा...
आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/2/5 सू. 89, पृ. 62

75. (क) जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायचउत्थेहिं, तस्स-णं णो एवं भवति-चउत्थं-वत्थं जाइस्सामि। आचारांगसूत्र, 1/8/4/213

(ख) जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायतइएहिं, तस्स णं णो एवं भवति-तइयं वत्थं जाइस्सामि। वही, 1/8/5/216

(ग) जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिते पायविइएण, तस्स नो एवं भवइ-बिइयं वत्थं जाइस्सामि। वही, 1/8/6/220

(घ) अदुवा अचेले। वही, 1/8/6/93

76. जे णिग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे, से एगं वत्थं धारेज्जा, णो बितियं। वही, 2/5/1/553

77. पडिलेहेइ पमत्ते, अवज्झइ पायकंबलं।
पडिलेहणा अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चइ ।।
(क) उत्तराध्ययनसूत्र, 17/9
मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता, पडिलेहिज्ज गोच्छगं।
गोच्छगलइयं गुलिओ, वत्थाइं पडिलेहए ।।
(ख) वही, 26/23

78. जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ।।
दशवैकालिकसूत्र, 6/19

79. थेराणं थेर भूमिपत्ताणं चम्मपलिच्छेयणए वा...।
व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 8/5

80. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ. 470-471

81. ओघनिर्युक्ति, गा. 669, 671, 677

82. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/5/161

83. देखिए, जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ. 472-473

84. अदुवा संतरूत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले।
आचारांगसूत्र, संपा. मुनि आत्माराम, 1/8/51

85. भगवती आराधना –विजयोदया टीका, गा. 423, पृ. 322

86. ओघनिर्युक्ति, 667

87. पंचवस्तुक, गा. 798-837

88. प्रवचनसारोद्धार, गा. 499-518, 528-538

89. पंचवस्तुक टीका, भा. 2, पृ. 377-393

90. प्रवचनसारोद्धार टीका, भा. 1, पृ. 239-256

91. प्रवचनसार, 225

92. मूलाचार 1/14

●

## अध्याय-6

# प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना सम्बन्धी विधि-नियम

प्रतिलेखना श्रमण एवं श्रावक जीवन का मूल आधार तथा जिनवाणी का सार है। इसे अहिंसामय जीवन साधना का एक अभिन्न अंग माना गया है। जैन मुनि की प्रत्येक चर्या प्रतिलेखना एवं प्रमार्जनापूर्वक ही होती है। दशवैकालिक-सूत्र में कहा गया है 'जयं चरे जयं चिट्ठे' अर्थात प्रत्येक क्रिया जयणा एवं जागृतिपूर्वक करते हुए उसमें आत्मशोधन करना चाहिए और यही प्रतिलेखना का हार्द है। किसी भी वस्तु को ग्रहण करने अथवा रखने से पूर्व उस स्थान एवं वस्तु का तीन योगों की एकाग्रतापूर्वक निरीक्षण करना प्रतिलेखना कहलाता है। पूर्वाचार्यों ने इस क्रिया पर अत्यधिक बल देते हुए कहा है कि 'पडिलेहिय-पडिलेहिय, पमज्जिय-पमज्जिय' हे अप्रमत्त साधक! बार-बार प्रतिलेखना करो, प्रमार्जना करो। प्रतिलेखना और प्रमार्जना मुनि जीवन में जितनी आवश्यक मानी गई है, गृहस्थ जीवन में भी इसकी उतनी ही उपादेयता है। प्रत्येक वस्तु को देखकर प्रयोग में लेने से कई अनावश्यक कार्यों एवं बीमारियों से बचा जा सकता है तथा कठिन समस्याओं का उन्मूलन भी किया जा सकता है।

### प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना का अर्थ विश्लेषण

प्रतिलेखना का सामान्य अर्थ है–वस्त्र, पात्र, वसति आदि का सावधानी पूर्वक निरीक्षण करना। यह शब्द 'प्रति' उपसर्ग एवं 'लिख' धातु से व्युत्पन्न है। प्रति-सम्यक प्रकारेण, लिख-देखना अर्थात किसी भी वस्तु या पदार्थ को सम्यक प्रकार से देखना अथवा ध्यानपूर्वक देखना प्रतिलेखना कहलाता है। जैन परम्परा में यह शब्द सम्यक प्रकार से निरीक्षण करने के अर्थ में प्रयुक्त है, अत: वस्त्र-पात्र आदि का एकाग्र चित्त एवं स्थिर दृष्टि से निरीक्षण करने को प्रतिलेखन कहा गया है।

प्रतिलेखना का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–'प्रतिलेखनं प्रतिलेखना आगमानुसारेण प्रति-प्रति निरीक्षणमनुष्ठानं वा' अर्थात ध्यानपूर्वक देखना

प्रतिलेखना है अथवा आगम विधि के अनुसार बार-बार निरीक्षण करना प्रतिलेखना है।

जैन साहित्य में प्रतिलेखना के अर्थ में 'प्रत्युपेक्षणा' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। जब मुनि चले तब मार्ग की प्रतिलेखना करें, जब स्थिर रहे तब वसति की प्रतिलेखना करें और दैनिक क्रियाओं में वस्त्र, पात्र एवं उपधि की प्रतिलेखना करें। स्वयं के विचारों की प्रतिलेखना निरन्तर करें। इस तरह व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से प्रतिलेखना का अर्थ घटित होता है।

इस वर्णन के आधार पर प्रतिलेखन के दो प्रकार हैं–द्रव्य और भाव। मार्ग, वसति, वस्त्र, पात्र और उपधि का सम्यक रूप से निरीक्षण करना द्रव्य प्रतिलेखना है और चेतना के शुभाशुभ विचारों का निरीक्षण करना भाव प्रतिलेखना है।

प्रतिलेखना के अनंतर की जाने वाली क्रिया प्रमार्जना कहलाती है। प्रमार्जना अर्थात विशेष मार्जना, विशेष शुद्धि करना अथवा सूक्ष्मता से शुद्धि करना प्रमार्जना है। यह शब्द 'प्र' उपसर्ग, 'मृज्' धातु एवं णिच् + ल्युट प्रत्यय के संयोग से निर्मित है। तदनुसार प्र – सम्यक प्रकार से, मृज् – साफ करना यानी अच्छी तरह से साफ करना प्रमार्जना कहा जाता है। जैन विचारणा के अनुसार ऊनी रजोहरण या मोरपंख आदि से बना हुआ कोमल स्पर्शी उपकरण या वस्त्रखण्ड की दसियों के द्वारा पात्रादि उपकरणों की भलीभाँति सफाई करना प्रमार्जना कहलाता है।

यह ज्ञातव्य है कि प्रमार्जना प्रतिलेखनापूर्वक होती है। प्रतिलेखना और प्रमार्जना का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राय: दोनों का क्रम साथ-साथ चलता है। यद्यपि कुछ वस्तु प्रतिलेखनीय ही होती हैं, जैसे वस्त्र, रजोहरण आदि की केवल प्रतिलेखना की जाती है प्रमार्जना नहीं, जबकि पात्र, वसति (उपाश्रय), स्थंडिल (परिष्ठापन भूमि), शरीर, मार्ग आदि की प्रतिलेखना और प्रमार्जना दोनों ही होती है। स्पष्ट रूप से रजोहरण आदि वस्त्र प्रतिलेखनीय है एवं पात्रादि शेष वस्तुएँ प्रतिलेखनीय एवं प्रमार्जनीय दोनों रूप हैं।

## प्रतिलेखना के एकार्थक शब्द

प्राकृत कोश में प्रतिलेखना के समानार्थक शब्दों के लिए निरीक्षण, अवलोकन, देखभाल आदि का उल्लेख किया गया है।[1] ओघनिर्युक्ति में

प्रतिलेखना के एकार्थवाची के रूप में आभोग, मार्गणा, गवेषणा, ईहा, अपोह, प्रेक्षण, निरीक्षण, आलोकन और प्रलोकन आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।[2]

आचार्य हरिभद्रसूरि रचित पंचवस्तुक ग्रन्थ के अनुसार प्रतिलेखना के सम्बन्ध में कुछ निर्देश ध्यातव्य हैं-

## वस्त्र प्रतिलेखना विधि

यहाँ प्रारम्भ में वस्त्र प्रतिलेखना की चर्चा करने का मुख्य कारण यह है कि दीक्षा स्वीकार करते समय यथाजात मुद्रा में सर्वप्रथम रजोहरण-मुखवस्त्रिका रूप वस्त्र ही दिये जाते हैं। दूसरा हेतु यह है कि आचारांगसूत्र में भी वस्त्रैषणा-पात्रैषणा इस क्रम पूर्वक विवेचन किया गया है।

**वस्त्र प्रतिलेखना का क्रम**- मुनि दिन के प्रथम एवं चतुर्थ प्रहर के प्रतिलेखन काल में सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें, उसके बाद शेष वस्त्रों की प्रतिलेखना करें।[3] यतिदिनचर्या के अनुसार दिन के प्रारम्भ में अर्थात सूर्योदय के पहले वस्त्रादि दस वस्तुओं की इस क्रम से प्रतिलेखना करें- 1. मुखवस्त्रिका 2. रजोहरण 3-4. दो निषद्या (रजोहरण की डंडी पर लपेटे हुए अन्दर एवं बाहर के दो वस्त्र) 5. चोलपट्ट (मुनि का अधोवस्त्र) 6-8. तीन वस्त्र (ऊनी कम्बली व दो सूती चद्दर) 9. संथारा (शयन के समय बिछाने योग्य ऊनी आसन) और 10. उत्तरपट्ट (संथारा के ऊपर बिछाया जाने वाला सूती वस्त्र)।[4] निशीथचूर्णि एवं बृहत्कल्पचूर्णि [5] में ग्यारहवाँ उपकरण 'दण्ड' कहा गया है।

सायंकालीन वस्त्र प्रतिलेखना के सम्बन्ध में इतना विशेष है कि प्रात:काल सूती निशेथिया की प्रतिलेखना करने के पश्चात ऊनमय निशेथिया का प्रतिलेखन करते हैं, जबकि सायंकाल में पहले ऊनी निशेथिया (ओघारिया) की प्रतिलेखना करते हैं, फिर सूती ओघारिया का प्रतिलेखन करते हैं। शेष वस्त्रों की प्रतिलेखना का क्रम समान है।[6]

**वस्त्र प्रतिलेखना कितनी बार?** जैन श्रमण के लिए दिन में तीन बार वस्त्रादि की प्रतिलेखना करने का निर्देश है। पहली प्रतिलेखना सूर्योदय के पूर्व, दूसरी प्रतिलेखना उग्घाड़ा पौरुषी के समय अर्थात दिन के प्रथम प्रहर का तीन भाग जितना समय बीत जाने पर और तीसरी प्रतिलेखना अपराह्न में अर्थात दिन के तीसरे प्रहर के अन्त में या चौथे प्रहर के प्रारम्भ में करनी चाहिए।

सूर्योदय के पूर्व वस्त्र आदि दस वस्तुओं की प्रतिलेखना करनी चाहिए। उग्घाड़ा पौरुषी के समय पात्र सम्बन्धी सात वस्तुओं की प्रतिलेखना करनी चाहिए तथा अपराह्न में चौदह उपकरणों की प्रतिलेखना क्रमशः इस प्रकार करनी चाहिए–1. मुखवस्त्रिका 2. चोलपट्ट 3. गोच्छग 4. चिलिमिली 5. पात्रकबंध 6. पटल (पड़ला) 7. रजस्त्राण 8. परिष्ठापनक 9. मात्रक 10. पात्र 11. रजोहरण और 12-14. वस्त्र त्रिक।[7]

**किस वस्त्र की प्रतिलेखना कितने बोल पूर्वक?** मुखवस्त्रिका, रजोहरण, ऊनी ओघारिया, सूती ओघारिया, चोलपट्ट, ऊनी कम्बली, दो सूती चद्दर, संस्तारक और उत्तरपट्ट इन वस्त्रों की प्रतिलेखना पच्चीस बोल पूर्वक करें। साधुविधिप्रकाश के अनुसार स्थापनाचार्य सम्बन्धी कंबल खण्ड, स्थापनाचार्य जिस पर विराजमान किए जाए ऐसी तीन मुखवस्त्रिकाएँ, स्थापनाचार्य लपेटने का ऊनी वस्त्रखण्ड– इन वस्त्रों की प्रतिलेखना भी पच्चीस बोल पूर्वक की जानी चाहिये। इसी तरह काष्ठासन, पट्टा, चौकी आदि की प्रतिलेखना भी पच्चीस बोल पूर्वक करने का विधान है।[8]

- वस्त्र प्रतिलेखना के पच्चीस बोल निम्न हैं–

1. सूत्र अर्थ साचो सद्दहूँ 2-4. सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, 4. मिश्र मोहनीय परिहरूं 5-6. कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग परिहरूं 8-10. सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदरूं 11-13. कुदेव, कुगुरु, कुधर्म परिहरूं 14-16. ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरूं 17-19. ज्ञान विराधना, दर्शन विराधना, चारित्र विराधना परिहरूं 20-22. मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति आदरूं 23-25. मनोदंड, वचनदंड, कायदंड परिहरूं।

- शरीर प्रतिलेखना निम्न पच्चीस बोल पूर्वक की जाती है–

1-3. हास्य, रति, अरति परिहरूं 4-6. भय, शोक, दुगुंछा परिहरूं 7-9. कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या परिहरूं 10-12. ऋद्धिगारव, रसगारव, सातागारव परिहरूं 13-15. मायाशल्य, निदानशल्य, मिथ्यादर्शनशल्य परिहरूं 16-17. क्रोध, मान परिहरूं 18-19. माया, लोभ परिहरूं 20-22. पृथ्वीकाय, अप्काय, तेऊकाय जयणा करूं 23-25. वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय रक्षा करूं।

- रजोहरण की डण्डी, रजोहरण बाँधने का डोरा, कंदोरा (कंदोरा बाँधने

की परम्परा अर्वाचीन है), दण्डा, दण्डासन आदि की प्रतिलेखना निम्नोक्त दस बोल पूर्वक करनी चाहिए[9]–

1. सूत्र-अर्थ साचो सद्दहूं 2-4. सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय परिहरूं 5-7. कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग परिहरूं 8-10. सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदरूं।

- स्थापनाचार्य की प्रतिलेखना तेरह बोल पूर्वक होती है। खरतरगच्छ परम्परा के अनुसार तेरह बोल निम्न हैं–

1. शुद्ध-स्वरूप धारे 2-4. ज्ञान, दर्शन, चारित्र सहित 5-7. सद्दहणा शुद्धि, प्ररूपणा शुद्धि, स्पर्शना शुद्धि सहित 8-10. पाँच आचार पाले, पलावे, अनुमोदे 11-13. मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति आदरे।

तपागच्छीय परम्परा में स्थापनाचार्य की प्रतिलेखना निम्न तेरह बोल पूर्वक की जाती है–

1. शुद्ध स्वरूप धारक गुरु 2. ज्ञानमय 3. दर्शनमय 4. चारित्रमय 5. शुद्ध श्रद्धामय, (6) शुद्ध प्ररूपणामय 7. शुद्ध स्पर्शनामय 8. पंचाचार पाले 9. पलावे 10. अनुमोदे 11. मनोगुप्ति 12. वचनगुप्ति 13. कायगुप्तिए गुप्ता।

स्थापनाचार्य प्रतिलेखना के उक्त 13 बोलों में केवल शाब्दिक अन्तर ही है, अर्थत: कोई भेद नहीं है।

**किसकी प्रतिलेखना किससे?** मुखवस्त्रिका, रजोहरण, दो निशीथिया (ओघारिया), चोलपट्ट, संथारा, उत्तरपट्ट, कंबली, सूती चद्दर, स्थापनाचार्य सम्बन्धी ऊनी कंबल खण्ड एवं मुखवस्त्रिकाएँ, कंदोरा– इन वस्त्रोपकरण की प्रतिलेखना चित्त व दृष्टि की एकाग्रता पूर्वक दोनों हाथों से की जाती है। रजोहरण डण्डी, रजोहरण डोरा एवं डण्डा की प्रतिलेखना एकाग्र दृष्टि से रजोहरण द्वारा की जाती है। पट्टा की प्रतिलेखना दृष्टि एवं दण्डासन के द्वारा की जाती है तथा स्थापनाचार्य की प्रतिलेखना एकाग्र दृष्टि सहित मुखवस्त्रिका से की जाती है।[10]

**किस वस्त्रोपकरण की कितनी बार प्रतिलेखना?** सामान्यतया मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना अनेक बार की जाती है, जैसे रात्रिक प्रतिक्रमण, दैवसिक प्रतिक्रमण, प्रात:कालीन प्रतिलेखन, उग्घाड़ापौरुषी, प्रत्याख्यान पारने से पूर्व, संथारा पौरुषी पढ़ने से पूर्व, पात्र प्रतिलेखन के पूर्व आदि। इस प्रकार

मुनि जीवन के लगभग सभी क्रियानुष्ठान मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना के साथ सम्पन्न होते हैं। गृहस्थ की धार्मिक क्रियाएँ जैसे– सामायिकव्रत, पौषधव्रत, उपधानतप आदि क्रियानुष्ठानों में भी मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन का प्राधान्य है।

मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन की प्रचलित विधि मुख्य रूप से श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में मान्य है। दिगम्बर परम्परा में मुखवस्त्रिका नाम का उपकरण ही नहीं है। स्थानकवासी एवं तेरापन्थी परम्परा में मुखवस्त्रिका का उपयोग तो सर्वाधिक होता है, किन्तु बोल पूर्वक प्रतिलेखन की परिपाटी नहीं है मात्र प्रतिलेखन होता है।

श्वेताम्बर परम्परानुसार जब मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की जाती है उस समय शरीर प्रतिलेखना भी अनिवार्य रूप से होती है अर्थात मुखवस्त्रिका एवं शरीर दोनों की प्रतिलेखना क्रमशः युगपद रूप से होती है। अतः वैधानिक ग्रन्थों में मुखवस्त्रिका के पच्चीस एवं शरीर प्रतिलेखना के पच्चीस ऐसे पचास बोल एक साथ उल्लिखित हैं। मुखवस्त्रिका के सिवाय शेष वस्त्रोपकरण की प्रतिलेखना प्रभात एवं सन्ध्या में दो बार की जानी चाहिए।

**वस्त्र प्रतिलेखना विधि–** मुखवस्त्रिका, संस्तारक, रजोहरण, कंबली आदि उपकरण पृथक-पृथक बोलपूर्वक प्रतिलेखित किए जाते हैं। परम्परागत सामाचारी विधि निम्न है–

**मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन–** सर्वप्रथम उकडु आसन में बैठकर (दोनों हाथों को दोनों पांवों के बीच में रखकर) मुखवस्त्रिका खोलें। फिर दोनों हाथों से उसके दोनों किनारों को पकड़कर मुखवस्त्रिका के सम्मुख दृष्टि रखें, फिर मन में बोलें–

1. **सूत्र, अर्थ, सांचो सद्दहुं**[11]**– 'सूत्र'** शब्द बोलते समय मुखवस्त्रिका के एक तरफ का सम्यक निरीक्षण करें।

**'अर्थ, सांचो सद्दहुं'–** यह शब्द बोलते समय मुखवस्त्रिका को बायें हाथ के ऊपर रखें, फिर बायें हाथ से पकड़े हुए छोर (किनारे) को दाहिने हाथ में पकड़ें तथा दाहिने हाथ से पकड़े हुए छोर को बायें हाथ में पकड़ें। इस तरह मुखवस्त्रिका के दूसरे भाग को सामने लाकर उस भाग की प्रतिलेखना करें।

यह क्रिया करते हुए सूत्र–अर्थमय उभय रूप तत्त्व को सत्य समझें एवं उसकी प्रतीति कर उस पर श्रद्धा रखें।

• **पुरिम**[12]–फिर मुखवस्त्रिका के बायें हाथ की तरफ का भाग तीन बार झाड़ें-खंखेरें, इस समय (2 से 4) **सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय,**

**मिश्र मोहनीय परिहरूं–** ये तीन बोल मन में बोलें।

दर्शन मोहनीय कर्म की तीनों प्रकृतियाँ दूर करने जैसी हैं अत: इन प्रकृतियों का चिन्तन करते हुए मुखवस्त्रिका को तीन बार खंखेरते हैं।

• फिर मुखवस्त्रिका को बायें हाथ पर रखते हुए उसके पार्श्व को मोड़कर दाहिने हाथ की तरफ के भाग को तीन बार खंखेरें, उस समय (5-6) **कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग परिहरूँ–** ये तीन बोल मन में बोलें।

काम आदि तीन प्रकार के राग त्याज्य हैं, अत: मुखवस्त्रिका को तीन बार खंखेरते हैं।

• पुरिम करने के पश्चात मुखवस्त्रिका को बायें हाथ पर रखकर दायें हाथ से इस प्रकार खींचें कि मुखवस्त्रिका के दो पट हो जायें।

• **वधूटक**[13]– उसके बाद दाहिने हाथ की चार अंगुलियों के बीच दो या तीन वधूटक करें।

• फिर दाहिने हाथ की चार अंगुलियों के तीन आंतरों के बीच में मुखवस्त्रिका को भरकर (वधूटक करके) नौ बार हल्के से खंखेरने की और नौ बार ग्रहण करने की क्रिया करें।

जैन शब्दावली में ग्रहण करने की क्रिया को अक्खोडा और खंखेरने की क्रिया को पक्खोडा कहते हैं। इस तरह नौ अक्खोडा और नौ पक्खोडा होते हैं।

• **अक्खोडा**[14]– दायें हाथ की अंगुलियों से मुखवस्त्रिका का वधूटक कर दोनों जंघाओं के बीच रखे हुए बायें हाथ पर मुखवस्त्रिका को स्पर्श न करवाते हुए जैसे किसी को अन्दर ले जा रहे हों इस तरह हथेली से कोहनी तक तीन बार प्रमार्जन करें, उस समय (8 से 10) **सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदरूं–** ये तीन बोल बोलें।

• **पक्खोडा**[15]– फिर पूर्ववत दायें हाथ में ग्रहण की हुई मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श करवाते हुए जैसे किसी वस्तु को झाड़ रहे हों इस तरह कोहनी से हथेली तक तीन बार प्रमार्जन करें, उस समय (11 से 13) **कुदेव, कुगुरु, कुधर्म परिहरूं–** ये तीन बोल मन में कहें।

• **अक्खोडा–** पुन: वधूटक पूर्वक दायें हाथ में ग्रहण की हुई मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श न करवाते हुए हथेली से कोहनी तक तीन बार प्रमार्जना करें, उस समय (14-16) **ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरूं–** इन

तीन बोलों का चिन्तन करें।

• **पक्खोडा–** पुनः वधूटक पूर्वक दायें हाथ में गृहीत मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श करवाते हुए कोहनी से हथेली तक तीन बार प्रमार्जना करें, उस समय (17 से 19) **ज्ञान विराधना, दर्शन विराधना, चारित्र विराधना परिहरूं–** ये तीन बोल कहें।

• **अक्खोडा–** पुनः पूर्ववत मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श न करवाते हुए हथेली से कोहनी तक तीन बार प्रमार्जना करें, उस समय (20 से 22) **मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति आदरूं–** ये तीन बोल कहें।

• **पक्खोडा–** पुनः पूर्ववत मुखवस्त्रिका का बायें हाथ पर स्पर्श करवाते हुए कोहनी से हथेली तक तीन बार प्रमार्जना करें, उस समय (23 से 25) **मनोदंड, वचनदंड, कायदंड परिहरूं–** ये तीन बोल मन में कहें।[16]

इस प्रकार मुखवस्त्रिका प्रतिलेखना के समय 1 दृष्टि प्रतिलेखन + 6 पुरिम + 9 अक्खोडा + 9 पक्खोडा = 25 बार प्रमार्जना होती है।

यहाँ प्रसंगवश छह पुरिम एवं नव अक्खोडा का अधिक स्पष्टीकरण इस प्रकार है–पुरिमा अर्थात विभाग, खोडा अर्थात उपविभाग। इन्हें चद्दर की प्रतिलेखना से इस प्रकार समझें–

साधुओं के ओढ़ने की चद्दर की लम्बाई का पूरा माप 5 हाथ और चौड़ाई का पूरा माप 3 हाथ होता है। सर्वप्रथम चद्दर की चौड़ाई को मध्य भाग से मोड़कर दो समान पट कर लें, प्रथम एक पट की चौड़ाई डेढ़ हाथ और लम्बाई 5 हाथ रहेगी। उसके बाद पट की लम्बाई के तीन समान भाग करें, प्रत्येक भाग के ऊपर से नीचे तक तीन-तीन खंड करें। प्रत्येक खंड पर दृष्टि डालकर प्रतिलेखन करें। इसी प्रकार दूसरे पट के भी तीन समान भाग करें और प्रत्येक भाग के ऊपर से नीचे तक तीन-तीन खंड करते हुए प्रत्येक खंड पर दृष्टि डालकर प्रतिलेखन करें। यह चद्दर के एक पार्श्व (तरफ) की प्रतिलेखना हुई।

यहाँ प्रतिलेखना में पूरी चद्दर के एक तरफ का भाग 6 भागों में और 18 खंडों में विभक्त किया गया है। इसी प्रकार पूरी चद्दर के दूसरी तरफ का भाग भी 6 भागों में और 18 खंडों में विभक्त कर उसकी प्रतिलेखना की जाये। इस प्रकार एक चद्दर की प्रतिलेखना में बारह भाग (पुरिमा) और छत्तीस खंड (खोडा) किये जाते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में चादर के एक पार्श्व भाग की अपेक्षा से छह 'पुरिमा' कहे गये हैं तथा एक पार्श्व के एक पट की (लम्बाई पाँच हाथ और चौड़ाई डेढ़ हाथ की) अपेक्षा से 'नवखोडा' कहे गये हैं।[17]

## तुलना

यदि मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन सम्बन्धी बोलों का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो हमें आगम ग्रन्थों एवं टीका ग्रन्थों में यह वर्णन लगभग नहीं मिलता है। यह विवरण सर्वप्रथम प्रवचनसारोद्धार एवं गुरुवंदनभाष्य में प्राप्त होता है।[18] इससे अनुमान होता है कि बोलों की परम्परा 12-13वीं शती के बाद अस्तित्व में आई है तथा उपर्युक्त ग्रन्थों में बोलों की संख्या एवं नाम को लेकर पूर्ण साम्य है।

**शरीर प्रतिलेखना–** मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना शरीर प्रतिलेखना सहित होती है। प्रवचनसारोद्धार एवं गुरुवंदनभाष्य[19] के अनुसार शरीर प्रतिलेखना सम्बन्धी बोल विधि इस प्रकार है–

1. **बायां हाथ–** उकडु आसन में बैठकर दायें हाथ की अंगुलियों के बीच मुखवस्त्रिका को (वधूटक पूर्वक) पकड़ें। फिर बायें हाथ का प्रतिलेखन– **हास्य** कहते हुए बीच में, **रति** कहते हुए दायीं तरफ एवं **अरति परिहरूं** कहते हुए बायीं तरफ करें।

2. **दायां हाथ–** पुनः पूर्ववत आसन में बैठे हुए बायें हाथ की अंगुलियों के बीच मुखवस्त्रिका को पकड़ें। फिर दायें हाथ का प्रतिलेखन– **भय** कहते हुए मध्य में, **शोक** कहते हुए दायीं तरफ एवं **दुगुंछा परिहरूं** कहते हुए बायीं तरफ करें।

3. **मस्तक–** पुनः पूर्ववत मुद्रा में मुखवस्त्रिका के दोनों किनारों को दोनों हाथों से पकड़कर ललाट की प्रतिलेखना– **कृष्ण लेश्या** कहते हुए बीच में, **नील लेश्या** कहते हुए दायीं तरफ एवं **कापोत लेश्या परिहरूं** कहते हुए बायीं तरफ करें।

4. **मुख–** पुनः पूर्ववत मुद्रा में मुखवस्त्रिका के दोनों किनारों को दोनों हाथों में पकड़कर मुख की प्रतिलेखना– **ऋद्धि गारव** कहते हुए मध्य में, **रस गारव** कहते हुए दायीं तरफ एवं **साता गारव परिहरूं** कहते हुए बायीं तरफ करें।

5. **हृदय–** तदनन्तर पूर्ववत मुद्रा में मुखवस्त्रिका के दोनों किनारों को दोनों हाथों से पकड़कर हृदय की प्रतिलेखना– **माया शल्य** कहते हुए मध्य भाग में, **निदान शल्य** कहते हुए दायीं तरफ एवं **मिथ्यादर्शन शल्य परिहरूं** कहते हुए बायीं तरफ करें।

6. **कंधा–** फिर **क्रोध मान परिहरूं** कहते हुए दायें कंधे का प्रतिलेखन करें। फिर **माया लोभ परिहरूं** कहते हुए बायें कंधे का प्रतिलेखन करें।

7. **पाँव–** तत्पश्चात **पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय की रक्षा करूं** कहते हुए दाहिने पाँव के मध्य, दायें एवं बायें भाग की प्रतिलेखना रजोहरण से करें। फिर **वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय की जयणा करूं** कहते हुए बायें पांव के मध्य आदि भागों की प्रतिलेखना रजोहरण से करें।

इस प्रकार बायें हाथ की 3, दायें हाथ की 3, मस्तक की 3, मुख की 3, हृदय की 3, दायें-बायें कंधे की 4, दायें पांव की 3, बायें पाँव की 3 ऐसे कुल शरीर के 25 स्थानों की प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना होती है।

ध्यातव्य है कि उक्त पच्चीस प्रकार की शरीर प्रतिलेखना पुरुष के लिए होती है। स्त्रियों के गोप्य अवयव आवृत्त होने से उनके दोनों हाथ की 6, दोनों पाँव की 6, मुख की 3 ऐसे 15 स्थानों की ही प्रमार्जना होती है। मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन एवं शरीर प्रतिलेखन की प्रायोगिक विधि अनुभवी के समीप या गुरुगम पूर्वक सीखनी चाहिए। यहाँ तो उस विधि का उल्लेख मात्र किया गया है।

### तुलना

चैतसिक विकारों का सम्बन्ध जिस अंग-प्रत्यंग से है अथवा जिन-जिन विकारों के जो-जो उद्गम स्थल हैं उन्हें अवरुद्ध करने हेतु शरीर प्रतिलेखना की जाती है। इसका सामान्य स्वरूप प्रवचनसारोद्धार एवं गुरुवंदनभाष्य में उपलब्ध होता है। इनमें बोल संख्या एवं नामों को लेकर पूर्ण साम्य है।

## पात्र प्रतिलेखन विधि

जैन मुनि के आहार योग्य भाण्ड या बरतन को पात्र कहते हैं। श्वेताम्बर मुनि पात्र रखते हैं तथा दिगम्बर मुनि करपात्री होते हैं।

**पात्र प्रतिलेखना काल–** उत्तराध्ययनसूत्र एवं पंचवस्तुक के अनुसार दिन के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग में पात्र आदि उपकरणों की प्रतिलेखना करनी चाहिए। इससे पूर्व अथवा पश्चात प्रतिलेखना करने से आज्ञा भंग, अनवस्था,

मिथ्यात्व आदि दोष लगते हैं। यदि पात्रादि की अविधिपूर्वक प्रतिलेखना करते हैं तो भी उपर्युक्त दोष लगते हैं।[20]

दिन के इस भाग को उग्घाड़ा पौरुषी भी कहते हैं। परवर्ती ग्रन्थों में उग्घाड़ा पौरुषी की विधि के पश्चात पात्र प्रतिलेखना करने का निर्देश है। वर्तमान में नवकारसी करने वाले साधु-साध्वी एक बार तो नवकारसी के आने पर पात्र प्रतिलेखन कर लेते हैं फिर पौरुषी के समय पुनः पात्र प्रतिलेखना करते हैं। दूसरी बार की पात्र प्रतिलेखना आगम आचरणा के रूप में की जाती है। प्राचीन काल में साधु-साध्वी मध्याह्न वेला में एक बार भिक्षार्थ जाते थे। अतः उन्हें भोजन ग्रहण के पूर्व तथा पश्चात ऐसे दो बार पात्र प्रतिलेखना करनी होती थी। वर्तमान में होने से तीन चार बार भी आहारादि का ग्रहण करते हैं अतः उतनी ही बार पहले और बाद में पात्र प्रतिलेखना करना चाहिए।

**पात्र प्रतिलेखन का क्रम–** उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार दिन की प्रथम पौरुषी का चतुर्थ भाग शेष रहने पर पात्र सम्बन्धित तीन उपकरणों की प्रतिलेखना करें। इनका क्रम इस प्रकार बताया गया है–1. सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका (पूंजणी) का 2. फिर गोच्छग का और 3. फिर अंगुलियों से गोच्छग पकड़ कर पटल आदि पात्र सम्बन्धी वस्त्रों का प्रतिलेखन करें।[21]

ओघनिर्युक्ति में पात्र से सम्बन्धित सात उपकरणों (पात्र निर्योग) का निर्देश है। इनकी प्रतिलेखना अनुक्रमशः करें– 1. गोच्छग (पात्र के ऊपर ढंकने का ऊनी वस्त्र) 2. पटल (भिक्षाचर्या के समय पात्र ढँकने हेतु उपयोगी वस्त्र) 3. पात्रकेसरिका (प्रमार्जन उपयोगी चरवली-पूंजणी) 4. पात्रबंध (पात्र बाँधने का वस्त्र, झोली) 5. पात्र 6. रजस्त्राण (रजकण आदि से बचाव करने हेतु पात्र लपेटने का वस्त्र अथवा चूहों, जीव जन्तुओं, रज या वर्षा के जलकण से बचाने का वस्त्रोपकरण) और 7. पात्रस्थापन (पात्र को रज आदि से बचाने हेतु नीचे के गुच्छे)।[22]

**पात्र प्रतिलेखना कितनी बार?** यतिदिनचर्या के मतानुसार पात्र सम्बन्धी उपकरणों की दो बार प्रतिलेखना की जानी चाहिए। पहली प्रतिलेखना दिन के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग में करें और दूसरी प्रतिलेखना दिन के चतुर्थ प्रहर के प्रथम भाग में करें। दूसरी बार की प्रतिलेखना करते समय पात्रों को बाँधकर रखना चाहिए।[23]

**किस पात्रोपकरण की प्रतिलेखना कितने बोल पूर्वक?** यतिदिनचर्या एवं साधुविधिप्रकाश के मन्तव्यानुसार 1. पात्र 2. पात्रबन्ध 3. पात्रस्थान 4. पटल 5. रजस्त्राण और 6. गोच्छक–इन छह पात्रोपकरण की प्रतिलेखना मुखवस्त्रिका की तरह 25 बोल पूर्वक करें। पात्र केसरिका की प्रतिलेखना पूर्वोक्त दस बोल पूर्वक करें।[24]

वर्तमान परम्परा में तीन पात्र के स्थान पर पाँच, सात, नौ और ग्यारह पात्र की जोड़, तिरपणी (घटाकार लघु पात्र), तिरपणी पकड़ने की डोरी, करेटा (गोलाकार ढक्कन सहित पात्र), पतरी (थाली आकार का पात्र), विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े प्याले, पानी के घड़े आदि अनेक उपकरण बढ़ चुके हैं। इन सभी की प्रतिलेखना 25-25 बोल पूर्वक करनी चाहिए।

**किस पात्र की प्रतिलेखना किससे ?** प्राचीन परम्परा के अनुसार पात्र केसरिका (पूंजणी) की प्रतिलेखना 10 बोल पूर्वक रजोहरण से करें। पात्रों की प्रतिलेखना 25-25 बोल पूर्वक पात्र केसरिका के द्वारा करें। पात्र प्रतिलेखना के समय एक बोल से पात्र के सम्पूर्ण भाग का दृष्टि पडिलेहण करें, बारह बोल द्वारा पात्र के अन्दर के भाग की प्रमार्जना करें एवं बारह बोल से पात्र के बाह्य भाग की प्रमार्जना करें। इस प्रकार 1+12+12 = 25 बोल पूर्वक प्रत्येक पात्र की प्रतिलेखना करें।

पात्र बन्ध, पात्रस्थापन, पटल, रजस्त्राण, गोच्छक– इन पाँच की प्रतिलेखना मुखवस्त्रिका की भाँति चित्त एवं दृष्टि की एकाग्रता पूर्वक दोनों हाथों से करें।[25]

**आहारार्थ जाने से पूर्व पात्र का प्रतिलेखन क्यों?** आगम विहित सामाचारी के अनुसार जैन साधु-साध्वी भिक्षाटन करने से पहले पात्र की प्रतिलेखना करते हैं। इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि अनदेखे पात्रों को लेकर गृहस्थ के घर में चले जाएं और वहाँ आहारादि के लिए पात्र को सामने करें। यदि उसमें जीव-जन्तु दिख जाएँ या धूल आदि लगी हुई दिख जाये तो जीव विराधना होती है। इससे गृहस्थ पर मुनि जीवन की बुरी छाप पड़ती है, साधुओं की असावधानी, अविवेक और प्रमाद प्रकट होता है तथा अनेक प्रकार के अनिष्ट की संभावनाएं भी हो सकती हैं। पात्र में विषैले जन्तु हों और उसमें आहार आदि ले लिया जाए तो जीव विराधना के साथ-साथ आहारादि के विकृत

हो जाने की भी सम्भावना रहती है। अत: इन सब अनिष्ट सम्भावनाओं से बचने एवं संयम वृद्धि के लिए भिक्षा गमन से पूर्व पात्र का प्रतिलेखन किया जाता है।[26]

**पात्र प्रतिलेखन विधि–** पंचवस्तुक एवं यतिदिनचर्या में वर्णित पात्र प्रतिलेखना विधि इस प्रकार है– सर्वप्रथम पात्र और पात्र सम्बन्धी सर्व सामग्री प्रतिलेखना के स्थान पर रखें। फिर ऋतुबद्ध काल (चातुर्मास के सिवाय शेष आठ मास का समय) हो तो पादप्रोंछन और वर्षाकाल हो तो काष्ठासन (पाट, तख्ता, चौकी आदि) पर बैठें। ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। उसके बाद बैठे-बैठे ही चक्षु आदि इन्द्रियों का उपयोग रखते हुए एकाग्रचित्त होकर पात्रों की प्रतिलेखना करें।[27]

चक्षु आदि इन्द्रियों का उपयोग रखने से तात्पर्य है कि सर्वप्रथम पात्र को दृष्टि से देखें। कदाचित उसमें कोई जीव-जन्तु आदि या कचरा, धूल आदि दिख जाये तो उसे यतनापूर्वक दूर करें। झोली के बाहर जीव दिख जाये तो उन्हें भी यतनापूर्वक दूर करें। यदि चक्षु द्वारा बाहर में किसी प्रकार के जीव दिखाई न दें तो पात्रस्थ जीवों को जानने हेतु श्रोत्रेन्द्रिय का उपयोग करें, पात्र के समीप कान लगाकर सुनें, यदि उसमें भौंरा-भौंरी घुस गये हों और उनके भृं-भृं गुंजार आदि शब्द सुनाई दे रहे हों, तो उन जीवों को विवेक पूर्वक दूर करें। फिर नासिका का उपयोग करते हुए पात्र को सूंघें। यदि कोमल जीव फिरते हुए मृत हो गये हों और उनका रक्त आदि लगा हुआ हो तो गंध से जानकर दूर करें। जहाँ गंध हो वहाँ रस होता है, इसलिए रसना इन्द्रिय का उपयोग करते हुए यदि कोई दूषित द्रव्य हो तो उसको रस से ज्ञात कर दूर करें। इसी तरह जहाँ रस हो वहाँ गंध होती है। गंध के पुद्गल स्वयं के उच्छ्वास आदि के माध्यम से नासिका को स्पर्श करते हैं, यदि वहाँ कुछ दिखाई दे तो उसे जयणापूर्वक दूर करें। इस तरह स्पर्शेन्द्रिय का भी उपयोग करें। किसी भी जीव-जन्तु की स्पर्श द्वारा जानकारी लेने हेतु पडला पर हाथ रखें। यदि पात्र में चूहा आदि हो तो उसके नि:श्वास की वायु शरीर पर लगने से ज्ञात हो जाता है, तब उसे दूर करें। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों का उपयोग करते हुए पात्र प्रतिलेखन करें।[28]

तत्पश्चात मुखवस्त्रिका से गुच्छों (पात्र बाँधने के ऊनी वस्त्रों) की प्रतिलेखना करें। फिर उन गुच्छों को अंगुलियों में रखकर पडलों की प्रतिलेखना

करें। उसके बाद पात्र केसरिका (पूंजणी) के द्वारा झोली के चारों किनारों को एकत्रित कर उसका प्रमार्जन करें। उसके बाद वर्णित विधि के अनुसार पाँचों इन्द्रियों का उपयोग रखते हुए पात्रों की प्रतिलेखना करें। फिर पूँजणी से पात्र के किनारों की प्रमार्जना करें, क्योंकि सबसे पहले पात्र को किनारे से पकड़ना होता है। तदनन्तर पूंजणी के द्वारा पात्र के बाह्य भाग और आभ्यन्तर भाग की तीन-तीन बार प्रमार्जना करें। उसके बाद पात्र को बायें हाथ में पकड़कर भूमि से चार अंगुल ऊपर रखते हुए उसके अन्दर के तलिये का निरीक्षण करें। फिर उस तलिये का तीन बार प्रमार्जन करें और फिर तीन बार प्रतिलेखना करें। पुनः पात्र को हाथ में लेकर दूसरी बार भी अन्दर के तलिये की तीन बार प्रमार्जना करें। फिर पात्र मुख को उल्टा करके एक ही बार में बाहरी तलिये का प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन करें।[29]

यहाँ कुछ आचार्य कहते हैं कि पात्र की प्रतिलेखना करते समय पहले एक बार पात्र के बाह्य भाग की प्रमार्जना करें। फिर एक बार पात्र के आभ्यन्तर भाग की प्रमार्जना करें। इसी क्रम से दूसरी और तीसरी बार भी करें। उसके पश्चात पात्र को उल्टा करके पुनः पात्र के तलिये की प्रमार्जना करें। इस प्रकार क्रमशः तीन बार प्रमार्जन एवं तीन बार प्रस्फोटन करें।

कुछ आचार्यों के अभिमतानुसार पात्र का तीन बार ही प्रस्फोटन करना चाहिए।[30]

## तुलना

पात्र प्रतिलेखना कब, किस विधि पूर्वक की जानी चाहिए? इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करें तो आगमिक उत्तराध्ययनसूत्र में एवं व्याख्या मूलक ओघनिर्युक्ति ग्रन्थ में यह विवेचन प्राप्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में तो पात्र प्रतिलेखना के समय का ही निर्देश है, किन्तु ओघनिर्युक्ति में पात्र प्रतिलेखना काल, पात्र प्रतिलेखना विधि, पात्र प्रतिलेखना क्यों आदि विषयों का भी वर्णन है। इसके अनन्तर यह विवेचन पंचवस्तुक एवं यतिदिनचर्या में उपलब्ध होता है। तदनन्तर साधुविधिप्रकाश में इसका परिवर्तित स्वरूप वर्णित है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो ओघनिर्युक्ति आदि में यह वर्णन सम्यक रूप से उल्लिखित है। पात्रोपकरण की प्रतिलेखना कितने बोल

पूर्वक की जानी चाहिए? इसका भी उसमें उल्लेख है। साधुविधिप्रकाश में बोल सम्बन्धी चर्चा कुछ स्पष्टता के साथ है। इसमें अन्य पक्ष भी सुस्पष्ट रूप से वर्णित हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में प्रतिलेखना करते समय बोलों के चिन्तन का विधान नहीं है। मूलागमों में भी इसकी चर्चा नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि यह अवधारणा परवर्ती है, किन्तु श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय में इसे आवश्यक माना गया है।

## उपधि और पात्र के सम्बन्ध में विशेष विचार

ओघनिर्युक्ति एवं पंचवस्तुक आदि ग्रन्थों में निर्देश है कि जैन साधु ऋतुबद्धकाल (चातुर्मास के चार महीनों को छोड़कर शेष आठ मास) में उपधि (वस्त्र, पात्रादि) की प्रतिलेखना करने के पश्चात वस्त्र उपधि को बाँधकर रखें। पात्रों को स्वयं के पास रखें। रजस्त्राण को भी अपने पास रखें। इस विधि का पालन न करने से अग्नि, चोर, राज्य आदि उपद्रवों का दोष लगता है। जैसे कि उपधि को बाँधकर नहीं रखा गया हो और अचानक अग्नि का उपद्रव हो जाये तो उसके भय से क्षुब्ध हुए साधु के द्वारा पृथक-पृथक रखी गई उपधि को एकत्रित करते हुए कोई वस्त्र छूट सकता है। शीघ्रता से उपधि एवं पात्र नहीं ले सकने के कारण वे अग्निसात भी हो सकते हैं, उन्हें चोर भी सरलता से चुरा सकते हैं, पात्र को जल्दी-जल्दी लेने-पकड़ने से गिर या टूट जाये तो छह काय जीवों की विराधना होती है। इस तरह अनेक विराधनाएं होने की सम्भावना रहती है। जबकि उपधि स्वयं के निकट हो तो राजादि का भय उपस्थित होने पर तुरन्त अन्य स्थान पर जा सकते हैं। इससे संयमोपकरण और आत्मा दोनों का संरक्षण भी कर सकते हैं।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अनुसार मुनि वर्षाकाल में उपधि को बाँधें नहीं और पात्र को स्वयं से दूर रखें। इसका कारण यह है कि वर्षाकाल में पानी की अधिकता होने से अग्नि उपद्रव नहीं होता है। वर्षा के कारण पल्लीपति आदि चोर-डाकू भी नहीं आते हैं और वर्षाऋतु में मार्ग अवरुद्ध हो जाने से राजाओं के उपद्रव भी नहीं होते हैं। इस तरह अग्नि, चोर, राज्योपद्रव आदि की आशंकाएं न होने से उपधि और पात्र को एकान्त में रखने का निर्देश दिया गया है।[31]

## रजोहरण आदि उपकरणों की प्रतिलेखना विधि

**रजोहरण प्रतिलेखना–** सर्वप्रथम उकडूँ आसन में बैठकर रजोहरण को खोलें। फिर क्रमशः 25 बोल से रजोहरण के दसियों की, 10 बोल से डण्डी की

तथा 25-25 बोल से सूती निशेथिया एवं ऊनी निशेथिया (ओघारिया) की प्रतिलेखना करें। उसके बाद डोरे को चौगुणा करके रजोहरण के द्वारा 10 बोल से उसकी प्रतिलेखना करें। फिर प्रतिलेखित डोरे को कान के ऊपरी भाग में रखकर एवं घुटनों के बल बैठकर रजोहरण बाँधें।[32]

**दंडा प्रतिलेखना–** डंडे की प्रतिलेखना 10 बोल से खड़े-खड़े करें एवं रजोहरण से उसकी प्रमार्जना करें।[33]

**दण्डासन प्रतिलेखना–** दण्डासन की प्रतिलेखना उकडूँ आसन में बैठकर 10 बोल से करें तथा बोल का चिन्तन करते हुए दण्डासन के सम्पूर्ण भाग पर दृष्टि को एकाग्रचित्त बनाये रखें।

**काष्ठासन-पट्टादि प्रतिलेखना**–पट्टा, चौकी, पाट आदि की प्रतिलेखना 25-25 बोल पूर्वक अर्धावनत मुद्रा में या उकडूँ आसन में बैठकर करें।

इनकी प्रतिलेखना करते समय सर्वप्रथम दृष्टि पडिलेहण करें। फिर उनके चारों पार्श्वों में तीन-तीन बार कुल 12 बार प्रतिलेखना करें। फिर पट्टादि के चारों पाँवों पर तीन-तीन बार ऐसे कुल 12 बार प्रतिलेखना करें। इस तरह 25 बोल पूर्वक 25 बार प्रतिलेखना करें।[34]

**कंबली-चद्दर-उत्तरपट्ट-संस्तारक-निशेथिया आदि की प्रतिलेखना–** कंबली आदि वस्त्रों की प्रतिलेखना मुखवस्त्रिका के समान करनी चाहिए। जिस प्रकार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करते हुए दृष्टि पडिलेहण, दोनों पार्श्वों का पडिलेहण, नौ अक्खोडा एवं नौ पक्खोडा आदि क्रियाएँ की जाती हैं उसी प्रकार की समस्त क्रियाएँ अन्य वस्त्रों की प्रतिलेखना के समय भी की जानी चाहिए।

परन्तु जो वस्त्र बड़े होते हैं उनका वधूटक करना संभव नहीं हो पाता है। इसलिए उन्हें अंगुलियों के द्वारा पकड़कर प्रतिलेखित करते हैं। वस्त्र प्रतिलेखना करते समय कुछ सावधानियाँ अपेक्षित हैं जो उत्तराध्ययनसूत्र में इस प्रकार बतायी गयी हैं–[35]

1. **उड्ढं** (ऊर्ध्व)–उकडूँ आसन में बैठकर वस्त्रों को भूमि से ऊँचा रखते हुए प्रतिलेखन करना चाहिए।
2. **थिरं** (स्थिर)–वस्त्र गिर न जाये, इसलिए दृढ़तापूर्वक पकड़कर उसकी प्रतिलेखना करनी चाहिए।

3. **अतुरियं** (अत्वरित)–उपयोग शून्य होकर जल्दी-जल्दी प्रतिलेखना नहीं करनी चाहिए।
4. **पडिलेहे** (प्रतिलेखन)–वस्त्र के तीन भाग करके पहले एक ओर से सम्पूर्ण देखना, फिर पासा बदलकर दूसरी ओर से सम्पूर्ण देखना चाहिए।
5. **पप्फोडे** (प्रस्फोटन)– वस्त्र के सम्पूर्ण भाग को एक बार देखने के बाद दूसरी बार उसके दोनों किनारों को पकड़कर यतना से धीरे-धीरे झड़काना चाहिए।
6. **पमज्जिज्जा** (प्रमार्जना)– तीसरी बार वस्त्र पर सटे हुए जीव हाथ के ऊपर गिरते हों, उस तरह से वस्त्र की प्रतिलेखना करनी चाहिए।

सामान्यतया वस्त्र प्रतिलेखना में आँखों से वस्त्रों का निरीक्षण करना, वस्त्र को बिना आवाज किये झटकना और वस्त्र की प्रमार्जना करना ये तीन क्रियाएँ मुख्य होती हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार वस्त्र प्रतिलेखना करते समय निम्न छह प्रकार की सावधानियाँ भी विशेष रूप से रखी जानी चाहिए।[36]

1. **अनर्तित**– प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को इधर-उधर न नचाएं।
2. **अवलित**– प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को न मोड़ें अथवा वस्त्र कहीं से मुड़ा हुआ न हो अथवा वस्त्र या शरीर को चंचल न बनाएं।
3. **अननुबन्धी**– प्रतिलेखना करते समय जब जो विधि आये, तदनुसार आस्फोटन, प्रस्फोटन, प्रमार्जन आदि करें। क्रम का उल्लंघन न करें अथवा वस्त्र को दृष्टि से ओझल न करें या वस्त्र को अयतना से न झटकाएं।
4. **अमोसली**– प्रतिलेखना करते समय धान्यादि कूटते हुए मूसल की तरह वस्त्र को ऊपर, नीचे या तिरछे दीवार आदि से स्पर्श नहीं करवायें।
5. **षट्पुरिम नवखोडा**– प्रतिलेखना करते समय छह पुरिम और नवखोडा करें। षट्पुरिम का रूढ़ अर्थ है–वस्त्र के दोनों ओर के तीन-तीन हिस्से करके उन्हें (दोनों हिस्सों को) तीन-तीन बार खंखेरना, झड़काना। नवखोडा का अर्थ है–स्फोटन अर्थात प्रमार्जन। वस्त्र को अंगुलियों के बीच दबाकर (पकड़कर) हथेली से कोहनी की तरफ ऊपर ले जाते हुए

तीन बार तीन-तीन जगहों पर प्रमार्जन करना नव अक्खोडा है। इसी प्रकार वस्त्र को कोहनी से हथेली की ओर नीचे ले जाते हुए तीन बार तीन-तीन जगहों पर प्रमार्जना करना नव पक्खोडा है।

6. **पाणिपाण विशोधन**– वस्त्र आदि पर कोई जीव दिख जाए तो उसे यतनापूर्वक निर्जीव भूमि पर रख दें।

यहाँ 1 दृष्टि प्रतिलेखन, 6 पुरिम (झटकाना) और 18 खोटक (प्रमार्जन) करना–इस तरह प्रतिलेखना के कुल 1+ 6 + 18 = 25 प्रकार होते हैं।

## प्रतिलेखना के विकल्प

जैनागमों में वर्णित है कि वस्त्र के प्रस्फोटन और प्रमार्जन की संख्या से अन्यून अनतिरिक्त (न कम और न अधिक) और अविपरीत प्रतिलेखना करनी चाहिए। इन तीनों विशेषणों के आधार पर प्रतिलेखना के आठ विकल्प बनते हैं। इनमें प्रथम विकल्प (अन्यून, अनतिरिक्त और अविपरीत) प्रशस्त है और शेष अप्रशस्त हैं। जैसे[37]

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | अन्यून | अनतिरिक्त | अविपरीत |
| 2. | अन्यून | अनतिरिक्त | विपरीत |
| 3. | अन्यून | अतिरिक्त | अविपरीत |
| 4. | अन्यून | अतिरिक्त | विपरीत |
| 5. | न्यून | अनतिरिक्त | अविपरीत |
| 6. | न्यून | अनतिरिक्त | विपरीत |
| 7. | न्यून | अतिरिक्त | अविपरीत |
| 8. | न्यून | अतिरिक्त | विपरीत |

## प्रतिलेखना के दोष

जैन आगमों में प्रतिलेखना करते वक्त षड्विध दोषों की संभावनाएँ बतायी गयी हैं। प्रतिलेखना काल में उन दोषों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। वे दोष निम्न हैं–[38]

1. **आरभटा**– विधि के विपरीत प्रतिलेखना करना अथवा एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधूरी छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना में लग जाना।
2. **सम्मर्दा**– प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकड़ना कि उसके बीच में सलवटें पड़ जायें अथवा प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठकर

प्रतिलेखना करना।

3. **मोसली**– प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे किसी वस्त्र या पदार्थ से संघट्टित करना।
4. **प्रस्फोटना**– प्रतिलेखन करते समय धूल धूसरित वस्त्र को गृहस्थ की तरह वेग से झटकना।
5. **विक्षिप्ता**– प्रतिलेखित वस्त्रों को अप्रतिलेखित वस्त्रों के साथ मिला देना अथवा वस्त्र के आंचल को इतना ऊँचा उठाना कि उसकी प्रतिलेखना न हो सके।
6. **वेदिका**– इसके पाँच प्रकार हैं–

(i) ऊर्ध्ववेदिका–दोनों घुटनों पर हाथ रखकर प्रतिलेखन करना।

(ii) अधोवेदिका–दोनों घुटनों के नीचे हाथ रखकर प्रतिलेखन करना।

(iii) तिर्यग्वेदिका–दोनों घुटनों के बीच में हाथ रखकर प्रतिलेखन करना।

(iv) उभयवेदिका–दोनों घुटनों को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखन करना।

(v) एक वेदिका–एक घुटने को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखन करना।

जैनाचार्यों ने प्रतिलेखना अविधि से सम्बन्धित भी सात दोष बताये हैं। प्रतिलेखना करते समय इन दोषों से सतर्क रहना चाहिए। वे दोष निम्न हैं–[39]

1. **प्रशिथिल**– वस्त्र को ढीला पकड़ना।
2. **प्रलम्ब**– वस्त्र को इस तरह पकड़ना कि उसके कोने नीचे लटकते रहें।
3. **लोल**– प्रतिलेख्यमान वस्त्र का हाथ या भूमि से संघर्षण करना।
4. **एकामर्शा**– वस्त्र को बीच में से पकड़कर एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख लेना।
5. **अनेक रूप धुनना**– प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकना अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ झटकना।
6. **प्रमाण प्रमाद**– प्रस्फोटन और प्रमार्जन के लिए नौ-नौ बार करने का जो परिमाण बतलाया है, उसमें प्रमाद करना।
7. **गणनोपगणना**– प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट परिमाण में शंका होने पर उसकी गिनती करना।

## अविधि या प्रमाद प्रतिलेखना से हानि

उत्तराध्ययनसूत्र के निर्देशानुसार जो मुनि प्रतिलेखना करते समय काम कथा करता है, जनपद की कथा करता है, प्रत्याख्यान करवाता है, दूसरों को पढ़ाता है, स्वयं पढ़ता है वह अविधिपूर्वक प्रतिलेखना करते हुए पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय-इन छह कायिक जीवों की विराधना करता है, जीव विराधना से संयम विराधना करता है और संयम विराधना से आत्म विराधना करता है फिर अन्ततः मोक्ष का विघातक बनता है। इसलिए काया और मन की स्थिरतापूर्वक प्रतिलेखना करनी चाहिए। प्रतिलेखना करते वक्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक अशुभ व्यापार का तो त्याग करना ही चाहिए, शुभ व्यापार से भी निवृत्त हो जाना चाहिए।[40]

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि केवल वाणी के प्रयोग मात्र से छह काय जीवों की विराधना कैसे संभव है? ओघनिर्युक्तिकार ने इसके समाधान में कहा है कि यदि प्रतिलेखक मुनि किसी कुम्हार आदि के स्थान पर प्रतिलेखना कर रहा हो और बीच में कुछ बोल जाये तो, एक समय में जीव का एक ही उपयोग रहने से प्रतिलेखन का उपयोग चूक सकता है। इससे प्रतिलेखन करते हुए घड़े आदि से धक्का लग जाये और उसमें सचित्त मिट्टी, अग्नि, अनाज कण, कुंथु आदि त्रस जीव विद्यमान हों तो छह काया के जीवों का नाश होता है। जहाँ अग्नि हो वहाँ वायु भी अवश्य होती है, इससे वायुकाय की भी विराधना होती है अथवा घड़े का पानी ढुला हुआ हो और उसमें पोरा आदि त्रस जीव हों तो वे भी मर जाते हैं। इस तरह से वनस्पति आदि जीवों का भी नाश होता है।

यदि प्रतिलेखक मुनि अग्नि वाले प्रदेश में हो तो अनुपयोग से वस्त्र के छेड़े में आग लग सकती है तथा उसके स्पर्श से अन्यत्र भी आग लग सकती है। परिणामतः संयम और आत्मा दोनों की विराधना होती है। इस तरह अनुपयोग द्वारा विराधना सम्भावित है।[41]

शास्त्रों में कहा गया है कि प्रमादी साधु के परिणाम अशुद्ध होने से किसी एक काया के वध में भी छह काया का वध हो सकता है। जैसा कि ओघनिर्युक्तिकार का कथन है कि प्रमादाचरण या अनुपयोग प्रवृत्ति से जीव का वध न होने पर भी परिणाम के कारण वह नियम से हिंसक कहलाता है, जबकि उपयोगपूर्वक प्रतिलेखना करने वाले साधक का ध्येय रक्षा करना होने से छह

काया का आराधक होता है। इसलिए प्रतिलेखना उपयोग एवं विधिपूर्वक करनी चाहिए।[42]

पंचवस्तुक में यह भी कहा गया है कि प्रतिलेखना न करने से जिनाज्ञा का भंग, अनवस्था, छह काय विराधना और मिथ्यात्व आदि दोष लगते हैं। इसी के साथ अविधिपूर्वक प्रतिलेखना करने से भी पूर्वोक्त दोष लगते हैं अत: गुरु के निर्देशानुसार प्रतिलेखना की सही विधि सीखनी चाहिए और वह शुद्ध रीति से भी करनी चाहिए। प्रतिलेखना प्रायोगिक क्रिया है। इसे पढ़कर या सुनकर नहीं समझा जा सकता।[43]

## प्रतिलेखक मुनि के प्रकार एवं क्रम

वस्त्र प्रतिलेखना करने वाले मुनि दो प्रकार के होते हैं–

1. तपस्वी (उपवास आदि करने वाले) और 2. आहारार्थी।

दोनों ही प्रतिलेखक सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका और उससे अपने शरीर का प्रमार्जन करें। तत्पश्चात तपस्वी मुनि, गुरु, अनशनधारी, रूग्ण, नवदीक्षित आदि के उपकरणों की प्रतिलेखना करें। फिर गुर्वाज्ञा पूर्वक अनुक्रम में पात्र, मात्रक, अन्य उपधि और अन्त में चोलपट्टक की प्रतिलेखना करें।

भक्तार्थी मुनि सर्वप्रथम अपने चोलपट्टक, मात्रक, पात्र आदि की प्रतिलेखना करने के पश्चात गुरु आदि की उपधि की प्रतिलेखना करें। फिर गुरु की अनुमति प्राप्त कर शेष वस्त्र-पात्रों की प्रतिलेखना करें और अन्त में रजोहरण की प्रतिलेखना करें।[44]

## वस्त्र प्रतिलेखन का काल

प्रात:काल में वस्त्र की प्रतिलेखना कब करनी चाहिये? इस सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचवस्तुक में इस विषय का अच्छा खुलासा किया है। उन्होंने वृद्ध परम्परा के अनुसार प्रतिलेखना के काल सम्बन्धी अनेक मत प्रस्तुत किये हैं–उनमें किन्हीं आचार्य के मतानुसार जब कुकड़ा (मुर्गा) बोले, तब प्रतिक्रमण करके प्रतिलेखना करनी चाहिए। आचार्यों के मन्तव्यानुसार अरुणोदय हो तब प्रतिलेखना करनी चाहिए।

- कुछ आचार्यों के अभिमतानुसार जब प्रकाश हो तब प्रतिलेखना करनी चाहिए।
- एक आचार्य का कहना है कि जब साधुओं का मुख परस्पर एक-दूसरे

को दिखाई देने लगे, वह प्रतिलेखना के लिए उत्तम काल है। • किसी के अनुसार जब हाथ की रेखाएँ दिखाई पड़ जाये, तब प्रतिलेखना करनी चाहिए। परमार्थ से उपर्युक्त सभी कथन मति कल्पित है।

कुकड़ा बोले तब प्रतिलेखना करना यह समय तो सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उस समय अंधकार रहता है। कुर्कुटादेशी आचार्य को यह भ्रम इस कारण से हुआ प्रतीत होता है कि जैसे दैवसिक प्रतिलेखना दिन के चतुर्थ प्रहर में की जाती है वैसे रात्रिक प्रतिलेखना भी रात्रि के चतुर्थ प्रहर में की जानी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। दूसरे, अन्धकार वाले उपाश्रय में तो सूर्य उदय होने पर भी हाथ की रेखाएँ नहीं दिखती हैं,[45] अत: ओघनिर्युक्ति में भी प्रभातकालीन प्रतिलेखना काल के पूर्वोक्त चार अभिमत दिये गये हैं, किन्तु इन्हें अनादेश माना गया है।[46] निर्णायक पक्ष के अनुसार मुनि रात्रिक प्रतिक्रमण के पश्चात ज्ञान, दर्शन, चारित्र की तीन स्तुति करें।[47] फिर मुखवस्त्रिका, रजोहरण, दो निषद्याएँ, चोलपट्ट, तीन उत्तरीय (एक ऊनी-दो सूती वस्त्र), संस्तारकपट्ट और उत्तरपट्ट–इन दस वस्तुओं की प्रतिलेखना के पश्चात सूर्योदय हो जाए, वही प्रतिलेखना का शास्त्रोक्त काल है। इस अवधि से पूर्व या पश्चात की गई प्रतिलेखना न्यूनातिरिक्त दोष वाली होती है।[48]

### तुलना

प्रात:काल में वस्त्रादि उपकरणों की प्रतिलेखना कब की जाये? इस सन्दर्भित आगम साहित्य में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है और इस विषयक भी कोई जानकारी नहीं मिलती है कि कितने वस्त्रादि की प्रतिलेखना की जाये। यदि आगमिक व्याख्या साहित्य को देखा जाए तो यह चर्चा ओघनिर्युक्ति में उपलब्ध होती है। तदनन्तर आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचवस्तुक में पूर्वापेक्षा अधिक विस्तार से प्राप्त होती है और यतिदिनचर्या आदि ग्रन्थों में भी परिलक्षित होती है। इससे अनुमानित होता है कि यह व्यवस्था क्रम परवर्ती है। उत्तराध्ययनसूत्र में पात्र प्रतिलेखना का काल अवश्य बताया गया है, किन्तु वस्त्रादि प्रतिलेखना सम्बन्धी काल का कोई निर्देश नहीं है।

## स्थापनाचार्य प्रतिलेखना विधि

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में मुनि जीवन की आवश्यक क्रियाएँ जैसे– ईर्यापथिक प्रतिक्रमण, रात्रिक-दैवसिक-पाक्षिकादि प्रतिक्रमण, अंग-उपधि-

वसति आदि की प्रतिलेखना स्थापनाचार्य (आचार्य की प्रतिकृति) के समक्ष की जाती हैं। स्थापनाचार्य को वस्त्र आदि में वेष्टित कर रखा जाता है। आचार्य के सम्मानार्थ स्थापनाचार्य के ऊपर और नीचे मुखवस्त्रिकाएँ रखी जाती हैं तथा श्रेष्ठ वस्त्र द्वारा उन्हें आवेष्टित किया जाता है।

स्थापनाचार्य प्रतिलेखना की विधि निम्न प्रकार है–

सर्वप्रथम स्थापनाचार्य रखने के लिए कंबल खण्ड (ऊनी वस्त्र) की 25 बोल से प्रतिलेखना करें।[49] फिर कंबल खण्ड को समेटकर उस पर स्थापनाचार्य रखें। उसके बाद स्थापनाचार्य के ऊपर रखी गई दो मुखवस्त्रिकाओं की 25-25 बोल से प्रतिलेखना करें। फिर स्थापनाचार्य को प्रतिलेखित मुखवस्त्रिकाओं पर रखें। उसके बाद स्थापनाचार्य के नीचे रखी गई तीसरी मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें।[50] तत्पश्चात स्थापनाचार्य को आवेष्टित करने में उपयोगी ऊनी वस्त्र खण्ड एवं सूती वस्त्र खण्ड की 25-25 बोल से प्रतिलेखना करें।

उसके पश्चात दोनों वस्त्रों को मिलाकर कंबल खण्ड के ऊपर फैला दें। फिर गादी के रूप में एक मुखवस्त्रिका रखें। उसके ऊपर स्थापनाचार्य को स्थापित कर शेष मुखवस्त्रिकाओं को स्थापनाचार्य के ऊपर रखें। फिर स्थापनाचार्य को वेष्टित कर उच्च आसन पर विराजमान करें।[51]

## तुलना

जैन परम्परा में स्थापनाचार्य की अवधारणा कब से शुरू हुई, इस सम्बन्ध में निश्चित कह पाना असंभव है, किन्तु इतना अवश्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि के काल तक इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती है। संभवत: आवश्यक विधि-क्रियाओं के समय इसका उपयोग किया जाता होगा, किन्तु टीका साहित्य में तद्विषयक उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं।

मूलत: आचार्य की अनुपस्थिति में उनकी अनुमति प्राप्त करने हेतु स्थापनाचार्य रखते हैं। देशकालगत स्थितियों के आधार पर कालान्तर में स्थापनाचार्य का प्रभाव इतना बढ़ गया है कि आचार्य की प्रत्यक्ष उपस्थिति में भी स्थापनाचार्य रखे जाते हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि जैसे निश्रारत या कनिष्ठ मुनियों के लिए आचार्य आलम्बन रूप होते हैं, वैसे ही स्वयं आचार्य के लिए स्थापनाचार्य आलम्बन भूत होने चाहिए। दूसरे, साध्वियाँ अपनी मर्यादानुसार प्रत्येक क्रिया आचार्य के समक्ष नहीं कर सकतीं तथा मुनियों

की वसति में भी बार-बार आवागमन संभव नहीं होता, अत: उनके लिए स्थापनाचार्य का होना अत्यावश्यक है।

इस सम्बन्ध में एक कारण यह भी मान्य है कि जब आचार्य संघीय या स्वकीय कार्यों में संलग्न हों, उस समय आवश्यक क्रियाओं की अनुमति स्थापनाचार्य के सम्मुख ली जा सकती है और वह उचित भी है। इस तरह स्थापनाचार्य रखने के अनेक प्रयोजन स्पष्ट होते हैं।

मुनि जीवन के दैनिक विधि-विधान स्थापनाचार्य के सामने किये जाने चाहिए। इसका सर्वप्रथम उल्लेख 12वीं शती के तिलकाचार्यसामाचारी, सुबोधासामाचारी[52] में प्राप्त होता है। उसके पश्चात विधिमार्गप्रपा[53] आदि ग्रन्थों में यह वर्णन उपलब्ध है। विधिमार्गप्रपा में स्थापनाचार्य प्रतिष्ठाविधि का भी निर्देश है।[54] तदनन्तर साधुविधिप्रकाश में स्थापनाचार्य प्रतिलेखनविधि भी प्राप्त होती है।[55] इसमें भी इतना विशेष है कि तिलकाचार्य आदि सामाचारी ग्रन्थों में स्थापनाचार्य का उल्लेख योग विधि (आगम सूत्रों की अभ्याससाध्य विधियों) के सन्दर्भ में हुआ है।

जैनाचार में कुछ क्रियाएँ नन्दी रचना के समक्ष तो कुछ क्रियाएँ गुरु के सम्मुख करने का प्रावधान है। यह उल्लेख पन्द्रहवीं शती तक के ग्रन्थों में देखा जाता है। इससे अनुमान होता है कि संभवत: स्थापनाचार्य की अवधारणा 8वीं शती से पूर्व अस्तित्व में आई होगी और उसका उपयोग प्रत्येक विधि-विधान के लिए नहीं किया जाता होगा। उपर्युक्त ग्रन्थों के अवलोकन से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, लोचप्रवेदन, ईर्यापथिक प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ मध्यकाल (8वीं से 14वीं शती) तक गुरु के समक्ष ही की जाती थी। आजकल स्थापनाचार्य का उपयोग जिस रूप में किया जा रहा है वह उत्तरवर्ती अवधारणा मालूम होती है। वर्तमान में इसका उपयोग प्रत्येक विधि-विधान के लिए किया जाता है।

यदि समीक्षात्मक पहलू से सोचा जाए तो वर्तमान युग की परिवर्तित स्थितियों में आत्मसाक्षीपूर्वक सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं के दृढ़ आलम्बन रूप में स्थापनाचार्य अत्यन्त प्रासङ्गिक हैं। यदि प्रचलित परम्पराओं की दृष्टि से देखें तो स्थापनाचार्य का उपयोग श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में ही होता है। स्थानकवासी, तेरापंथी एवं दिगम्बर परम्परा में स्थापनाचार्य रखने का कोई

प्रावधान नहीं है। उनमें कुछ क्रियाएँ गुरु के समक्ष तो कुछ आत्मसाक्षीपूर्वक सम्पन्न की जाती हैं।

## वसति प्रमार्जन विधि

चक्षु युगल से वस्त्र को अच्छी तरह देखना प्रतिलेखना है और भूमि आदि को रजोहरण से पूंजना यानी साफ करना प्रमार्जना है। वस्त्र की मात्र प्रतिलेखना की जाती है जबकि वसति का प्रतिलेखन और प्रमार्जन दोनों किया जाता है। साधु सामाचारी के अनुसार पूर्वोक्त दस उपकरणों की प्रतिलेखना करने के पश्चात वसति (उपाश्रय) की प्रमार्जना करनी चाहिए।

**वसति प्रमार्जन किससे?** साधु के रहने योग्य स्थान को दण्डासन के द्वारा स्वच्छ करना वसति प्रमार्जन कहलाता है। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार वसति की प्रमार्जना कोमल दसिया वाले, चिकनाई, मैल आदि से रहित तथा परिमाण युक्त दण्ड के साथ बँधे हुए दंडासन से करनी चाहिए। वसति प्रमार्जन हेतु झाड़ू आदि अन्य साधनों का उपयोग नहीं करना चाहिए।[56]

यदि वर्तमान कालिक स्थितियों पर विचार करें तो आज उपाश्रय की साफ-सफाई, झाड़ू-बुहारी आदि प्रसाधनों से होती है। इसके कुछ मुख्य कारण हैं – प्रथम तो आजकल उपाश्रय या पौषधशालाएँ आधुनिक साधनों से युक्त धर्मशालाओं के रूप में बनायी जाती हैं तो उसे स्वच्छ रखना भी संघ का कर्त्तव्य बन जाता है। साधु-साध्वियों के लिए तो उनके उपयोगी स्थान की प्रमार्जना करने का ही नियम है।

दूसरा कारण यह है कि पूर्व काल में साधुओं के निमित्त उपाश्रय बनाने की परम्परा नहीं थी, गृहस्थ द्वारा स्वयं के लिए बनाये गये मकान में ही साधु को स्थान मिल जाता था। चातुर्मास के अतिरिक्त शेष काल में मुनि वर्ग भी एक स्थान पर एक-दो रात्रि के सिवाय अधिक नहीं ठहरते थे। जब एक स्थान पर लम्बे समय तक रुकना ही न हो, तब अधिक स्थान की आवश्यकता भी क्यों होगी? फिर गृहस्थ की वसति में कुछ समय के लिए स्थान भी छोटा ही मिलता था और उस स्थान की प्रमार्जना दण्डासन से हो जाती थी अत: उत्सर्ग मार्ग से झाड़ू आदि का उपयोग करना निषिद्ध है। साधु के योग्य स्थान की प्रमार्जना (सफाई) दण्डासन से ही होनी चाहिए।

तीसरा कारण यह है कि कुछ उपाश्रय धर्मशालाओं, सामूहिक आयोजनों

एवं अतिथि भवन के रूप में भी बनने लगे हैं। एक भवन बनाकर उसका उपयोग अनेकविध कार्यों के लिए कर लिया जाता है। जैसे– एक तल्ला साधु भगवन्तों के लिए, एक माला साध्वी जी भगवन्तों को ठहराने के लिए, एक तल्ला अतिथियों के लिए और एक माला भोजनशाला-आयंबिलशाला आदि के लिए, इस प्रकार अनेकों कार्य 'आराधना भवन' के नाम पर पूरे कर लेते हैं। ऐसे स्थानों की साफ-सफाई दंडासन के द्वारा कैसे संभव हो सकती है? इस विवेचन का मतलब यह नहीं कि साधु अपने उपयोगी स्थान का प्रमार्जन दण्डासन द्वारा न करें, उन्हें तो स्वयं के लिए अधिकृत स्थान का प्रमार्जन दंडासन द्वारा ही करना चाहिए। उसके बाद सामूहिक स्थान की अपेक्षा झाड़ू आदि किसी भी वस्तु का उपयोग हो, वह उससे कोई मतलब न रखें।

यदि विशुद्ध संयम आराधना की दृष्टि से देखें तो आज वसति शुद्धि विचारणीय प्रश्न बन चुका है। जहाँ रिसेप्शन-विवाह-प्रीतिभोज जैसे आयोजन होते हों, वहाँ संयमधारी साधु-साध्वियों का रहना किसी भी स्थिति में कल्याणकारी नहीं है। संस्कृत उक्ति है कि 'संसर्गजा: दोषगुणा: भवन्ति'– अच्छे वातावरण से गुणों का आविर्भाव होता है और विकार युक्त वातावरण से दोषों की उत्पत्ति होती है। अत: संघ-समाज के पदाधिकारियों एवं प्रमुख कार्यकर्ताओं को इस पर गहराई से सोचना चाहिए। इस भौतिक युग में उपाश्रय की सफाई के लिए वैकम क्लिनर (Vaccum Cleaner) आदि यान्त्रिक साधनों का भी उपयोग होने लगा है तथा आधुनिक सुख-सुविधाएँ प्रदान करने के लिए एसी, गीजर, लिफ्ट (A.C, Giezer, lift) आदि भी लगवाए जा रहे हैं। बड़े भोज आदि के पश्चात बहुत अधिक पानी से धुलाई की जाती है। ऐसे वातावरण में संयम साधना हो या सामायिक साधना वह विशुद्ध कैसे हो सकती है? अत: उपाश्रय निर्दोष होना चाहिए।

**वसति प्रमार्जना का अधिकारी**– पंचवस्तुक के अनुसार वसति की प्रमार्जना गीतार्थ मुनि के द्वारा की जानी चाहिए। वसति प्रमार्जन का मूल अधिकारी गीतार्थ को बताया है, क्योंकि वह सूक्ष्म प्रज्ञावान एवं गाम्भीर्यादि गुणों से युक्त होता है। अत: वसति प्रमार्जन एकाग्रचित्त और उपयोगपूर्वक कर सकता है। इस क्रिया में त्रियोग की शुद्धि आवश्यक है। जैन मुनि की अधिकांश प्रवृत्तियाँ जैसे स्वाध्याय, कालग्रहण, स्वाध्याय प्रवेदन आदि वसति शुद्धि पर ही संभवित है।[57]

यदि वसति अशुद्ध हो तो स्वाध्याय आदि करना नहीं कल्पता है। अशुद्ध वसति में स्वाध्यायादि करने पर महापाप का आस्रव होता है। यहाँ वसति शुद्धि से तात्पर्य है कि मुनियों के निवास स्थान के चारों ओर सौ-सौ हाथ की भूमि तक मृत कलेवर, हड्डियाँ, रक्त के छींटे आदि अशुचिमय पदार्थ न हों। वसति शुद्धि करते समय किसी प्रकार की अशुचि दिख जाए तो उसे दूर कर देनी चाहिए अन्यथा वह वसति अशुद्ध कहलाती है। उस अशुद्ध वसति में आगम-सूत्रों का स्वाध्याय करना किसी भी स्थिति में कल्प्य नहीं है इसलिए वसति प्रमार्जक मुनि अत्यन्त जागरूक होना चाहिए। आचार्य-उपाध्याय आदि पदस्थ मुनियों के द्वारा वसति शोधन शोभा नहीं देता है, इसलिए वसति प्रमार्जन हेतु गीतार्थ मुनियों का उल्लेख प्राप्त होता है। अपवादत: वसति प्रमार्जन सामान्य मुनि भी कर सकते हैं।

**वसति प्रमार्जना विधि–** प्रतिदिन वस्त्रादि की प्रतिलेखना करने के पश्चात दण्डासन के द्वारा वसति की प्रमार्जना की जाती है। इसमें मुख्यतया पिछले दिन जहाँ शयन किया हो, जिन-जिन स्थानों का उपयोग किया हो तथा जो स्थान स्वाध्याय-ध्यान आदि के योग्य हों उन सभी जगहों का काजा (कचरा) निकालें। यहाँ काजा से तात्पर्य दण्डयुक्त रजोहरण (दण्डासन) के द्वारा निर्दिष्ट स्थानों की उपयोग पूर्वक सफाई करना है।

वसति प्रमार्जन करने के पश्चात इकट्ठे कचरे का सम्यक निरीक्षण करें। यदि उसमें जूं, चींटी आदि सूक्ष्म जीव दिख जायें तो उन्हें सुरक्षित स्थान पर रखें। जूं हो तो मलिन वस्त्र पर रखें और मकोड़ा हो तो लकड़ी पर रखें। फिर मृत जीवों की संख्या गिनकर तदनुसार आलोचना करें, फिर काजे को सुपड़ी में लेकर जहाँ लोगों के पाँव न पड़े ऐसी जगह परिष्ठापित करें।

उसके बाद सभी साधु स्थापनाचार्य के समक्ष एक खमासमणपूर्वक वन्दन कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। यहाँ काजे (कचरे) का विसर्जन करने हेतु बहिर्गमित मुनि के द्वारा ही वसति के चारों ओर सौ-सौ हाथ की भूमि का निरीक्षण कर लिया जाए। उसके अतिरिक्त अन्य मुनि भी वसति भूमि के शोधन हेतु जा सकते हैं। यह क्षेत्र शुद्धि स्वाध्याय करने के निमित्त की जाती है।[58]

तदनन्तर वसति प्रमार्जक साधु गुरु के समक्ष एक खमासमण देकर कहे– **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! वसति पवेउं?'** गुरु कहें– **'पवेयह।'** शिष्य **'इच्छं'** कहे।

फिर शिष्य एक खमासमण देकर कहे- **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सुद्धा वसही'** गुरु कहें- **'तहत्ति'**। तदनु शिष्य कहे- स्वामिन्! वसति प्रमार्जना करते हुए दृष्टि की भ्रान्ति से या अविधि से आशातना हुई हो तो उसका मिच्छामि दुक्कडं देता हूँ।[59]

**वसति प्रमार्जना कब और कितनी बार?** वसति प्रमार्जन प्रात: और अपराह्न दो बार किया जाना चाहिए। आचार्य हरिभद्रसूरि के उल्लेखानुसार प्रात:काल में उपधि की प्रतिलेखना करने के पश्चात वसति की प्रमार्जना करनी चाहिए तथा सायंकाल में वसति प्रमार्जना करने के पश्चात उपधि की प्रतिलेखना करनी चाहिए।[60]

वसति की सामान्य प्रमार्जना कई बार की जाती है जैसे- संस्तारक बिछाने से पूर्व, संस्तारक समेटने के बाद। इसी तरह आहार भूमि, स्वाध्याय भूमि, प्रतिक्रमण भूमि, विहार भूमि आदि की प्रमार्जना उन-उन कार्यों को करते समय की जाती है।

यतिदिनचर्या में उल्लेख है कि वसति जीवरहित हो तो भी चातुर्मास के सिवाय शेष आठ मास में दो बार और वर्षाऋतु में तीन बार तथा वसति जीवोपद्रव वाली हो तो बहुत बार प्रमार्जना की जा सकती है। यदि प्रमार्जना करने के उपरान्त भी जीवों का उपद्रव अति परिमाण में रहे तो अन्य वसति में चले जाना चाहिए। वसति प्रमार्जन का उद्देश्य यतना है। वह यतना अन्धकार में नहीं हो सकती है। इसलिए प्रात:काल में उपधि प्रतिलेखना के पश्चात वसति प्रमार्जन का नियम है। उपधि के पश्चात वसति प्रमार्जन का मुख्य हेतु जिनाज्ञा का परिपालन, जीवों के प्रति करुणा एवं क्षेत्र शुद्धि है। उपधि प्रतिलेखना की समाप्ति तक सूर्य का पर्याप्त प्रकाश हो जाने से अन्धकार पूर्णत: हट जाता है, तभी वसति की प्रमार्जना यतनापूर्वक हो सकती है।[61]

सायंकाल में पहले वसति प्रमार्जना फिर उपधि प्रतिलेखन करने के पीछे भी पूर्वोक्त कारण ही हैं। संध्या को उपधि प्रतिलेखना का समय चतुर्थ प्रहर के प्रथम भाग से शुरू होता है। यदि संध्या में उपधि प्रतिलेखना के बाद वसति की प्रमार्जना की जाए तो सूर्यास्त का समय निकट आने से प्रकाश मन्द होने लगता है। उस प्रकाश में वसति की प्रमार्जना यतनापूर्वक नहीं भी हो सकती है, अत: वसति प्रमार्जना के दोनों काल अहिंसाव्रत के सम्यक् पालन की दृष्टि से सर्वथोचित है।

**वसति प्रमार्जन न करने से लगने वाले दोष–** वसति प्रमार्जन मुनि जीवन का दैनिक आचार है। पंचवस्तुक के अनुसार वसति प्रमार्जन न करने से निम्न दोष लगते हैं –

1. **लोक निन्दा**–यदि मुनि अपने रहने के स्थान की शुद्धि नहीं करता है तो लोगों के मन में साधुओं के प्रति ऐसा विचार आ सकता है कि ये साधु कितने प्रमादी हैं कि अपने रहने के स्थान को भी स्वच्छ नहीं रखते, इस प्रकार लोक में निन्दा होती है।

2. **प्राणीघात**–वसति धूल आदि से सनी हुई हो तो सूक्ष्म जीव धूल के संसर्ग से मृत हो सकते हैं। इस प्रकार प्राणीघात का दोष लगता है।

3. **मलिनता**–यदि वसति अप्रमार्जित हो, धूल आदि से युक्त हो और वहाँ चलने-फिरने के कारण पाँव धूल आदि से भर गये हों उस स्थिति में पाँवों को साफ किये बिना आसन या उपधि के ऊपर बैठ जाएं तो उपधि के मलिन होने की पूर्ण संभावना रहती है। इस तरह मलिनता का दोष लगता है। ऐसी मलिन उपधि को धोने से छहकाय के जीवों की विराधना और आत्म विराधना का भी दोष लगता है[62]।

अत: वसति प्रमार्जना नियमित रूप से नियत काल में करनी चाहिए।

**तुलना**

वसति प्रमार्जन कब, किस विधिपूर्वक, किन उद्देश्यों से किया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में आगम ग्रन्थों एवं टीका ग्रन्थों में कोई विशेष चर्चा नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, जो आगमोक्त एवं पूर्वाचार्य सम्मत ज्ञात होते हैं। तदनन्तर आचार्य हरिभद्र के मत का अनुकरण करते हुए यतिदिनचर्या में यह वर्णन अधिक स्पष्टता के साथ किया गया है।

## प्रभातकालीन प्रतिलेखना विधि

सामान्यतया जैन साधु-साध्वी प्रात: एवं सायं दो बार प्रतिलेखन क्रिया करते हैं। इस क्रिया का संक्षिप्त स्वरूप उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित है, किन्तु इसका परवर्ती विकसित स्वरूप यतिदिनचर्या, साधुविधिप्रकाश आदि ग्रन्थों में निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है–[63]

**सामान्य प्रतिलेखन–** सर्वप्रथम गुरु या गुर्वाज्ञा से एक शिष्य स्थापनाचार्य

को खुल्ला करके चौकी आदि पर उनकी स्थापना करें। फिर एक खमासमण देकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर एक खमासमण देकर–**'इच्छा. संदि. भगवन्! पडिलेहणं संदिसावेमि?' इच्छं,** कह, पुनः दूसरा खमासमण देकर **'पडिलेहणं करेमि?' इच्छं,** कहकर मुखवस्त्रिका एवं शरीर की 25-25 बोलपूर्वक प्रतिलेखना करें। उसके पश्चात रजोहरण, डंडी, ओघारिया एवं रजोहरण डोरी की भी 25 बोलपूर्वक प्रतिलेखना करें।

**अंग प्रतिलेखन–**तदनन्तर दो खमासमणपूर्वक **'अंग पडिलेहणं संदिसावेमि?' इच्छं, 'अंगपडिलेहणं करेमि?' इच्छं** कहकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें।

यहाँ 'अंग' शब्द से शरीरस्थित चोलपट्ट आदि जानना चाहिए, ऐसा गीतार्थ मुनिजन कहते हैं। इस अर्थ के अनुसार साधु कंदोरा एवं चोलपट्ट की प्रतिलेखना करें और साध्वी कंदोरा, कंचुकी, साडा एवं चद्दर की प्रतिलेखना करें।

**स्थापनाचार्य प्रतिलेखन–** उसके बाद एक खमासमण देकर **'इच्छकारी भगवन्! पसाउ करी (प्रसन्न होकर) पडिलेहणा** (स्थापनाचार्य एवं गुरु आदि के उपकरण) **पडिलेहावोजी'** (प्रतिलेखन की अनुमति दीजिये) ऐसा बोलकर स्थापनाचार्य की तेरह बोल से प्रतिलेखना करें।

**उपधि प्रतिलेखन–** तत्पश्चात सभी साधु एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! ओहि मुहपत्ती पडिलेहुं?'** गुरु – **'पडिलेहेह'।** शिष्यगण– **इच्छं** कह मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें। फिर शिष्य एक खमासमण देकर कहें–**'इच्छा. संदि. भगवन्! ओहीपडिलेहणं संदिसावेमि'** गुरु– **'संदिसावेह'।** शिष्य– **इच्छं** कहें। पुनः दूसरा खमासमण देकर बोलें–**'इच्छा. संदि. भगवन्! ओही पडिलेहणं करेमि'** गुरु–**करेह**, शिष्य-**इच्छं** कहकर उकडु आसन में कंबली, वस्त्रद्वय, उत्तरपट्ट एवं संस्तारक की प्रतिलेखना करें। कुछ परम्पराओं में पहले संस्तारक, फिर उत्तरपट्ट इस क्रम से प्रतिलेखना करते हैं। फिर भूमि का प्रमार्जन करते हुए डंडे के स्थान पर जाकर उसकी प्रतिलेखना करें। वर्षाऋतु हो तो पट्टादि-काष्ठासन की भी प्रतिलेखना करें।

**वसति प्रमार्जन**– दण्डासन की प्रतिलेखना के पश्चात वसति (उपाश्रय) की प्रमार्जना करें। फिर उकडु आसन में बैठकर एकत्रित कचरे को सम्यक प्रकार

से देखें। यदि उसमें जूं आदि सूक्ष्म जीव-जन्तु हों तो उन्हें स्वयं के वस्त्रांचल में रखें और 'वोसिरामि' शब्द बोलते हुए उपाश्रय से सौ हाथ दूर प्रतिलेखित भूमि पर यतनापूर्वक परठें। फिर स्थापनाचार्य के सम्मुख उपस्थित होकर साधु मण्डली के साथ एक खमासमणपूर्वक ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें।

**वसति प्रवेदन–** तत्पश्चात वसति प्रमार्जन करने वाला साधु एक खमासमण देकर बोलें– '**इच्छा. संदि. भगवन्! वसति पवेउं**' गुरु–'**पवेयह**', शिष्य-**इच्छं** कहें। पुनः एक खमासमणपूर्वक वन्दन कर बोलें–'**इच्छा. संदि. भगवन्! सुद्धावसही**' गुरु–'**तहत्ति**' कहें। उसके बाद शिष्य बोलें– स्वामिन्! अविधि-आशातना, दृष्टि-भ्रान्ति हुई हो उसके लिए मिच्छामि दुक्कडं।

यहाँ प्रतिलेखना विधि में इतना विशेष है कि उपधि की प्रतिलेखना करते समय क्रमशः गुरु, रत्नाधिक, लघु शिष्य और अन्त में स्वयं के उपधि की प्रतिलेखना करें।

**सूत्र पौरुषी (स्वाध्याय) विधि–** मुनि चर्या के नियमानुसार प्रातःकालीन प्रतिलेखना करने के अनन्तर सूत्रपौरुषी एवं उपयोग विधि की जाती है। सूत्रपौरुषी को सज्झाय विधि भी कहते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि के मत से उपयोग विधि भिक्षागमन के लिए जाने से पूर्व की जानी चाहिए, क्योंकि यह क्रिया आहार-पानी में विवेक रखने से सम्बन्धित है। वर्तमान में सज्झाय विधि के साथ ही यह विधि सम्पन्न कर ली जाती है। जो मुनि नवकारसी हेतु भिक्षाटन करते हैं उनके लिए सज्झाय एवं उपयोग दोनों क्रियाएँ युगपद् करना उचित भी है, किन्तु जो श्रमण मध्याह्न काल में आहारार्थ जाते हैं उन्हें उस समय उपयोग विधि करनी चाहिए।

सज्झाय विधि दिन के प्रथम प्रहर में सूत्रपौरूषी का आचार स्थापित करने के उद्देश्य से की जाती है। वर्तमान सामाचारी के अनुसार प्रतिलेखना विधि एवं सज्झाय विधि करने से पूर्व दैहिक मलादि का उत्सर्ग, स्वाध्याय, प्रभु दर्शन, उपदेश, भिक्षाटन आदि कुछ भी क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए, वरना प्रायश्चित्त आता है।

प्रचलित परम्परानुसार सज्झाय की विधि निम्न है–

यदि आचार्य-उपाध्याय-वाचनाचार्य हो तो पांगरणी (ऊर्ध्वभागीय वस्त्र) ओढ़े हुए और शेष साधु हों तो मात्र चोलपट्ट पहने हुए गुरु के सम्मुख उपस्थित

हों। फिर एक खमासमण देकर कहें-'**इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय संदिसावेमि**' गुरु-**संदिसावेह**, शिष्य-**इच्छं** कहें। फिर एक खमासमण देकर बोलें-'**इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय करेमि**' गुरु-**करेह**, शिष्य-**इच्छं** कहें।

उसके बाद सभी साधु दोनों घुटनों के बल बैठकर, दोनों हाथों से बनी हुई कोशाकार मुद्रा में मुखवस्त्रिका को धारण कर तथा उसे मुख के आगे स्थित करते हुए रजोहरण को घुटनों के ऊपर रखें एवं वैराग्य रंग से रंगित होकर गुरु वचन को सुनें। उस समय गुरु मन्द-मृदु स्वर से एक नमस्कार मन्त्र पढ़कर दशवैकालिकसूत्र का प्रथम अध्ययन 'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं' की पाँच गाथा बोलें और पुन: एक नमस्कार मन्त्र बोलें।

**उपयोग विधि-** यह विधि भिक्षागमन से पूर्व आहार-पानी आदि को विवेकपूर्वक एवं गुर्वानुमति पूर्वक ग्रहण करने के उद्देश्य से की जाती है। प्रचलित परम्परानुसार उपयोग विधि इस प्रकार है-[64]

सर्वप्रथम सभी साधु गुरु के समक्ष उपस्थित हों। फिर गुरु खमासमण देकर बोलें-'**इच्छा. संदि. भगवन्! उवओगं संदिसावेमि' इच्छं।** फिर दूसरा खमासमण देकर कहें-'**इच्छा. संदि. भगवन्! उवओगं करेमि' इच्छं**। फिर 'उवओगकरण निमित्तं करेमि काउस्सग्गं' इतना कह अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। फिर कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में एक नमस्कार मन्त्र बोलें। तदनन्तर अन्य साधुगण भी इसी तरह का आदेश मांगें और गुरु 'संदिसावेह' 'करेह' शब्द कहकर अनुमति प्रदान करें।

तत्पश्चात एक ज्येष्ठ साधु अर्धावनत होकर बोलें-'**इच्छाकारेण संदिसह'**-हे भगवन्! मुझे इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिये (मैं उपयोग के सम्बन्ध में क्या करूँ?) तब गुरु उपयोग निमित्त **'लाभ'** शब्द कहें। यहाँ 'लाभ' शब्द का प्रयोग करते हुए गुरु यह कहना चाहते हैं कि हे शिष्य! भिक्षाटन के लिए यह समय उचित, अनुकूल एवं उपद्रव रहित होने से तुम्हें आहारादि की प्राप्ति हो।

तदनन्तर पुन: अर्धावनत मुद्रा में ज्येष्ठ साधु कहें-**'कह लेसहं'** - आहारादि को किस प्रकार लेना चाहिए। तब गुरु कहें-**'जह गहियं पुव्वसाहुहिं'** - पूर्व गीतार्थ साधुओं के द्वारा जैसा आहारादि ग्रहण किया गया है तुम्हें वैसा ही निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद शिष्य कहें-**'इच्छं आवस्सियाए जस्स य जोगो त्ति'** - आपकी अनुमति से आवश्यक कार्य

(आहार-पानी-वस्त्र-पात्रादि की प्राप्ति) के लिए जा रहे हैं। जो भी वस्तु निर्दोष रूप से प्राप्त होगी, ग्रहण करेंगे। उसके बाद पुन: शिष्य कहें–'आज अमुक घर शय्यातर है।' ऐसा कहने के बाद गुरु को वन्दन करें। फिर चारित्र पर्याय के क्रम से सभी साधुओं को वन्दन करें। उसके पश्चात भिक्षाटन का समय न हुआ हो तो स्वाध्याय करें। फिर विधिपूर्वक आहार के लिए जायें।

## तुलना

उपयोग विधि का यह स्वरूप पंचवस्तुक, विधिमार्गप्रपा, साधुविधिप्रकाश आदि ग्रन्थों में मिलता है। उनमें कुछ असमानताएँ इस प्रकार हैं– साधुविधिप्रकाश के मत से उपयोग निमित्त कायोत्सर्ग में एक नमस्कार मन्त्र का चिन्तन करना चाहिए।[65] विधिमार्गप्रपा में भी नमस्कार मन्त्र के स्मरण का ही निर्देश है।[66] किन्तु पञ्चवस्तुक के कर्त्ता ने इस संदर्भ में दो मत प्रस्तुत किये हैं। एक मत के अनुसार नमस्कार मन्त्र का चिन्तन कर जिस मुनि को जैसा आहार ग्रहण करना हो, उसे उस तरह के आहार का चिन्तन करना चाहिए। दूसरे मत के अनुसार 'मैं केवल अपने लिये ही नहीं अपितु गुरु, वृद्ध, बाल एवं नवदीक्षित साधु आदि के लिए भी आहार ग्रहण के लिए जाता हूँ' ऐसा चिन्तन करना चाहिए।[67]

साधुविधिप्रकाश एवं प्रचलित परम्परा में उपयोग निमित्त कायोत्सर्ग करने के पश्चात नमस्कार मन्त्र बोलकर आहारादि ग्रहण की अनुमति के आदेश माँगने का उल्लेख है, जबकि विधिमार्गप्रपा में कायोत्सर्ग के पश्चात गुरु द्वारा **'ओं नमो भगवती कामेश्वरी अन्नं पूर्णं भवतु स्वाहा'** यह मन्त्र बोलने का भी निर्देश है। यह आचार्य जिनप्रभसूरि की गुरु परम्परागत सामाचारी ज्ञात होती है।[68]

उपयोग विधि में कायोत्सर्ग तक की विधि पहले गुरु द्वारा की जाये, फिर शिष्यवर्ग द्वारा सम्पन्न की जानी चाहिए, ऐसा साधुविधिप्रकाश में उल्लेख है जो गुरु की श्रेष्ठता दर्शाता है। किन्तु वर्तमान में लगभग यह विधि गुरु एवं शिष्य एक साथ करते हैं।

# सायंकालीन प्रतिलेखना विधि

जैन साधुओं के लिए मुख्य रूप से दिन में तीन बार प्रतिलेखना करने का विधान है। उसमें प्रात: एवं सायं दोनों समय विशेष क्रिया विधि होती है।

यह विधि दिन के चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भ में की जाती है। इस विधि के

माध्यम से गुर्वाज्ञापूर्वक अंग-उपधि-वसति-पात्र आदि की प्रतिलेखना करते हैं। इसके साथ ही सूत्रपौरुषी की आचरणा रूप दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की पाँच गाथा का स्वाध्याय किया जाता है। आगम विधि के अनुसार इस समय औघिक और औपग्रहिक समस्त प्रकार की उपधि प्रतिलेखना की जानी चाहिए। प्रात:काल दस उपकरण, प्रथम पौरुषी के अन्त में सात उपकरण एवं सायंकाल चौदह उपकरण प्रतिलेखित करने का विधान है।

यतिदिनचर्या एवं साधुविधिप्रकाश में उल्लेखित सायंकालीन प्रतिलेखना विधि यह है–[69]

**सामान्य प्रतिलेखना**–सर्वप्रथम एक ज्येष्ठ साधु खमासमण देकर उस समय का निवेदन करने हेतु गुरु से कहें–**'इच्छा. संदि.भगवन्! बहुपडिपुन्ना पोरिसी'**–दिन के तीन प्रहर पूर्ण हो चुके हैं। गुरु–**'तहत्ति'** कहें। यह सुनकर सभी साधु गुरु के समक्ष एकत्रित होकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें।

फिर एक खमासमण देकर कहें–**'इच्छा.संदि.भगवन्! पडिलेहन करूँ'**–हे भगवन्! आपकी इच्छापूर्वक अनुमति से प्रतिलेखन करता हूँ। पुन: एक खमासमण देकर कहें–**'इच्छा. संदि. भगवन्! वसति प्रर्माजूँ'**–हे भगवन्! आपकी इच्छानुसार अनुमति प्राप्त कर वसति का प्रमार्जन करते हैं। उसके बाद उकडु आसन में बैठकर पच्चीस बोलपूर्वक मुखवस्त्रिका और पच्चीस बोलपूर्वक शरीर की प्रतिलेखना करें।

**अंग प्रतिलेखन**–तदनन्तर एक खमासमण देकर बोलें–**'इच्छा. संदि. भगवन्! अंगपडिलेहणं संदिसावेमि'**। पुन: दूसरा खमासमण देकर बोलें–**'इच्छा. संदि. भगवन्! अंगपडिलेहणं करेमि'**। इतना कहने के बाद पच्चीस बोलपूर्वक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें। फिर क्रमश: अंगस्थ कंदोरा एवं चोलपट्ट की पूर्ववत प्रतिलेखना करें।

यहाँ ऐसा भी निर्देश है कि उपवासी साधु सभी उपधियों की प्रतिलेखना करने के बाद चोलपट्ट की प्रतिलेखना करें और भक्तार्थी साधु पहले मुखवस्त्रिका, फिर चोलपट्ट और अन्त में रजोहरण प्रतिलेखित करें। इसमें उपधि प्रतिलेखन का भी एक क्रम निर्दिष्ट है जिसे प्रभातकालीन प्रतिलेखना विधि में बताया जा चुका है।

**वसति प्रमार्जन**–फिर पूर्ववत दण्डासन की प्रतिलेखना कर वसति का

प्रमार्जन करें। काजा विधिपूर्वक परिष्ठापित करें। मृत कलेवर आदि हों तो उनका यतनापूर्वक परिष्ठापन करें। फिर उपाश्रय में आकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करके वसति प्रवेदन करें।

**स्थापनाचार्य प्रतिलेखन**–तत्पश्चात एक खमासमण देकर **'इच्छकार भगवन्! पसाय करी पडिलेहणा पडिलेहावोजी'** इतना कहकर पूर्वोक्त विधि पूर्वक स्थापनाचार्य की प्रतिलेखना कर, उन्हें उच्च आसन पर स्थापित करें।

**सज्झाय**–तदनन्तर एक खमासमण देकर–**'इच्छा.संदि.भगवन्! सज्झाय संदिसावेमि'** कहें। पुनः एक खमासमण देकर–**'इच्छा.संदि.भगवन्! सज्झाय करेमि'** इतना कहकर पूर्ववत 'धम्मो मंगल' पाठ की पाँच गाथाएँ बोलें।

**प्रत्याख्यान**–उसके बाद दिवसचरिम चौविहार-पाणहार आदि का प्रत्याख्यान ग्रहण करना हो तो गुरु को द्वादशावर्त्तवन्दन करें। फिर उसी समय भक्त-पानी का संवर करना हो तो **'इच्छकार भगवन्! पसाय करी पच्चक्खाण करावो'** इतना निवेदन कर गुरु मुख से प्रत्याख्यान करें। यदि जल आदि ग्रहण की इच्छा हो तो चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान बाद में करें। उस समय 'मुट्ठिसहियं' का प्रत्याख्यान करें–ऐसी परवर्ती परम्परा है। मुट्ठिसहियं का प्रत्याख्यान किया हो तो जल लेने से पूर्व नमस्कार मन्त्र अवश्य गिनें।

**उपधि प्रतिलेखन**–तत्पश्चात एक खमासमण पूर्वक वन्दन करके कहें–**'इच्छा. संदि.भगवन्! ओही पडिलेहणं संदिसावेमि'**। पुनः दूसरा खमासमण देकर बोलें–**'इच्छा.संदि.भगवन्! ओही पडिलेहणं करेमि'** इस तरह उपधि प्रतिलेखना के लिए दो आदेश ग्रहण करें। फिर साधुविधिप्रकाश के अनुसार वस्त्र-कंबल आदि उपकरणों की पूर्वोक्त क्रम से प्रतिलेखना करें। उसके बाद रजोहरण की प्रतिलेखना-डोरा, ऊनी ओघारिया, सूती ओघारिया, रजोहरण दसियां और दंडी इस क्रम से करें। फिर आसन पर स्थिर होकर रजोहरण बाँधें। यदि उपवास हो तो उस दिन द्वादशावर्त्तवन्दन न करें तथा रजोहरण की प्रतिलेखना के बाद कंदोरा-चोलपट्ट की प्रतिलेखना करें।

उसके पश्चात दंडा स्थान की प्रतिलेखना करके, दंडे की प्रमार्जना करें। तत्पश्चात पूर्वोक्त विधिसहित पात्रोपकरण की प्रतिलेखना करें। फिर वस्त्रादि प्रतिलेखना के द्वारा एकत्रित हुए कचरे को एकान्त भूमि में परिष्ठापित करें। कुछ जन वस्त्रादि प्रतिलेखना के पश्चात वसति की प्रमार्जना करते हैं पहले नहीं, जबकि

आचार्य हरिभद्रसूरि एवं पूर्व परम्परा के मतानुसार सायंकाल पहले वसति प्रमार्जना करनी चाहिए, फिर वस्त्र प्रतिलेखना करनी चाहिए। तदनन्तर यदि पूर्व में प्रत्याख्यान न किया हो तो जल पीकर चौविहार या पाणहार का प्रत्याख्यान करें।

**स्थंडिल प्रतिलेखना**–उसके बाद एक खमासमणपूर्वक वन्दन कर, **'इच्छा. संदि. भगवन्! थंडिला पडिलेहुं'** इतना कहकर स्थंडिल भूमि सम्बन्धी प्रतिलेखना करने की अनुमति प्राप्त करें। फिर उपाश्रय से सौ हाथ की भूमि तक निकट-मध्य-दूर ऐसे चौबीस स्थानों की प्रतिलेखना करें।

**गोचरचर्या प्रतिक्रमण**–तदनन्तर गुरु के समक्ष एक खमासमण देकर कहें–**'इच्छा. संदि. भगवन्! गोयरचरियं पडिक्कमेमो'** पुनः दूसरा खमासमण देकर **'गोयरचरिय पडिक्कमणत्थं काउस्सग्गं करेमो अन्नत्थूससिएणं'** बोलकर कायोत्सर्ग में एक नमस्कार मन्त्र का चिन्तन करें। फिर कायोत्सर्ग पूर्णकर नमस्कार मन्त्र को उच्चारणपूर्वक बोलें।

पंचवस्तुक के अनुसार गीतार्थ (सुयोग्य) गच्छ में निम्न गाथा की घोषणा की जाती है–

**कालो गोअरचरिया, थंडिला वत्थ पत्त पडिलेहा।**
**संभरउ सो साहू, जस्स वि जं किंचिऽणुवुत्तं।।**

**अर्थ–** कालग्रहण, गोचरचर्या, स्थंडिल, वस्त्र-पात्र प्रतिलेखना आदि आवश्यक क्रियाओं में अनुपयोग के कारण किसी भी साधु के लिए कुछ करना शेष रह गया हो, तो उस क्रिया को याद करें, क्योंकि दैनिक क्रियाओं को सम्पन्न करने का समय बीत रहा है अर्थात दिन का अन्तिम प्रहर पूर्ण हो रहा है।

यह सुनकर प्रत्येक साधु इस प्रकार का चिन्तन करने में प्रवृत्त हो जाये कि आज मेरे लिए कुछ करना शेष तो नहीं रह गया है? यदि चिन्तन करते हुए कुछ स्मृति में आ जाये तो उस शेष क्रिया को पूर्ण करे। वर्तमान में यह गाथा स्वाध्यायादि में एकाग्रचित्त बने हुए साधुओं को प्रतिक्रमण का समय ज्ञात करवाने के लिए एवं दैनिक आवश्यक क्रियाओं में कुछ करना शेष रह गया हो तो उसकी स्मृति करवाने के लिए जोर से बोलते हैं।[70]

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में आज भी यह गाथा बोली जाती है। वस्तुतः गोचरचर्या प्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण के पूर्व किया जाता है। इसलिए प्रतिलेखना विधि के साथ इसका वर्णन किया गया है, परन्तु यह प्रतिलेखना का अंग नहीं है।

## तुलना

सन्ध्याकालीन प्रतिलेखन विधि का सुव्यवस्थित स्वरूप यतिदिनचर्या एवं साधुविधिप्रकाश इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वर्तमान परम्परा में इसमें उल्लिखित विधि ही विशेष रूप से प्रचलित है, अत: यहाँ सायंकालीन प्रतिलेखन विधि की चर्चा इन ग्रन्थों के आधार पर की गई है।

विकास क्रम की दृष्टि से देखा जाए तो आगम साहित्य में उत्तराध्ययनसूत्र और टीका साहित्य में ओघनिर्युक्ति को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में यह स्वरूप नहीं मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इतना भर उल्लेख है कि चौथे प्रहर में पात्रों को प्रतिलेखनापूर्वक बाँधकर रख दें, फिर स्वाध्याय करें। यह प्रतिलेखना किस विधिपूर्वक की जाये, इस सम्बन्ध में किंचितमात्र भी नहीं कहा गया है।

ओघनिर्युक्ति में यह विधि कुछ स्पष्टता के साथ प्राप्त होती है, परन्तु परवर्ती एवं वर्तमान परम्परा से कुछ असमानता है। ओघनिर्युक्ति में उपवासी एवं भक्तार्थी दो प्रकार के साधुओं की पृथक-पृथक प्रतिलेखना विधि कही गई है। उपवासी और भक्तार्थी दोनों तरह के साधु उपधि एवं पात्रोपकरण की किस क्रम से प्रतिलेखना करें, इसकी चर्चा पूर्व में कर चुके हैं। इसी तरह का उल्लेख पंचवस्तुक में भी मिलता है।[71] किन्तु उसमें परवर्ती ग्रन्थों की भाँति प्रतिलेखना विधि का सुविकसित निरूपण नहीं है।

यतिदिनचर्या में पाक्षिकादि पर्व दिनों की अपेक्षा सायंकालीन उपधि प्रतिलेखन के सम्बन्ध में कुछ भिन्न कहा गया है, जो क्रम सामाचारी भेद के कारण वर्तमान में प्रवर्तित नहीं है। इसमें वर्णन है कि एक खमासमण देकर सामान्य वस्तुओं की प्रतिलेखना हेतु मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें, दूसरा खमासमण देकर उपधि के निमित्त पुन: मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें, तीसरा खमासमण देकर उपधि का प्रतिलेखन करें और उसके बाद गुच्छा, पूंजणी, झोली, पटल, रजस्त्राण आदि उपकरणों का प्रतिलेखन करें। फिर प्रतिलेखित पात्रों को एक ओर निरूपद्रव स्थान पर रखें। फिर क्रमश: ग्लान, नवदीक्षित और स्वयं के उपधि की प्रतिलेखना करें। उसके पश्चात पाट, पट्टे, मात्रादि की कुंडी इत्यादि शेष वस्तुओं की प्रतिलेखना करें। वर्तमान में प्रतिलेखन का यह क्रम अप्रचलित है।[72]

साधुविधिप्रकाश में सायंकालीन प्रतिलेखना विधि के अन्तर्गत एक खमासमण द्वारा **'सज्झाय मुहपत्ती पडिलेहुं'** इस वचन पूर्वक मुखवस्त्रिका प्रतिलेखित करने का निर्देश किया गया है। यह आदेश विधि वर्तमान परम्परा में प्रचलित नहीं है।[73]

इस प्रकार यह देखा जाता है कि सायंकालीन प्रतिलेखना शास्त्रानुमत एवं आचार शुद्धि का परम अंग है। इस विधि में परवर्ती काल में एक क्रमिक विकास देखा जाता है।

## प्रतिलेखना के आवश्यक नियम

प्रतिलेखना करते समय निम्नोक्त बिन्दु ध्यान देने योग्य हैं–

1. प्रतिलेखना प्रारम्भ करने से पूर्व सर्वप्रथम उस स्थान की प्रमार्जना करें, फिर आसन की प्रतिलेखना कर उसे लम्बा बिछायें। फिर प्रतिलेखित वस्त्रादि को उस आसन पर रखें।
2. उपधि की प्रतिलेखना के समय सभी उपधियों को एक साथ एकत्रित करके रखें, फिर एक-एक वस्त्र की प्रतिलेखना करें।
3. प्रतिलेखित वस्त्रादि को अप्रतिलेखित वस्त्रादि के साथ न रखें।
4. वस्त्र की प्रतिलेखना के समय यह विवेक रखें कि वस्त्र भूमि को स्पर्श न करे और स्वयं के शरीर से भी स्पर्श न करे। इस कारण उत्कटासन में (तलवे और एड़ियों के बल) बैठकर अधर में प्रतिलेखना करें।
5. प्रतिलेखना प्रारम्भ करने के पश्चात पूर्ण न हो तब तक कहीं भी इधर-उधर न जायें, यदि अपरिहार्य स्थिति में जाना पड़े तो स्थान, शरीर आदि के प्रमार्जन का पूरा ध्यान रखें।
6. प्रतिलेखना के बीच तीन कदम से अधिक कहीं जाने की स्थिति बने तो दंडासन द्वारा भूमि को प्रमार्जित करते हुए जायें।
7. प्रतिलेखन योग्य समस्त उपकरणों को उठाते हुए या रखते हुए दृष्टि प्रतिलेखन और रजोहरणादि द्वारा प्रमार्जन अवश्य करें।
8. प्रतिलेखन सम्बन्धी प्रत्येक आदेश 'इच्छाकरेण संदिसह भगवन्' इतना उच्चस्वर में बोलकर लें।
9. गुरु का आदेश प्राप्त होने पर 'इच्छं' शब्द कहें।

10. प्रतिलेखना करते समय इरियावहियं आदि सूत्र प्रकट स्वर से बोलें, मन में न बोलें।
11. प्रतिलेखन क्रिया समाप्त हो जाने के पश्चात जब तक काजा को परिष्ठापित कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण न कर लें तब तक आसन पर न बैठें, न वस्त्र ओढ़ें और न उस बीच किसी प्रकार का कार्य करें।
12. दो मुनि एक साथ काजा न लें।
13. काजा लेते समय दंडक-मात्रक-पट्टा-संस्तारक भूमि आदि की अवश्य प्रतिलेखना करें।
14. प्रत्येक उपकरण की प्रतिलेखना बोलपूर्वक करें।
15. प्रतिलेखना करते समय मन को एकाग्र रखें, वचन से मौन और काया से अचपल रहें।
16. प्रचलित परम्परा के अनुसार पात्र प्रतिलेखना के बाद क्रमशः तिरपनी, काछली (नारियल आदि की टोपसी), पात्र बाँधने का डोरा, पात्र पोंछने का वस्त्र खण्ड (लूणा) इन चार उपकरणों की प्रतिलेखना करें।
17. प्रतिलेखित पात्र, पात्रपोंछन, वस्त्रादि को अप्रतिलेखित आसन पर न रखें।
18. आहार करने के पश्चात पात्र को झोली में बाँधकर रखें।
19. प्रतिलेखना के अनन्तर दंडासन खड़ा करके नहीं रखें तथा एक साथ दो या दो से अधिक दंडासन भी मिलाकर नहीं टांगें।

## प्रतिलेखना सम्बन्धी विधि-विधानों के रहस्य

वस्त्रादि प्रतिलेखना से सम्बन्धित विधियों के रहस्य इस प्रकार हैं–

**शरीर प्रतिलेखन का मुख्य ध्येय?** इस प्रतिलेखना का मूल हार्द शरीर सम्बन्धी 25 बोलों के द्वारा सहजतया जाना जा सकता है। शरीर प्रतिलेखना करते समय शरीर के जिन स्थानों का स्पर्श करते हुए जो बोल कहे जाते हैं, उन बोलों का शरीर के उन अवयवों से सम्बन्ध होता है।

इस प्रतिलेखना के माध्यम से शरीर के विशिष्ट अंग सम्बन्धी विकारों को दूर करने का प्रयास किया जाता है। जैसे शरीर के हृदय भाग की प्रतिलेखना करते हुए **'ऋद्धि गारव, रस गारव, साता गारव मुखे परिहरूं'** अर्थात मैं ऋद्धि के गर्व, रस के गर्व, सुख के गर्व का मुख स्थान से त्याग करता हूँ, ऐसा बोला जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि गर्व या अहंकार का सम्बन्ध मुख से

है। अपनी ऋद्धि-समृद्धि के बारे में कुछ भी कहना हो तो मुख का उपयोग किया जाता है, अत: इन बोलों के साथ चिन्तन पूर्वक उस स्थान का स्पर्श करते हुए, उन अशुभ प्रवृत्तियों के त्याग करने का विचार किया जाता है।

जैसे दोनों स्कन्ध भाग की प्रतिलेखना करते हुए **'क्रोध-मान दायें कंधे परिहरूं', 'माया-लोभ बायें कंधे परिहरूँ'** अर्थात मैं दाहिने कंधे से क्रोध-मान का और बायें कंधे से माया-लोभ का परित्याग करता हूँ, ऐसा बोला जाता है। इसका अर्थ है कि क्रोधादि चार कषायों की अभिव्यक्ति कंधे से होती है। हम प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि जब व्यक्ति क्रोधावस्था में होता है तब सबसे पहले कंधे उठते हैं, अहंकार पैदा होता है तब भी कंधे स्फुरित होने लगते हैं। इसलिए उक्त बोलों के द्वारा उस अंग का स्पर्श करते हुए कषाय भाव को दूर करने का विचार किया जाता है।

इसी तरह ललाट का स्पर्श करते हुए कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या को दूर करने का चिन्तन किया जाता है। इन तीनों लेश्याओं में अशुभ अध्यवसायों की प्रधानता है और उनका फल आध्यात्मिक पतन है।

हृदय का स्पर्श करते हुए माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यात्व शल्य को दूर करने का विचार किया जाता है।

दोनों पाँवों के स्पर्श से पृथ्वीकायादि षड्जीवनिकाय की रक्षा करने का भाव पैदा किया जाता है। इसी तरह **'हास्य रति अरति परिहरूं' 'शोक भय दुगुंछा परिहरूं'** बोलते हुए उस अंग विषयक अशुभ पुद्गलों को दूर करने का भाव किया जाता है। शरीर प्रतिलेखना के समय जिन-जिन बोलों का उच्चारण करते हैं, हाथ की मुद्रा भी उसी तरह की बनायी जाती है। इस तरह शरीर प्रतिलेखना के द्वारा तद्विषयक अंगों से उत्पन्न होने वाले विषय विकारों से निवृत्त रहने का प्रयत्न किया जाता है।

**मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन का विधान क्यों?** जैन अवधारणा में चारित्र प्रधान क्रियाओं की शुरुआत करने के लिए मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन किया जाता है। जैन धर्म की आराधना अहिंसा, संयम और तप से युक्त है। मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन में तीनों ही तत्त्व समाहित हैं, अत: मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन से अहिंसादि तीनों तत्त्वों की सुरक्षा होती है। वस्त्र प्रतिलेखन का भी मूल प्रयोजन यही है। इसी के साथ साध्य के प्रति सावधानी, लक्ष्य के प्रति

उत्साह, उत्तम मार्ग का अनुसरण और विवेक पूर्वक चारित्र का अभ्यास करना वस्त्र प्रतिलेखन के अन्य प्रयोजन हैं।[74]

मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन करते समय साधक को इस प्रकार का विचार करना चाहिए कि निर्वाण प्राप्ति का मुख्य साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय है, जिसकी आराधना साधु जीवन में सरलता पूर्वक होती है। मुखवस्त्रिका मुनि जीवन का एक प्रतीक है। इस प्रकार का विचार करते हुए साध्य के प्रति सावधानी प्रकट होती है।

तदनन्तर यह विचार करते हुए कि इन उपकरणों को रखने का मुख्य उद्देश्य क्रिया दशा में अप्रमत्त रहना और अहिंसा धर्म का पालन करना है। इस तरह के मनन से लक्ष्य के प्रति उत्साह बढ़ता है।

तत्पश्चात यह विचार करना चाहिए कि इस मुखवस्त्रिका को धारण करने वाले उत्तम मार्ग में अनुसरण करते हैं, मेरे द्वारा भी यह मुखवस्त्रिका धारण की गई है, अत: मैं भी उत्तम आर्य मार्ग का अनुसरण करूं। इस प्रकार के विचार से उत्तम मार्ग का अनुसरण होता है। इसके पश्चात यह विचार करना चाहिए कि जो भी क्रियानुष्ठान हैं, उन्हें विधिपूर्वक सम्पन्न करने से ही उत्तम फल प्राप्त होते हैं। एतदर्थ मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना विधिपूर्वक करने योग्य है, इस तरह का विचार करने से चारित्र का सम्यक अभ्यास होता है और संयम भावों की वृद्धि होती है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में 25 बोल के साथ मुखवस्त्रिका आदि वस्त्रोपकरण की प्रतिलेखना की जाती है। इन बोलों का अर्थ अनुस्मरणीय है। इन बोलों के द्वारा उपादेय और हेय वस्तु का विवेक अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि पूर्वक इस तरह किया जाता है जैसे कि पहला बोल **'सूत्र अर्थ सांचो सद्दहूं'** बोलते हुए यह प्रवचन तीर्थ रूप है, उसके अंग रूप सूत्र और अर्थ की समझ के साथ श्रद्धा करनी चाहिए।

तत्पश्चात उस श्रद्धा में अंतराय रूप **'सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय परिहरूं'** इन तीन बोलों के द्वारा मोहनीय कर्म का परिहार करने की भावना की जाती है। उसके बाद मोहनीय कर्म में भी राग विशेष रूप से त्याज्य है, उसमें भी पहले कामराग, फिर स्नेहराग और फिर दृष्टिराग छोड़ने जैसा है। इस तरह तीन बोल पूर्वक राग त्याग का चिन्तन किया जाता है।

तदनन्तर जब राग भाव का परिहार हो तब ही सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की स्थापना कर सकते हैं। अत: तीन बोल पूर्वक सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की महत्ता का विचार करते हुए उन्हें आदरपूर्वक स्वीकार करने की भावना की जाती है तथा कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के प्रति रहे ममत्व भाव को दूर करने का दृढ़ संकल्प किया जाता है। जब साधक इतनी भूमिका तक पहुँच जाये, तब ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना यथार्थ हो सकती है, अत: इस तरह की आराधना करने के लिए **'ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरूं'**, **'ज्ञान विराधना, दर्शन विराधना, चारित्र विराधना परिहरूं'** ये छह बोल कहे जाते हैं। इसी तरह **'मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति आदरूं'** ये तीन बोल कहते हुए इन तीन गुप्तियों को स्वीकार किया जाता है और **'मनोदंड, वचनदंड, कायदंड परिहरूं'** इन तीन बोलों का चिन्तन करते हुए इनका परिहार किया जाता है। इस प्रकार मुखवस्त्रिका प्रतिलेखित करते हुए बोलों के चिन्तन पूर्वक उपादेय और हेय तत्त्व का विचार किया जाता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि मुखवस्त्रिका आदि सभी प्रकार के वस्त्रों की प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को स्वयं की ओर लाते हुए नौ बार ग्रहण करने की क्रिया की जाती है तथा वस्त्र को कोहनी से नीचे की ओर ले जाते हुए नौ बार खंखेरने की क्रिया की जाती है और एक बार दृष्टि द्वारा सम्पूर्ण वस्त्र का प्रतिलेखन किया जाता है। यहाँ शास्त्रीय भाषा में ग्रहण करने की क्रिया को आस्फोटन (अक्खोडा) और खंखेरने की क्रिया को प्रस्फोटन (पक्खोडा) कहा गया है। वस्त्र प्रतिलेखन की मूल विधि आस्फोटन और प्रस्फोटन के द्वारा ही सम्पन्न होती है। इस प्रक्रिया के पीछे गंभीर आशय हैं।

उदाहरणार्थ जो तत्त्व साधना मार्ग में आगे बढ़ने के लिए अनुकरणीय एवं आचरणीय हैं, उन्हें उपादेय बुद्धि से स्वीकार करने हेतु नौ बार ग्रहण करने की क्रिया की जाती है। वस्त्र प्रतिलेखना के 25 बोलों में 1. सुदेव 2. सुगुरु 3. सुधर्म 4. ज्ञान 5. दर्शन 6. चारित्र 7. मनोगुप्ति 8. वचनगुप्ति 9. कायगुप्ति आदि हैं। ये नौ तत्त्व मुख्य रूप से आचरणीय हैं। इसलिए इन नौ बोलों का चिन्तन करते हुए नौ बार ग्रहण करने की विधि की जाती है तथा जो तत्त्व साधना मार्ग को विखण्डित करने वाले हैं, उनका हेय बुद्धि से परिहार करने हेतु नौ बार खंखेरने-झाड़ने की क्रिया की जाती है। उनमें– 1. कुदेव 2. कुगुरु

3. कुधर्म 4. ज्ञान विराधना 5. दर्शन विराधना 6. चारित्र विराधना 7. मनोदंड 8. वचनदंड 9. कायदण्ड, ये नौ तत्त्व मुख्य रूप से अनाचरणीय हैं। इसलिए इन नौ बोलों का स्मरण करते हुए नौ बार खंखेरने की विधि की जाती है।

यहाँ इस प्रश्न का समाधान भी निर्विवादत: हो जाता है कि जिस प्रकार शरीर के अमुक-अमुक अंगों का स्पर्श करने पर तत्सम्बन्धी कामवासना, हर्ष, शोक, रोष, अभिमान आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मुखवस्त्रिका द्वारा उन अंगों का स्पर्श करने पर वे दोष शान्त हो जाते हैं। ज्ञातव्य है कि वस्त्र द्वारा शरीर स्पर्श की क्रिया प्रस्फोटन (खंखेरने) के समय ही की जाती है, आस्फोटन के समय वस्त्र को शरीर से ऊपर रखा जाता है। इसलिए दोष परिहार की बात कही गई है। यह तथ्य सम्मोहन (Hypnotis) आदि पद्धतियों से भी सिद्ध होता है।

इतर परम्परा में भी धार्मिक अनुष्ठानों में शरीर स्पर्शादि की विधि की जाती है, जैसे हिन्दू परम्परा में गायत्री मन्त्र बोलते समय दर्भ नामक घास द्वारा अथवा श्रुति (आगम) से अंग का स्पर्श करते हैं। मुसलमान नमाज पढ़ते समय उन-उन अंगों का भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पर्श करते हैं।

जैन परम्परा में वज्रपंजर, जिनपंजर, नवग्रह आदि कुछ स्तोत्रों का स्मरण करते समय अंगस्पर्शन के साथ भिन्न-भिन्न तरह की मुद्राएँ की जाती हैं और उनके सुपरिणाम भी देखे जाते हैं।

**वस्त्र प्रतिलेखना क्यों की जाए?** कंबली, सूती चद्दर, संस्तारक, उत्तरपट्ट, पात्रस्थापन आदि वस्त्रों की प्रतिलेखना के प्रयोजन मुखवस्त्रिका के समान जानने चाहिए, क्योंकि सभी की प्रतिलेखना 25-25 बोलपूर्वक मुखवस्त्रिका की तरह की जाती है। विशेष इतना है कि प्रतिलेखना के समय मन एकाग्र होने से वस्त्र की क्षणिकता एवं अस्थिरता को देखकर अनित्य भावना का चिन्तन किया जा सकता है।

**रजोहरण आदि प्रतिलेखना के आवश्यक कारण क्यों?** रजोहरण की प्रतिलेखना हिंसा जनित संस्कारों को शमित करने एवं 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को विकसित करने के उद्देश्य से की जाती है। वस्त्र एवं पात्र द्विविध उपकरणों की प्रतिलेखना अहिंसा व्रत के परिपोषण हेतु करते हैं। वसति (उपाश्रय) की प्रतिलेखना और प्रमार्जना सूक्ष्म जीवों के रक्षण, चारित्र धर्म के

पालन एवं स्वाध्यायादि सर्व क्रियाओं को पवित्रता के साथ सम्पन्न करने के उद्देश्य से की जाती है।

**स्थापनाचार्य प्रतिलेखना के विविध दृष्टिकोण?** श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में स्थापनाचार्य एक मुख्य उपकरण है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रतिभासित होता है, यह आलंबन रूप से स्थापित आचार्य (गुरु) है, जिससे साक्षात आचार्य आदि के अभाव में या उनके दूरस्थ होने पर भी स्थापना निक्षेप के रूप में उनका एक प्रत्यक्ष स्वरूप सामने रखा जाता है। प्रतिलेखना जैन मुनि का आवश्यक आचार है, अत: स्थापनाचार्य पास में होने से उसकी प्रतिलेखना भी आवश्यक हो जाती है। इसके द्वारा तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन, आचार्यों के उपकार एवं उनके महिमा की स्मृति बनी रहती है। यदि गुरु का सान्निध्य न हो तो शिष्य किसी भी कार्य के लिए आज्ञा आदि किससे प्राप्त करेगा और इस स्थिति में स्वच्छंद वृत्ति एवं उच्छृंखलता आदि की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। इस प्रकार स्थापनाचार्य साक्षी रूप होने से मुनिगण आचार पालन में चुस्त रहते हैं।

इसकी मूल्यवत्ता के सम्बन्ध में कई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। जैसे एकलव्य ने गुरु द्रोणाचार्य की मूर्ति स्थापित करके धनुर्विद्या का शिक्षण प्राप्त किया था और उस विद्या में अर्जुन से भी अधिक योग्यता प्राप्त की थी। इसलिए स्थापनाचार्य का महत्त्व स्पष्ट है। समभाव की साधना करने वाला साधक गुरु (आचार्य) की स्थापना करके साधना में लीन बने तो अवश्य सफलता मिलती है।

स्थापना दो प्रकार की होती है 1. इत्वरिक और 2. यावत्कथिक। चन्दन, शंख या सीप आदि में पंच परमेष्ठी या पंचाचार के प्रतीक रूप में चिह्न अंकित करना यावत्कथिक स्थापना है। खरतरगच्छ में चन्दन के स्थापनाचार्य रखते हैं। तपागच्छ आदि परम्पराओं में प्राय: स्थापना के रूप में पाँच शंख रखे जाते हैं। पाँच शंख रखने का एक प्रयोजन यह सुना जाता है कि परमात्मा महावीर की पट्ट परम्परा में पहला नाम सुधर्मास्वामी का आता है। अभी सुधर्मास्वामी की परम्परा चली आ रही हैं। सुधर्मास्वामी भगवान महावीर के पाँचवें गणधर थे और उनके चरणों पर शंख का चिह्न था, इसलिए शंख की स्थापना करते हैं।

पुस्तक, माला आदि की स्थापना करना इत्वरिक स्थापना है। अधिकांश गृहस्थवर्ग पुस्तकादि की स्थापना करते हैं। यदि गुरु भगवन्त विराज रहे हों और

उनके समक्ष सामायिक लेने का प्रसंग बने तो यावत्कथिक स्थापना होती है। जैन मुनि की समग्र क्रियाएँ स्थापनाचार्य के समक्ष ही होती हैं।

**मुखवस्त्रिका एवं अन्य वस्त्रों की भाँति पात्र सम्बन्धी वस्त्रों की प्रतिलेखना उत्कटासन में क्यों नहीं?–** प्राचीन साधु सामाचारी के अनुसार मुखवस्त्रिका आदि अंगीय वस्त्रों की प्रतिलेखना उकडु आसन में बैठकर करनी चाहिए और पात्र सम्बन्धी-झोली, गोच्छग, पडला आदि वस्त्रों की प्रतिलेखना सुखासन (पालथी लगाना) में बैठकर करने का निर्देश है। यहाँ प्रश्न होता है कि वस्त्रों की प्रतिलेखना में इस प्रकार का भेद क्यों? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि पहले साधु आसन पर बैठें, फिर पात्र सम्बन्धी वस्त्रों की प्रतिलेखना के लिए उत्कटासन में बैठें, पुन: पात्र प्रतिलेखना के लिए आसन पर बैठें, क्योंकि पात्र हाथ से छूटने एवं टूटने का भय सदैव बना रहता है इसलिए उसकी प्रतिलेखना आसन पर बैठकर करने का विधान है। तात्पर्य यह है कि पात्र प्रतिलेखना के लिए आसन पर बैठना, पात्र सम्बन्धी वस्त्रों की प्रतिलेखना के लिए उकडु बैठना–इस तरह का क्रम बार-बार करने से विलम्ब होता है। इससे सूत्र–अर्थ रूप स्वाध्याय में विघ्न आता है। अतएव पात्र के साथ पात्र सम्बन्धी वस्त्रों की प्रतिलेखना भी आसन पर बैठकर करने के लिए कहा गया है।

**पात्र के बाहर के तलिये का प्रमार्जन क्यों?** ओघनिर्युक्ति एवं पंचवस्तुक आदि में पात्र के अधोभाग की प्रतिलेखना के निम्न कारण बतलाये गये हैं–

जिस गाँव में साधु रहता हो और वह गाँव यदि नया बसा हो तो कदाचित पात्र के समीप में, जमीन की गहराई में से चूहा बिल खोद सकता है, इससे उसकी धूल पात्र को लग सकती है। जहाँ पात्र रखे हों वहाँ नीचे की जमीन भीगी हो तो पानी की बूंद जमीन से निकलकर बाहर भी आ सकती हैं और नमी के अंश के कारण पात्र स्थापन के नीचे वाले गुच्छे को भेदकर पात्र को भी लग सकती हैं, क्योंकि हरितकाय के जल बिन्दु ऊर्ध्वगामी होते हैं। वहाँ भंवरी (कोत्थल कारिका नामक जन्तु) पात्र के नीचे मिट्टी का घर भी बना सकती है, अत: सचित्त जल आदि से बचने एवं जीवों की जयणा हेतु तलिये का भी प्रतिलेखन और प्रमार्जन किया जाना चाहिए।

धर्मसंग्रह में प्रतिलेखन का सामान्य कारण जीव रक्षा और जिनाज्ञा पालन कहा गया है तथा मुख्य कारण मन की चंचल वृत्तियों को स्थिर करना बताया है।[75] शास्त्रों में यह भी वर्णित है कि प्रतिलेखना से आठ कर्मों का क्षय होता है और सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। जैन साहित्य में उदाहरण आता है कि वल्कलचीरी नामक साधु को पात्रों की प्रमार्जना करते-करते केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि प्रतिलेखना आत्म शुद्धि का आवश्यक और प्रधान अंग है। इस कारण मुनि को प्रतिदिन दोनों समय और श्रावक को पौषधादि प्रतिलेखना करनी चाहिए। प्रतिलेखना के प्रति अहोभाव एवं रुचि जागृत करने के लिए यह सोचना चाहिए कि अनन्त उपकारी तीर्थंकर प्रभु, लब्धिसम्पन्न गणधर, श्रुतकेवली, गीतार्थ मुनि आदि अनेकानेक भव्यात्माओं ने जिस विधि का स्वयं पालन किया और अन्यों के लिए जिसकी प्रेरणा दी है, वह विधि या क्रिया सामान्य नहीं हो सकती है।

प्रतिलेखना के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उभरता है कि प्रतिदिन उपयोगी वस्तुओं की पुन: पुन: प्रतिलेखना क्यों की जाती है? इसका सामान्य कारण यह है कि प्रकृति परिवर्तनशील है और उसमें वातावरण को प्रभावित करने की अद्‌भुत क्षमता है। इस प्रकार प्रकृति में होने वाली आर्द्रता, शुष्कता, रजकण आदि के पारस्परिक संयोग से वस्त्र-पात्रादि में जीवोत्पत्ति की पूर्ण संभावना रहती है। अत: सूक्ष्म-अदृश्य जीवों के रक्षणार्थ बार-बार धीरतापूर्वक प्रतिलेखन करना तीर्थंकरों की आज्ञा है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी धीरतापूर्वक बार-बार चक्षु संचालन, देह संचालन एवं मन:स्थैर्य लाभकारी होता है।

**वस्त्र प्रतिलेखना उत्कटासन में ही क्यों?** पाँवों के तलियों पर सीधे बैठना उत्कटासन कहलाता है। इसे उकड़ूँ आसन भी कहते हैं।

इस आसन से देह शुद्धि होती है। देह शुद्धि होने से मल शुद्धि, रक्त शुद्धि और अपान शुद्धि भी होती है, जिसके फलस्वरूप जागरूकता बढ़ती है यही प्रतिलेखना का अनिवार्य अंग है। इस आसन द्वारा भली-भांति रक्त संचरण होने से आलस्य दूर होता है और शरीर में स्फूर्ति आती है, जो प्रतिलेखना का आवश्यक तत्त्व है।

## प्रतिलेखना यन्त्र

### प्राचीन परम्परानुसार प्रभातकालीन वस्त्र प्रतिलेखना यन्त्र (ओघनिर्युक्ति, पंचवस्तुक, यतिदिनचर्या के आधार पर)

| उपकरण | क्रम | बोल | संख्या | आसन |
|---|---|---|---|---|
| मुखवस्त्रिका | 1 | 25 | लगभग 15 बार | उकडूँ |
| रजोहरण | 2 | 25 | प्रात:-सायं दो बार | उकडूँ |
| सूती निशेथिया | 3 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| (रजोहरण के अन्दर का ओघारिया) | | | | |
| ऊनी निशेथिया | 4 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| (रजोहरण के ऊपर का ओघारिया) | | | | |
| चोलपट्ट | 5 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| कंबली | 6 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| सूती चद्दर | 25 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| संथारा | 9 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| उत्तरपट्ट | 10 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| डंडा | 11 | 10 | दो बार | खड़े-खड़े |

### प्रचलित परम्परानुसार प्रभातकालीन वस्त्र प्रतिलेखना यन्त्र

| उपकरण | क्रम | बोल | संख्या | आसन |
|---|---|---|---|---|
| मुखवस्त्रिका | 1 | 25 | लगभग 15 बार | उकडूँ |
| रजोहरण | 2 | 25 | प्रात:-सायं दो बार | उकडूँ |
| डंडी | 3 | 10 | दो बार | उकडूँ |
| पाठा | 4 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| सूती निशेथिया | 5 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| ऊनी निशेथिया | 6 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| डोरा (रजोबंधक) | 7 | 10 | दो बार | उकडूँ |
| चोलपट्टा या साडा | 8 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| (साध्वी के लिए) | 9 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| कंबली | 10 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| सूती चद्दर | 11 | 25 | दो बार | उकडूँ |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| संथारा | 12 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| उत्तरपट्ट | 13 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| आसन | 14 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| डंडा | 15 | 10 | दो बार | खड़े-खड़े |
| दण्डासन | 16 | 10 | दो बार | खड़े-खड़े |

- इसके अतिरिक्त रात्रि में मच्छरदानी, चटाई आदि जिनका भी उपयोग किया जाए, उन सभी की 25-25 बोल से दो बार प्रतिलेखना करनी चाहिए।

## प्राचीन परम्परानुसार पात्रोपकरण प्रतिलेखना यन्त्र

| उपकरण | क्रम | बोल | संख्या | आसन |
|---|---|---|---|---|
| गोच्छग (पात्र के ऊपर ढंकने का ऊनी वस्त्र) | 1 | 25 | प्रथम एवं चतुर्थ प्रहर में दो बार | सुखासन |
| पडला | 2 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्रकेसरिका (पूंजणी) | 3 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्रबंध (झोली) | 4 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्र | 5 | 25 | दो बार | सुखासन |
| रजस्त्राण (पात्र लपेटने का वस्त्र) | 6 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्रस्थान (नीचे के गुच्छे) | 7 | 25 | दो बार | सुखासन |

- साधुविधिप्रकाश में पात्रकेसरिका, पात्र, गोच्छग, पटल, पात्रबन्ध, रजस्त्राण, पात्रस्थापन– इस क्रम से पात्र प्रतिलेखना करने का निर्देश है।

## प्रचलित परम्परानुसार पात्र प्रतिलेखना यन्त्र

| उपकरण | क्रम | बोल | संख्या | आसन |
|---|---|---|---|---|
| गोच्छग | 1 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पटल | 2 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्रकेसरिका | 3 | 10 | दो बार | सुखासन |
| पात्रबंध | 4 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्र | 5 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पतरी | 6 | 25 | दो बार | सुखासन |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| तिरपनी | 7 | 25 | दो बार | सुखासन |
| करेटा | 8 | 25 | दो बार | सुखासन |
| प्याले | 9 | 25 | दो बार | सुखासन |
| घड़ा | 10 | 25 | दो बार | सुखासन |
| डोरी | 11 | 10 | दो बार | सुखासन |
| रजस्त्राण | 12 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्रस्थापन | 13 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्रप्रोंछनक | 14 | 25 | दो बार | सुखासन |

- इसके सिवाय चम्मच, घड़ा, गरणा, चलनी आदि जो भी पात्रोपकरण के रूप में उपयोग किये जायें, उनकी 25-25 बोल से प्रतिलेखना करनी चाहिए।

## प्राचीन परम्परानुसार सायंकालीन प्रतिलेखना यन्त्र

| उपकरण | क्रम | बोल | संख्या | आसन |
|---|---|---|---|---|
| मुखवस्त्रिका | 1 | 25 | दो बार | सुखासन |
| चोलपट्ट | 2 | 25 | दो बार | सुखासन |
| गोच्छग | 3 | 25 | दो बार | सुखासन |
| चिलमिली | 4 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्रकबंध | 5 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पटल | 6 | 25 | दो बार | सुखासन |
| रजस्त्राण | 7 | 25 | दो बार | सुखासन |
| मात्रक | 8 | 25 | दो बार | सुखासन |
| पात्रक | 9 | 25 | दो बार | सुखासन |
| कंबली | 10 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| सूती चद्दर | 11 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| संस्तारक | 12 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| उत्तरपट्ट | 13 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| रजोहरण | 14 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| डंडी | 15 | 10 | दो बार | उकडूँ |
| ऊनी ओघारिया | 16 | 25 | दो बार | उकडूँ |
| सूती औघारिया | 17 | 25 | दो बार | उकडूँ |

• प्रतिलेखक मुनि उपवासी हों तो क्रमशः पात्र, मात्रक, उपधि एवं चोलपट्ट की प्रतिलेखना करें।

प्रचलित परम्परा के अनुसार सायंकालीन प्रतिलेखना यन्त्र पूर्ववत समझना चाहिए। विशेष इतना है कि इस समय गुरु, ग्लान, तपस्वी, नव दीक्षित आदि के समस्त प्रकार की उपधि का भी प्रतिलेखन करें तथा स्वयं की भी समस्त उपधि का क्रमानुसार प्रतिलेखन करें।

## उपसंहार

जैन आचार और चारित्र धर्म की मुख्य नींव प्रतिलेखना है। मुनि जीवन की प्रत्येक क्रियाएँ प्रतिलेखना से सम्बद्ध हैं। चारित्र और प्रतिलेखना एक-दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। इन दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। चारित्र के अभाव में प्रतिलेखना और प्रतिलेखना के अभाव में चारित्र का अस्तित्व टिक नहीं सकता। जैसे चलते हुए देखना, पात्र आदि उठाते-रखते हुए देखना, मल-मूत्र आदि का परिष्ठापन करते हुए देखना इत्यादि। प्रतिलेखना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जैन श्रमण के लिए केवल वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि भण्डोपकरणों की ही नहीं, अपने आश्रित जो भी मकान, पट्टे, चौकी, पुस्तकें, शरीर आदि हों, उनका भी प्रतिलेखन करना आवश्यक है।

सामान्यतया प्रतिलेखना चार प्रकार की कही गई है–1. वस्त्र, पात्र, पुस्तक, शरीर, पट्टा, चौकी आदि को अच्छी तरह से देखना द्रव्य प्रतिलेखना है। 2. स्थण्डिल भूमि, उपाश्रय भूमि, मल-मूत्र विसर्जन भूमि, विहार भूमि आदि का सम्यक निरीक्षण करना क्षेत्र प्रतिलेखना है। 3. स्वाध्यायकाल, भिक्षाचर्याकाल, प्रतिलेखनकाल, निद्राकाल, ध्यानकाल आदि का भलीभाँति स्मरण करके प्रत्येक क्रिया को यथासमय करना काल प्रतिलेखना है और 4. स्वयं के मन में उठने वाले शुभाशुभ भावों का सम्प्रेक्षण करना, स्वयं को देखना भाव प्रतिलेखना है।

प्रतिलेखन जैसी शास्त्रीय क्रिया का चिन्तन यदि वर्तमान जगत की समस्याओं के सन्दर्भ में किया जाए तो इससे किसी भी वस्तु को खरीदते समय ठगे जाने की संभावना कम हो जाती है। अपनी परिगृहीत वस्तुओं की प्रतिलेखना करते रहने से जीवादि पड़ने के कारण वस्त्र-पात्र आदि का नुकसान होता हो तो उससे बचा जा सकता है। उसके द्वारा शारीरिक व्यायाम होने से

शरीर में ताजगी एवं स्फूर्ति रहती है, जिससे कार्य करने में आलस्य या कामचोरी नहीं आती। आज बिना देखे ठेले आदि का समोसा, कचौड़ी, पावभाजी आदि खाने से कई बार विषाक्त भोजन के कारण स्वास्थ्य एवं पैसे की जो हानि होती है, उसे रोका जा सकता है। चित्त की चंचलता एवं विकारों का दमन करने में तथा कार्य में रुचि एवं एकाग्रता बढ़ाने में भी यह सहायक हो सकता है। आज कई बार भूमि आदि खरीदते समय ध्यान न रखने से अवैध, माफिया, डॉन आदि की सत्ता होने पर जान-माल दोनों का खतरा रहता है। अत: आत्म रक्षा के लिए भी प्रतिलेखना बहुपयोगी है।

प्रतिलेखना विधि का महत्त्व यदि वैयक्तिक एवं मनोवैज्ञानिक संदर्भ में देखा जाए तो सर्वप्रथम प्रतिलेखना करने से प्रमाद दूर होता है। प्रतिलेखना के द्वारा दृष्टि सूक्ष्मग्राही बनती है। मन बाह्य वस्तुओं एवं अन्य विषयों से हटकर स्वयं में केन्द्रित होता है। इसके माध्यम से व्यक्ति कई बार आकस्मिक दुर्घटनाओं से भी बच जाता है, जैसे वस्त्र, पात्र या भूमि पर कोई जहरीला या हानिकारक जीव हो तो प्रतिलेखना द्वारा उसकी और स्वयं की यतना हो सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में उपयोग, विवेक एवं जागृति रखने से उसकी सफलता निश्चित रूप से मिलती है।

प्रतिलेखना की उपयोगिता पर यदि प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाए तो यह शरीर प्रबन्धन, दृष्टि प्रबन्धन, भाव प्रबन्धन में बहुपयोगी हो सकती है। प्रतिलेखन क्रिया में विधिपूर्वक बार-बार उठने-बैठने से प्रमाद दूर होता है, शरीर में स्फूर्ति आती है तथा पूर्ण जागृति भी रहती है। इससे शरीर प्रबन्धन होता है। प्रतिलेखना के माध्यम से वस्त्र, पात्र, वसति आदि की शुद्धि, आत्म-रक्षा एवं अन्य प्राणों की रक्षा की जा सकती है। प्रतिलेखना करने से भावों की निर्मलता एवं जीवों के प्रति करुणा वृत्ति पनपती है तथा कषाय आदि के भाव कम होते हैं। इससे भाव प्रबन्धन होता है। प्रतिलेखन एक आवश्यक क्रिया है। इसके प्रति सचेत रहने से नियमों के प्रति दृढ़ता, संयम के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं जागृति का गुण परिपुष्ट होता है, जो प्रत्येक कार्य में जरूरी है। समस्त क्रियाएँ समयानुसार करने से समय का भी प्रबन्धन होता है।

## सन्दर्भ-सूची


1. पाइअसद्दमहणवो, पृ. 523
2. आभोगमग्गण गवेसणा य, ईहा अपोह पडिलेहा।
   पेक्खण निरिक्खणावि य, आलोयपलोयणेगट्ठा ॥
   ओघनिर्युक्ति, गा. 3
3. उवगरण वत्थपत्ते, वत्थे पडिलेहणं तु वुच्छामि।
   पुव्वण्हे अवरण्हे, मुहपत्तिअमाइपडिलेहा ॥
   पंचवस्तुक, गा. 232
4. मुहपत्ति रयहरणं, दुन्नि निसज्जय चोल कप्पतिगं।
   संथारूत्तर पट्टो, दस पेहाणुग्गए सूरे ॥
   यतिदिनचर्या, गा. 60, पृ. 68
5. (क) निशीथचूर्णि, उद्धृत धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 69
   (ख) बृहत्कल्पचूर्णि, पृ. 69
6. पडिलेहिज्जइ पढमं, पभाय पडिलेहणाइ रयहरणं।
   अब्भंतरा निसज्जा, मज्झण्हे बाहिरा पढमं ॥
   यतिदिनचर्या, गा. 81, भा. 3, पृ. 69
7. पडिलेहणणा गोसाऽवरण्हु, उग्घाडापोरसीसु तिगं तत्थ पहाएऽणुग्गयसूरे, पडिक्कमणकरणाउ। यतिदिनचर्या चूर्णियुत-भावदेवसूरि रचित, पृ. 21
8. साधुविधिप्रकाश, क्षमाकल्याणोपाध्याय, पृ. 4-5
9. वही, पृ. 4-5
10. वही, पृ. 4-5
11. तपागच्छीय परम्परा में 'सूत्र-अर्थ-तत्त्व करी सद्दहुं' ऐसा पाठ बोलते हैं।
12. ये पूर्व क्रिया रूप होने से पुरिम कहलाते हैं तथा मुखवस्त्रिका के दोनों भाग की तरफ तीन-तीन बार किये जाने से छह पुरिम होते हैं।
13. जिस प्रकार कुलवधू के द्वारा निकाला गया घूंघट झूलता रहता है उसी तरह अंगुलियों के अन्तराल में मुखवस्त्रिका का झूलता हुआ आकार बनाना वधूटक कहलाता है।
14. अक्खोडा (आस्फोटन) का अर्थ है–खींचना, आकर्षित करना।
15. पक्खोडा (प्रस्फोटन) का अर्थ है–खंखेरना, झाड़ना, गिराना।

अक्खोडा और पक्खोडा 9-9 होते हैं। ये क्रमशः एक दूसरे के अन्तराल में होते हैं, जैसे पहले तीन अक्खोडा, फिर तीन पक्खोडा, फिर अक्खोडा-पक्खोडा इस तरह दोनों क्रियाएँ तीन-तीन बार ऐसे कुल 9-9 बार की जाती है।

16. नौ अक्खोडा और नौ पक्खोडा की क्रिया दायें हाथ पर या बायें हाथ पर या दोनों हाथ पर किस तरह की जानी चाहिये? इस सम्बन्ध में दो मत हैं- एक परम्परा के अनुसार यह क्रिया दायें हाथ के द्वारा मुखवस्त्रिका का वधूटक बनाकर बायें हाथ पर की जानी चाहिये।

दूसरी परम्परा के मतानुसार क्रमशः दो अक्खोडा एवं एक पक्खोडा की क्रिया बायें हाथ पर तथा दो पक्खोडा एवं एक अक्खोडा की क्रिया दायें हाथ पर की जानी चाहिए अर्थात सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदरूँ, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म परिहरूँ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरूं-ये 9 बोल बायें हाथ पर बोले जाने चाहिए तथा ज्ञान विराधना, दर्शन विराधना, चारित्र विराधना परिहरूं, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति आदरूं, मनोदंड, वचनदंड, कायदंड परिहरूँ-ये 9 बोल दायें हाथ पर बोले जाने चाहिये।

यह ध्यान रहे कि बायें हाथ पर बोल बोलते समय दायें हाथ की अंगुलियों से मुखवस्त्रिका का वधूटक बनाएँ और बायें हाथ की प्रमार्जना करें। इस तरह दायें हाथ पर बोलों का चिन्तन करते समय बायें हाथ की अंगुलियों से मुखवस्त्रिका का वधूटक बनायें और दायें हाथ की प्रमार्जना करें। यह ध्यातव्य है कि एक अक्खोडा या एक पक्खोडा की क्रिया में तीन बोल पूर्वक क्रमशः तीन प्रमार्जना की जाती है। वर्तमान में दोनों परम्पराएँ प्रचलित हैं। स्व-स्व सामाचारी के अनुसार दोनों परम्पराएँ उचित भी हैं।

17. उत्तराध्ययनसूत्र, 26/25-26

18. दिट्ठिपडिलेहणेगा, नव अक्खोडा नवे व पक्खोडा।
पुरिमिल्ला छच्च भवे, मुहपुत्ती होइ पणवीसा ॥

(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 96

दिट्ठिपडिलेह एगा, छ उड्ढ पप्फोडा तिगतिगंतरिआ।
अक्खोड पमज्जणया, नव नव मुहपत्ति पणवीसा ॥

(ख) गुरुवंदनभाष्य, गा. 20

19. बाहूसिरमुह हियये, पाएसु य हुंति तिन्निपत्तेयं।
पिट्ठीइ हुंति चउरो, एसा पुण देह पणवीसा ॥

(क) प्रवचनसारोद्धार, गा. 96

पायाहिणेण तिअ तिअ, वामेअर बाहु सीस मुह हियए।
असुंड्ढाहो पिट्ठे, चउ छप्पय देह पणवीसा ॥

(ख) गुरुवंदनभाष्य, गा. 29

20. पुव्विलंमि चाउब्भाए, पडिलेहित्ताण भंडयं गुरूं।
वंदित्तु सज्झायं, कुज्जा दुक्ख विमोक्खणं ॥

(क) उत्तराध्ययनसूत्र, 26/2

(ख) पंचवस्तुक, गा. 268

21. उत्तराध्ययनसूत्र, 26/23

22. पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च, गोच्छओ पाय निज्जोगो ॥

ओघनिर्युक्ति, 674

23. यतिदिनचर्या चूर्णियुत, पृ.21

24. मुहवत्थे तह देहे, गुच्छे पडलाइसु पत्तेयं।
पणवीसा पणवीसा, ठाणा भणिया जिणिं देहि ॥

(क) यतिदिनचर्या, 138, उद्धृत धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 92

(ख) साधुविधिप्रकाश, पृ. 6

25. वही, पृ. 6

26. आचारांगसूत्र, अनु. मुनि सौभाग्यमल, 2/6/2/153

27. भाणस्स पास बिट्ठो, पढमं सोआइएहिं।
काऊणं उवओगं तल्लेसो, पच्छा पडिलेहए काऊणं एवं ॥

(क) पञ्चवस्तुक, गा. 269

(ख) यतिदिनचर्या, गा. 125-126, भा. 3, पृ. 90

28. ओघनिर्युक्ति, गा. 287

29. (क) ओघनिर्युक्ति, गा. 288
(ख) पंचवस्तुक, गा. 270-271-276

30. पंचवस्तुक स्वोपज्ञटीका, गा. 276

31. (क) ओघनिर्युक्ति, गा. 295
(ख) ओघनिर्युक्तिभाष्य, गा. 175-177
(ग) पंचवस्तुक, गा. 252-255

32. साधुविधिप्रकाश, पृ. 4

33. वही, पृ. 5
34. वही, पृ. 5
35. उड्ढं थिरं अतुरियं, पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे।
तो बिइयं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ॥
(क) उत्तराध्ययनसूत्र, 26/24
(ख) ओघनिर्युक्ति, गा. 264
36. अणच्चावियं अवलियं, अणाणुबन्धिं अमोसलीं चेव।
छप्पुरिमा नवखोडा, पाणिपाण विसोहणं ॥
(क) उत्तराध्ययनसूत्र, 26/25
(ख) ओघनिर्युक्ति, 265
(ग) पंचवस्तुक, गा. 240-242
37. अणुणाइरित्तपडिलेहा, अविच्चासा तहेव य।
पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि य अप्पसत्थाइं ॥
(क) उत्तराध्ययनसूत्र, 26/28
(ख) ओघनिर्युक्ति, 266
38. आरभडा सम्मदा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया।
पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइया छट्ठी ॥
उत्तराध्ययनसूत्र, 26/26
39. पसिढिल पलंब लोला, एगामोसा अणेगरुवधुणा।
कुणइ पमाणि पमायं, संकिए गणणोवग्गं कुज्जा ॥
उत्तराध्ययनसूत्र, 26/27
40. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, मधुकरमुनि, 26/29,30
(ख) ओघनिर्युक्ति, संपा. दीपरत्नसागर, आगम सुत्ताणि
भा. 27, गा. 461-62 की वृत्ति, पृ. 114
41. ओघनिर्युक्ति, गा. 463 की वृत्ति, पृ. 114
42. ओघनिर्युक्ति, 753
43. पंचवस्तुक, गा. 262
44. (क) ओघनिर्युक्ति, 628-630
(ख) पंचवस्तुक, गा. 436-438
45. पंचवस्तुक स्वोपज्ञवृत्ति, गा. 255-256

46. ओघनिर्युक्ति, 269-70
47. रात्रिक प्रतिक्रमण में देववंदन करते समय कही जाने वाली चौथी स्तुति आवश्यकचूर्णि, चैत्यवंदन महाभाष्य आदि ग्रन्थानुसार आचरणीय है।

पंचवस्तुक, पृ. 117

48. पंचवस्तुक, गा. 257-258
49. 'सूत्र अर्थ सांचो सद्दहुं'.....इत्यादि मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन के ही पच्चीस बोल जानने चाहिए।
50. कुछ परम्परा में स्थापनाचार्य के ऊपर-नीचे कुल पाँच मुँहपत्ति रखते हैं और किन्हीं में तीन मुँहपत्ति रखते हैं।
51. साधुविधिप्रकाश, पृ. 4
52. (क) तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 43
    (ख) सुबोधा सामाचारी, पृ. 21-22
53. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 125
54. वही, पृ. 338
55. साधुविधिप्रकाश, पृ. 4
56. सइ पम्हलेण मिउणा, चोप्पडमाइरहिएण जुत्तेणं।
    अव्विद्धदंडगेणं, दंडग पुच्छेण जुत्तेणं नऽन्नेणं॥

पंचवस्तुक, गा. 265

57. वही, गा. 264
58. साधुविधिप्रकाश, पृ. 5
59. वही, पृ. 5
60. पंचवस्तुक, गा. 263
61. यतिदिनचर्या, गा. 87-88, उद्धृत, धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 81
62. अपमज्जणांमि दोसा, जणगरहा पाणिघाय मइलणया।
    पायपमज्जण उवही, धुवणा धुवणांमि दोसा उ॥

पंचवस्तुक, गा. 266

63. साधुविधिप्रकाश, पृ. 4-5
64. साधुविधिप्रकाश, पृ. 5-6
65. वही, पृ. 5-6

66. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 105
67. पंचवस्तुक, गा. 291
68. विधिमार्गप्रपा–सानुवाद पृ. 105
69. (क) यतिदिनचर्या, गा. 280-286
    उद्धृत-धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 195-198
    (ख) साधुविधिप्रकाश, पृ. 8-9
70. पंचवस्तुक, गा. 443,444
71. (क) ओघनिर्युक्ति, गा. 628-631
    (ख) पंचवस्तुक, गा. 434-438
72. यतिदिनचर्या, गा. 288-289, उद्धृत-धर्मसंग्रह, भा. 3 पृ. 198
73. साधुविधिप्रकाश, पृ. 8
74. प्रबोधटीका, भा. 1, पृ. 549
75. जइवि पडिलेहणाए, हेउ जिअरक्खाणं जिणाणा य।
    तहवि इमं मणक्कड निज्जं, तणंणत्थं मुणी बिंति ।।
    धर्मसंग्रह, भा. 2, पृ. 152

## अध्याय-7

# वस्त्र ग्रहण सम्बन्धी विधि-नियम

जैन मुनि की प्रत्येक क्रिया कई विधि-नियमों से युक्त होती है। देह एवं शील रक्षा की अपेक्षा से प्रयुक्त वस्त्र के ग्रहण सम्बन्धी भी अनेक नियमोपनियमों की चर्चा आचार विषयक ग्रन्थों में है। जैसे वस्त्र की याचना किस विधि से करे, उसके लिए कौन-सा वस्त्र कल्प्य है, वह कितने वस्त्र रख सकता है, आगम युग में कितने वस्त्रों का प्रावधान था? आदि ऐसे ही अनेक पक्ष विचारणीय रहे हैं।

सामान्यतया दिगम्बर मान्यता यह है कि मुनि को वस्त्ररहित अर्थात अचेल रहना चाहिए। वहाँ मुनि के लिए वस्त्रों का उपयोग सर्वथा निषिद्ध है। यद्यपि साध्वी के लिए उनमें भी वस्त्रों का विधान है। श्वेताम्बर परम्परा में मुनि के लिए सचेल (वस्त्रसहित) एवं अचेल (वस्त्ररहित) दोनों तरह की मान्यताएँ रही हैं। उनके मत में जिनकल्पी वस्त्ररहित एवं स्थविरकल्पी वस्त्रसहित होते हैं।

### वस्त्र ग्रहण की शास्त्रोक्त विधि

आचारांगसूत्र के अनुसार मुनि को स्वयं के द्वारा याचित वस्त्र ही ग्रहण करना कल्प्य है। जब मुनि वस्त्र की गवेषणा करे और उसे निर्दोष वस्त्र प्राप्त हो जाये तो उस वस्त्र को ग्रहण करने से पहले उसकी सभी ओर से प्रतिलेखना करनी चाहिए, अन्यथा कर्म बन्धन होता है ऐसा जिन वचन है। यदि प्रतिलेखना न की जाए तो कदाचित उस वस्त्र के सिरे पर कुछ बंधा हो, जैसे कुण्डल, रत्नों की माला या हरी वनस्पति आदि तो वह अनर्थ का कारण हो सकता है।[1]

बृहत्कल्पसूत्र में वस्त्र ग्रहण विधि के सम्बन्ध में यह निर्देश है कि कोई साधु आचार्य की अनुमति लेकर किसी गृहस्थ के घर भिक्षार्थ गया हो और गृह स्वामी आहार-पानी देने के पश्चात वस्त्र, पात्रादि लेने के लिए कहे और भिक्षु को उनकी आवश्यकता हो तो यह कहकर लेना चाहिए कि 'यदि हमारे आचार्य आज्ञा देंगे तो इसे रखेंगे नहीं तो तुम्हारे ये वस्त्र-पात्रादि तुम्हें वापस लौटा दिए

जायेंगे' इस प्रकार से कहकर ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा गृहस्थ के द्वारा देने पर भी गुरु आज्ञा के बिना उसका उपयोग करने से चोरी का दोष लगता है। इसका कारण यह है कि गोचरी के लिए आचार्यादि से आज्ञा लेकर जाने पर आहार ग्रहण की ही आज्ञा होती है, अत: वस्त्रादि के लिए स्पष्ट कहकर अलग से आज्ञा लेना आवश्यक है।

वस्त्र ग्रहण के सम्बन्ध में यह निर्देश भी दिया गया है कि यदि भिक्षा के लिए आये हुए साधु को दाता-वस्त्रादि लेने का अनुनय करे तो साधु गृहस्वामी से पूछे कि यह वस्त्र किसका है और कहाँ से और क्यों लाया गया है? मुझे क्यों दिया जा रहा है? यदि गृहस्वामी के द्वारा उत्तर मिले कि "आपके शरीर पर अति जीर्ण वस्त्र है या पात्रादि टूटे-फूटे दिख रहे हैं, अत: आपको धर्मभावना या कर्तव्य से प्रेरित होकर दिया जा रहा है" तब आचार्य से अनुमति लेकर वस्त्र ग्रहण करे। यदि सन्तोषकारक उत्तर न मिले तो नहीं ले। मुनि के द्वारा वस्त्र ग्रहण की यही विधि है। साध्वी के द्वारा भी वस्त्र ग्रहण करने की यही विधि जाननी चाहिए।[2] किन्तु इतना विशेष है कि प्रवर्त्तिनी भिक्षार्थ साध्वी के द्वारा लाये गये वस्त्रादि को सात दिन तक अपने पास रखें और उसकी यतना पूर्वक परीक्षा करें–"यह विद्या, सम्मोहन चूर्ण, मन्त्र आदि से तो मन्त्रित नहीं है?" यदि उसे निर्दोष प्रतीत हो तो सबसे पहले लाने वाली साध्वी को या उसे आवश्यकता न होने पर अन्य साध्वी को दे दें। प्रवर्त्तिनी यह भी जांच करें कि देने वाला व्यक्ति युवा, विधुर, व्यभिचारी या दुराचारी तो नहीं है और जिसे दिया गया है वह युवती और नवदीक्षिता तो नहीं है। यदि इनमें से कोई भी कारण दृष्टिगोचर हो तो प्रवर्त्तिनी उसे वापस कर दें। यदि ऐसा कोई कारण नहीं हो तो उसे अन्य साध्वी को दे दें। निर्युक्तिकार ने इस परीक्षा का कारण यह बताया है कि "स्त्रियाँ प्रकृति से ही अल्पधैर्यवाली होती हैं और दूसरों के प्रलोभन से शीघ्र लुब्ध हो जाती हैं।"

यद्यपि बृहत्कल्पानुसार आचार्य की अनुमति हो तो गृहस्थ से साध्वी वस्त्रादि ग्रहण कर सकती है, किन्तु भाष्यकार के मत से उत्सर्ग मार्ग यही है कि साध्वी किसी भी गृहस्थ से स्वयं वस्त्रादि न ले। उसे जब भी वस्त्रादि की आवश्यकता हो, वह अपनी प्रवर्त्तिनी से कहे या आचार्य से कहे। आचार्य गृहस्थ के यहाँ से वस्त्र लायें, सात दिनों तक उसकी परीक्षा करें, फिर प्रवर्त्तिनी

को दें तथा प्रवर्त्तिनी उसे जरूरत मन्द साध्वी को दें। यदि आचार्य समीप न हों तो परीक्षा विधि प्रवर्त्तिनी करें। यह विधि अपरिचित या अल्प परिचित दाता की दृष्टि से अपनाई जानी चाहिए। सुपरिचित एवं विश्वस्त श्रावक-श्राविका से वस्त्रादि ग्रहण करने में सूत्रोक्त विधि ही पर्याप्त है।[3]

## पूछताछपूर्वक वस्त्र ग्रहण क्यों?

पूर्व चर्चा के अनुसार भक्तार्थी साधु को निर्दोष वस्त्र देने पर वह तीन तरह के प्रश्न करें और उनका उचित समाधान मिलने पर ही उन्हें ग्रहण करें।

निर्युक्तिकार ने तीन प्रश्नों के पूछने का अभिप्राय यह बतलाया है कि पहले दो प्रश्नों से उसकी कल्पनीयता ज्ञात हो जाती है और तीसरे प्रश्न से दाता के भाव ज्ञात हो जाते हैं। यदि साधु बिना पूछे ही वस्त्रादि ग्रहण करता है और गृहपति एवं अन्य दास-दासी आदि लेन-देन की क्रिया को देख लेते हैं तो उनके विषय में अनेक प्रकार की शंकाएँ कर सकते हैं, जैसे 'इस स्त्री का और साधु का कोई पारस्परिक आकर्षण है अथवा इसके सन्तान नहीं हैं, इसलिए यह साधु से सन्तानोत्पत्ति के लिए कोई मन्त्र, तन्त्र या भेषज प्रयोग चाहती है।' इस प्रकार की नाना शंकाओं से आक्रान्त होकर गृह मालिक पत्नी, साधु या दोनों की निन्दा, मारपीट आदि कर सकता है।

यदि घर के किसी व्यक्ति ने ऐसी कोई बात देखी-सुनी नहीं है और देने वाली स्त्री सन्तानादि से हीन है तो वह किसी विद्या-मन्त्रादि की प्राप्ति हेतु उपाश्रय में जाकर कह सकती है कि 'मुझे अमुक कार्य की सिद्धि का उपाय बताओ।' यदि दात्री कामातुरा हो तो मुनि के समक्ष वासना पूर्ति का निवेदन भी कर सकती है। यदि उस समय मुनि संयम मार्ग का उपदेश देने लगे या उसे पापाचरण हेतु निषेध करने लगे तो वह क्षुब्ध होकर साधु की अपकीर्ति कर सकती है, स्वयं के द्वारा दी गयी वस्तु वापस मांग सकती है और इसी प्रकार के अन्य अनेक उपद्रव भी कर सकती है। इन सब कारणों से साधु को तीन प्रश्न पूछकर तथा दिये जाने वाले वस्त्र-पात्रादि की पूर्ण शुद्धता ज्ञात होने पर और दाता के विशुद्ध भावों को यथार्थ जानकर ही वस्त्रादि ग्रहण करना उचित है।[4]

## वस्त्र ग्रहण कब?

जैन मुनि वस्त्र की याचना कब करें? इस सम्बन्ध में बृहत्कल्पसूत्र कहता है कि जिस स्थान पर साधु-साध्वियों को चातुर्मास करना हो वहाँ पूरे वर्षाकाल

तक अर्थात आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा से लेकर कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक गृहस्थों से वस्त्र लेना नहीं कल्पता है, किन्तु वर्षाकाल के बाद हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में अर्थात मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा से लेकर आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा पर्यन्त आठ मास तक आवश्यकता के अनुसार वस्त्र ग्रहण कर सकते हैं। इस तरह वस्त्र ग्रहण हेतु आठ मास का प्रावधान है।[5]

## वस्त्र ग्रहण किस क्रम से करें?

जैनागमों में वस्त्र ग्रहण के सम्बन्ध में यह भी विधान किया गया है कि जब कभी साधु या साध्वी को गृहस्थ से वस्त्र ग्रहण करना हो तो उन्हें चारित्र पर्याय की हीनाधिकता के क्रमानुसार ही ग्रहण करना चाहिए। इस नियम के अनुसार जो साधु-साध्वी सबसे अधिक चारित्र पर्याय वाले हों, उन्हें सर्वप्रथम प्रदान करना चाहिए। तत्पश्चात क्रमशः अल्प-अल्पतर चारित्र पर्याय वाले को देना चाहिए। इसी तरह पात्रादि अन्य उपधियों को भी चारित्र पर्याय की न्यूनाधिकता से लेना और देना चाहिए, क्योंकि व्युत्क्रम से लेने या देने पर रत्नाधिकों का अविनय, आशातना आदि होती है, जो साधु मर्यादा के प्रतिकूल है।[6]

## वस्त्र की संख्या एवं उसका परिमाण क्या हो?

विमुक्ति की साधना में लीन श्रमण के लिए संयम रक्षार्थ वस्त्रादि उपधि रखना भी शास्त्र अनुमत है। इस अनुमति के साथ यह भी निर्देशन है कि वह अपनी आवश्यकता को कम करता जाये और लाघव-धर्म की साधना में अग्रसर हो।

जैन भिक्षु किस परिमाण के कितने वस्त्र रख सकता है? इस सन्दर्भ में उल्लेख है कि श्रमण बहत्तर हाथ वस्त्र रख सकता है और श्रमणियाँ छियानवे हाथ वस्त्र रख सकती हैं। आचारांगसूत्र में मुनियों के लिए एक से लेकर तीन तक के वस्त्रों का विधान है। श्रमणी के लिए चार वस्त्रों तक का विधान है।[7] बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार मुनि पाँच प्रकार के वस्त्र उपयोग में ले सकता है– 1. जांगिक (ऊनादि के वस्त्र) 2. भांगिक (अलसी का वस्त्र) 3. सानक (सन-जूट का वस्त्र) 4. पोतक (कपास का वस्त्र) और 5. तिरीडपट्टक (तिरीड वृक्ष की छाल का वस्त्र)।[8]

भाष्यकार के अनुसार साधु-साध्वी को दो सूती और एक ऊनी ऐसे तीन

वस्त्र रखना कल्प्य है। आचारांगसूत्र में यह कहा गया है कि जो भिक्षु तरुण, स्वस्थ एवं समर्थ हो, उसे इनमें से एक ही वस्त्र रखना चाहिए, अनेक नहीं। सामान्य भिक्षु दो वस्त्र रख सकते हैं। जो श्रमण तीन वस्त्र रखते हों, उन्हें तीन वस्त्रों में से तीन संघाटिका, चोलपट्टक, आसन, झोली, गरणा, मुखवस्त्रिका, रजोहरण की दण्डी लपेटने के लिए ओघेरिया आदि बनाना चाहिए। इस प्रकार वह अधिक से अधिक बहत्तर हाथ वस्त्र रख सकता है।

श्रमणियों के लिए चार संघाटिका रखने का नियम है। एक संघाटिका दो हाथ की, दो संघाटिका तीन-तीन हाथ की और एक संघाटिका चार हाथ की हो। दो हाथ परिमाण वाली संघाटिका उपाश्रय में पहनने के लिए, तीन हाथ की संघाटिकाओं में से एक भिक्षाटन के समय एवं एक शौच के समय ओढ़ने के लिए तथा चार हाथ की संघाटिका धर्मसभा आदि के समय धारण करने के उद्देश्य से कही गई है।

आगमिक टीकाओं में वस्त्रों की अन्य सूची भी मिलती है। बृहत्कल्पसूत्र में वस्त्र संख्या के सम्बन्ध में यह भी निर्दिष्ट है कि जो दीक्षित हो रहा हो उस मुमुक्षु को रजोहरण, गोच्छग (प्रमार्जनिका), पात्र और तीन अखण्ड वस्त्र (एक हाथ चौड़ा एवं चौबीस हाथ लम्बा) जिनसे सभी आवश्यक उपकरण बनाये जा सकें, लेकर प्रव्रजित होना चाहिए। इसके पश्चात जब उसकी बड़ी दीक्षा हो या किसी व्रत विशेष में दूषण लग गया हो या अशुभ कर्मोदय के कारण साधना मार्ग से भटक गया हो किन्तु कुछ समय के पश्चात पुनः प्रव्रज्या लेने का इच्छुक हो और उसके पास पुराने वस्त्र आदि भी हों तो नये वस्त्र लेने की आवश्यकता नहीं है।[9] नवदीक्षित श्रमणी के लिए चार वस्त्रों के साथ प्रव्रजित होने का निर्देश है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आगम विधि के अभिमत से साधु को तीन एवं साध्वी को चार वस्त्र रखना ही कल्पता है।

## वस्त्र के प्रकार

वस्त्र तीन प्रकार के कहे गये हैं– 1. यथाकृत 2. अल्पपरिकर्मी और 3. बहुपरिकर्मी।

**1. यथाकृत–** गृहस्थ के द्वारा लाये गये वस्त्र के लिए फाड़ना, सीलना, सांधना आदि किसी प्रकार का परिकर्म न करना पड़े और जिस रूप में दिया गया है उस रूप में उसका उपयोग कर सके, वह यथाकृत वस्त्र कहलाता है।

**2. अल्पपरिकर्म–** गृहस्थ के द्वारा दिये गये वस्त्र में फाड़ना, सीलना आदि अल्प परिकर्म करना पड़े और जिस रूप में दिया गया है उसका उस रूप में उपयोग नहीं किया जा सके तो वह अल्पपरिकर्मी वस्त्र कहलाता है।

**3. बहुपरिकर्म–** गृहस्थ के द्वारा दिये गये वस्त्र में सांधना, सीलना आदि परिकर्म अधिक मात्रा में करना पड़े, वह बहुपरिकर्म वाला वस्त्र कहलाता है।

जैन मुनि को यथाकृत वस्त्र ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि परिकर्म वाले वस्त्र ग्रहण करने पर संयम विराधना, आत्म विराधना, स्वाध्याय हानि आदि दोष लगते हैं। यदि यथाकृत वस्त्र न मिले तो अल्पपरिकर्म वाले वस्त्र ले सकते हैं तथा अल्प परिकर्म वाले वस्त्र न मिलने पर बहुपरिकर्म वाले वस्त्र भी लिए जा सकते हैं।

## कौनसा वस्त्र कल्प्य-अकल्प्य?

जैन भिक्षु के लिए प्रमाणोपेत, निर्दोष एवं गुरु अनुमत वस्त्र ही ग्रहण करने का निर्देश है, किन्तु वह वस्त्र कैसा होना चाहिए? आचारांगसूत्र कहता है कि जो मुनि के लिए बनाया गया, खरीदा गया, उधार लिया गया, छीनकर लाया गया, दो स्वामियों में से एक की आज्ञा के बिना लाया हुआ, धोया हुआ आदि दोषों से युक्त न हो, वही वस्त्र ग्रहण करने के योग्य है।[10] इसके अतिरिक्त कृत्स्न वस्त्र और भिन्न वस्त्र का उपयोग भी वर्जित माना गया है। कृत्स्न का अर्थ अखण्ड वस्त्र है। अखण्ड वस्त्र का निषेध इसलिए किया गया है कि वस्त्र का विक्रय मूल्य या साम्पत्तिक मूल्य न रहे। यानी उसे कोई बेच-खरीद न पाये। वस्त्र शुद्धि के सम्बन्ध में यह विवेक भी आवश्यक है कि मुनि वस्त्र की गवेषणा के लिए अर्ध योजन से अधिक गमन न करे।[11]

सारांशत: जो वस्त्र श्रमण के लिए क्रीत हो, उसके लिए धोया गया हो यह अकल्प्य है तथा जो वस्त्र सादा एवं निर्दोष हो वह कल्प्य है। इसी तरह मुनि के लिए बहुमूल्य वस्त्र की याचना करना भी निषिद्ध है। प्रसाधन के निमित्त वस्त्र को रंगना, धोना आदि भी मुनि के लिए वर्जित है।

## मुनि वस्त्र धारण क्यों करें?

स्थानांगसूत्र में वस्त्र धारण के निम्न तीन प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है कि भिक्षु लज्जा-निवारण के लिए, घृणा निवारण के लिए एवं शीतादि परीषह

निवारण के लिए वस्त्र धारण करें। वे शरीर विभूषा एवं इन्द्रिय पोषण के लिए वस्त्र धारण न करें। वस्त्र धारण की यही विधि शुद्ध है।[12]

## वस्त्र प्राप्ति की विधि

जैन टीका साहित्य में वर्णन आता है कि किसी भी मुनि को जिस वस्त्र की आवश्यकता हो वह उसकी प्राप्ति के लिए प्रवर्त्तक से निवेदन करे। प्रवर्त्तक आचार्य को कहें तब आचार्य आभिग्राहिक मुनि से (जिसने समस्त गच्छ के लिए वस्त्र-पात्रों की पूर्ति करने का अभिग्रह ले रखा हो) वस्त्र की गवेषणा करने के लिए कहें और यदि वह लाने में समर्थ न हो तो दूसरे मुनि को वस्त्र-गवेषणा के लिए कहें। इस तरह वस्त्र को प्राप्त करें।[13]

## वस्त्र ग्रहण किससे किया जाए ?

बृहत्कल्पभाष्य में स्थविरा (ज्ञान, वय एवं पर्याय से वृद्ध) साध्वी के लिए तेरह स्थानों से वस्त्र ग्रहण करने का निषेध किया गया है। दूसरे, जैन परम्परा में वस्त्र याचना करने एवं गृहस्थ द्वारा प्रदत्त वस्त्र लेने का अधिकार सामान्य साध्वियों को नहीं है। यह अधिकार प्रवर्त्तिनी या स्थविरा को ही प्राप्त है। यदि भिक्षागमनार्थ साध्वी निर्दोष वस्त्र ले आये, तो भी प्रवर्त्तिनी के द्वारा उस वस्त्र की सात दिन तक रखकर परीक्षा की जाये, उसके बाद भी शुद्ध हो तो उसे ग्रहण करने का विधान है। यदि अशुद्ध भावों का उत्पादक है तो उसे छिन्न-भिन्न कर परिष्ठापित कर दें। मूलतः श्रमणी के वस्त्र श्रमणों के द्वारा ही प्राप्त करने का निर्देश है और उन्हीं के द्वारा वस्त्र की परीक्षा करने का भी उल्लेख है। श्रमणों के अभाव में गीतार्थ स्थविरा वस्त्र की गवेषणा करे। किन्तु स्थविरा साध्वी निम्न तेरह स्थानों से वस्त्र ग्रहण न करें।

1. कापालिक 2. बौद्ध भिक्षु 3. शौचवादी 4. कूर्चन्धर 5. वेश्यास्त्री 6. वणिक 7. तरुण 8. पूर्वपरिचित उद्भ्रामक 9. मामा का पुत्र 10. भर्त्ता 11. माता-पिता, भगिनी-भ्राता 12. सम्बन्धीजन और 13. श्रावक।

इन्हें छोड़कर भावित कुलों से वस्त्र ग्रहण करें। वहाँ वस्त्र प्राप्ति न होने पर प्रतिषिद्ध स्थानों से किन्तु पश्चानुपूर्वी क्रम से यतनापूर्वक वस्त्र ग्रहण करें।[14]

## वस्त्र उपयोग विधि

जैन साधु-साध्वी के लिए सामान्यतया दो सूती और एक ऊनी वस्त्र रखने का नियम है। सूती वस्त्र भीतर में और उसके ऊपर ऊनी वस्त्र धारण करे। यह

वस्त्र धारण की शुद्ध विधि है।[15]

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार साधु-साध्वी यदि अकाल वेला (वर्षाऋतु में सूर्यास्त होने के छह घड़ी अर्थात करीब ढाई घंटा पूर्व से लेकर सूर्योदय होने के छह घड़ी बाद तक, शिशिर ऋतु में सूर्यास्त होने के चार घड़ी अर्थात पौने दो घंटा पूर्व से लेकर सूर्योदय होने के चार घड़ी बाद तक, ग्रीष्म ऋतु में सूर्यास्त होने के दो घड़ी अर्थात 48 मिनिट पूर्व से लेकर सूर्योदय होने के दो घड़ी बाद तक की अवधि) में वसति से बाहर निकले तो उन्हें ऊनी वस्त्र ओढ़ना अनिवार्य है। इसका उद्देश्य संयम रक्षा एवं जीव रक्षा है। गीतार्थ परम्परा से ऐसा सुना जाता है कि इस अकाल वेला के समय खुले आकाश से सूक्ष्म अप्कायिक जीव एवं संपातिम जीव निरन्तर बरसते रहते हैं। वे यदि ऊनी वस्त्र पर गिरें तो मृतप्राय होने की स्थिति से बच जाते हैं किन्तु ऊनी वस्त्र के नीचे सूती वस्त्र जरूर होना चाहिए, इसलिए जैन साधु ऊनी एवं सूती दोनों वस्त्र मिलाकर ओढ़ते हैं। अकाल वेला में बाहर गये श्रमण के लिए यह ध्यान रखना भी जरूरी है कि वह उपाश्रय में लौटकर ऊनी वस्त्र को 48 मिनिट तक टंगा हुआ खुला ही रहने दे, अन्यथा जीव वध की संभावना रहती है। स्थानकवासी, तेरापंथी एवं दिगम्बर की प्रचलित परम्परा में ऊनी वस्त्र ओढ़ने की सामाचारी नहीं है। हाँ वस्त्र से सिर, कन्धे आदि आच्छादित करने की परम्परा है।

उल्लेखनीय है कि मूर्तिपूजक परम्परा के मतानुसार अकाल वेला न हो तो भी मुनि को वसति से बाहर जाते समय ऊनी वस्त्र अपने साथ रखना चाहिए। अत: इस सामाचारी के परिपालनार्थ साधु-साध्वी अकाल वेला के अतिरिक्त समय में ऊनी वस्त्र की घड़ी करके अपने बांये कंधे पर रखते हैं। बृहत्कल्पटीका में ऊपर ऊनी एवं भीतर सूती वस्त्र ओढ़ने के निम्न कारण भी बताये गए हैं–[16]

- ऊनी वस्त्र शीघ्र मलिन हो जाता है, अत: भीतर में धारण करने से जूं, पनक आदि जीव उत्पन्न हो सकते हैं, जबकि ऊपर ओढ़ने से उनकी रक्षा हो सकती है।
- सूती वस्त्र बाहर पहनने से विभूषा का भाव पैदा होता है, मलिन ऊनी वस्त्र को भीतर ओढ़ने से दुर्गन्ध भी आने लगती है। इसलिए सुविधि पूर्वक ओढ़ने से यह दोष भी परिहृत हो जाता है।

• नीचे सूती वस्त्र और ऊपर ऊनी वस्त्र ओढ़ने पर शीत से भी बचाव होता है, अत: ऊनी वस्त्र ऊपर और सूती वस्त्र भीतर ओढ़ना चाहिए।

## वर्तमान सन्दर्भ में वस्त्र ग्रहण विधि की उपादेयता

जैन परम्परा में सचेलक एवं अचेलक दोनों मुनियों की चर्चा प्राप्त होती है। सचेलक मुनि किस प्रकार वस्त्र ग्रहण करें? इसका उल्लेख आगम ग्रन्थों में मिलता है। यदि इस विधि की उपयोगिता वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखी जाए तो निम्न तथ्य परिलक्षित होते हैं–

मुनि के द्वारा पूछताछ एवं जानकारीपूर्वक वस्त्र ग्रहण करने से गृहस्थ के मन में साधुओं के प्रति अहोभाव पैदा होता है तथा उनकी निर्लोभता एवं शुद्ध चर्या को देखकर वह भावोल्लासपूर्वक द्रव्य प्रदान करता है। मर्यादित वस्त्र रखने से साधु को उन्हें संभालने, सहेजकर रखने एवं उसमें कीड़ा आदि लगने का भय नहीं रहता। साथ ही उनके संयम, समय एवं स्वाध्याय में हानि नहीं होती। मुनि की अल्पपरिग्रही निरासक्त बुद्धि देखकर लोगों के हृदय में जिन धर्म के प्रति आस्था बढ़ती है। वस्त्र ग्रहण में भी यथाकृत या अल्प परिकर्मी वस्त्र ग्रहण करने से मुनि अपनी आवश्यकता पूर्ति के साथ समय प्रबंधन का भी ध्यान रखता है। गुरु आज्ञापूर्वक वस्त्र ग्रहण करने से समाज में बड़ों के प्रति आदर-सत्कार के भाव बढ़ते हैं। पुराना या उपयोग किया हुआ वस्त्र लेने से उसके प्रति आसक्ति नहीं पनपती। साधु के इस मर्यादित जीवन को देखकर आज जो नित नए वस्त्र धारण की परम्परा चल रही है उस पर नियंत्रण हो सकता है।

यदि वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में वस्त्र ग्रहण विधि की प्रासंगिकता पर विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि याचनापूर्वक वस्त्र धारण करने से अहंकार आदि के भाव नष्ट होते हैं तथा उनके प्रति आसक्ति या ममत्व भाव जागृत नहीं होता। इसके साथ ही आज साधु वर्ग के प्रति समाज में जो गलत धारणाएँ बन रही है उसका भी निर्मूलन होता है। क्रमपूर्वक वस्त्र आदि प्रदान करने से बड़ों-छोटों में कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता। कई पारिवारिक लड़ाइयाँ इसीलिए उत्पन्न होती हैं कि वस्तु वितरित करते समय छोटे-बड़ों का ध्यान नहीं रखा गया, ऐसी समस्याओं से बचा जा सकता है। पूछताछ एवं दाता की इच्छापूर्वक वस्त्र ग्रहण करने से तदनन्तर कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। वैसे ही शोधपूर्वक वस्त्रादि खरीदने से ठगी की संभावनाएँ कम हो जाती हैं।

## उपसंहार

नैतिक एवं सामाजिक जीवन जीने के लिए वस्त्र धारण एक प्राचीनतम सभ्यता है। किन्तु आत्म साधनारत मुनि को संयम धर्म की अभिवृद्धि हेतु कौनसे वस्त्र किस प्रकार ग्रहण एवं धारण करने चाहिए, इसका सम्यक स्वरूप पूर्व पृष्ठों पर पठनीय है। वस्तुत: जैन भिक्षु के वस्त्र सम्बन्धी जो भी नियमोपनियम हैं, वे अत्यन्त विचारणीय हैं। जैनागमों में आचारांगसूत्र एवं बृहत्कल्पसूत्र इन ग्रन्थों में प्रस्तुत विषय को स्पष्टता के साथ कहा गया है।

दिगम्बर साहित्य के अनुसार मुनि को निर्वस्त्र रहने का विधान है। उनके मतानुसार वस्त्रधारी पुरुष मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, फिर चाहे वह तीर्थंकर ही क्यों न हो।[17] इसी आधार पर इस परम्परा में स्त्री-मुक्ति का निषेध किया गया है। किन्तु भिक्षुणी के लिए निर्वस्त्र रहना असम्भव है। अत: उसके लिए एक अखण्ड वस्त्र धारण करने का निर्देश दिया गया है। तदनुसार दिगम्बर भिक्षुणियाँ आज भी एक वस्त्र ही धारण करती हैं, शेष सभी नियम भिक्षु-भिक्षुणी के प्राय: समान हैं।[18]

वैदिक परम्परा में वस्त्रधारी एवं निर्वस्त्र दोनों तरह के संन्यासियों का चित्रण प्राप्त होता है। कुछ मतानुयायी कहते हैं कि संन्यासी को निर्वस्त्र रहना चाहिए। आपस्तम्ब के अनुसार संन्यासी को केवल अपना गुप्तांग ढंकने के लिए वस्त्र धारण करना चाहिए। इसमें वस्त्र धारण के सम्बन्ध में यह विधान बतलाया गया है कि उसे अन्य लोगों द्वारा छोड़ा हुआ जीर्ण-शीर्ण, किन्तु स्वच्छ वस्त्र पहनना चाहिए।[19] वसिष्ठ के मत से उसे अपने शरीर को वस्त्र के टुकड़े से ढकना चाहिए अथवा मृग चर्म अथवा गायों के लिए काटी गयी घास से आवृत्त करना चाहिए।[20] बौधायन के अनुसार उसका वस्त्र काषाय रंग का होना चाहिए।[21]

इस प्रकार हम पाते हैं कि जैन एवं हिन्दू दोनों परम्पराओं में निर्वस्त्र और वस्त्र धारण की अवधारणा समान है। यद्यपि हिन्दू धर्म में निर्वस्त्रधारी की परम्परा विलुप्त हो चुकी है।

जहाँ तक बौद्ध संघ का प्रश्न है, वहाँ इस परम्परा में भी भिक्षु एवं भिक्षुणियों के लिए वस्त्र सम्बन्धी कुछ प्रावधान हैं। जब हम पातिमोक्ख, महावग्ग आदि बौद्ध साहित्य का अध्ययन करते हैं तो इस विषयक निम्न तथ्य ज्ञात होते हैं–

1. बौद्ध संघ में भिक्षु एवं भिक्षुणी दोनों को वस्त्र ग्रहण के समय अत्यन्त सावधानी रखने का निर्देश है। शारीरिक भिन्नता के कारण भिक्षुणियों को विशेष सजगता रखने का उल्लेख है।
2. रजस्वला काल में वस्त्र पर रक्त के धब्बे न पड़ जाएं, इस हेतु अत्यन्त सजगता रखने को कहा गया है।
3. बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणी निम्न छह प्रकार के वस्त्र धारण कर सकते हैं– 1. क्षौम निर्मित वस्त्र 2. कपास निर्मित वस्त्र 3. कौशेय निर्मित वस्त्र 4. ऊन निर्मित वस्त्र 5. सन निर्मित वस्त्र 6. अलसी आदि की छाल से निर्मित वस्त्र।
4. सामान्यतया बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों को तीन वस्त्र रखने का नियम है– 1. संघाटी 2. उत्तरासंग और 3. अन्तरवासक। संघाटी दो परतों की, उत्तरासंग एक परत का एवं अन्तरवासक एक परत का होता है। यदि वस्त्र पुराने हो गए हों तो संघाटी चार स्तर की एवं शेष दोनों दो-दो स्तर के होते हैं। कालान्तर में अन्य वस्त्र रखने की भी अनुमति दी गई है। ऋतुकाल के समय भिक्षुणी के लिए आवसत्थ चीवर एवं अणिचोल (रक्त शोधक) वस्त्र धारण करने का नियम है।
   दैनिक जीवन के लिए उपयोगी कुछ अन्य वस्त्रों के रखने का भी विधान है, जैसे पच्चत्थरण (बिछाने की चद्दर), कण्डुपरिच्छादन (खुजली, फोड़ा आदि के समय बांधने का वस्त्र), मुखपुंछन, परिक्खारचोलक (थैले आदि की तरह का वस्त्र) आदि।
5. अत्यन्त सतर्कतापूर्वक वस्त्र ग्रहण करना, वस्त्रदाता के शुभाशुभ विचारों का परीक्षण करना आदि कतिपय नियम जैन परम्परा से मिलते-जुलते हैं।
6. बौद्ध संघ में भिक्षु के लिए उपयोगी वस्त्र को चीवर कहा गया है, जो समारोहपूर्वक आश्विन पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा के मध्य प्रदान किया जाता है। इस प्रकार एक निश्चित काल में चीवर बांटने का विधान है।
7. इस संघ में वस्त्र रंगने का भी नियम बनाया गया है। महावग्ग के अनुसार बुद्ध ने छह प्रकार के वस्त्र रंगने का आदेश दिया है, जबकि जैन परम्परा में सदाकाल श्वेत वस्त्र धारण करने पर बल दिया गया है। बौद्ध परम्परा में रंग पकाने, रंग पकाने हेतु पात्र रखने एवं उन्हें बांस आदि पर सुखाने

की भी अनुमति दी गई है।[22]

## सन्दर्भ सूची


1. *आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/5/1/सू. 568*
2. *बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि 1/38-41*
3. *वही, पृ. 146-147*
4. *वही, पृ. 147-148*
5. *वही, 3/16-17*
6. *वही, 3/18*
7. *आचारागंसूत्र, 1/5/1 सू. 553*
8. *बृहत्कल्पसूत्र, 2/29*
9. *वही, 3/14-15*
10. *आचारांगसूत्र, 2/5/1/555*
11. *वही, 2/5/1 सू. 554*
12. *स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/3/347*
13. *बृहत्कल्पभाष्य, गा. 615*
14. *वही, 2829, 2821-2823*
15. *वही, 3664*
16. *वही, 3667 की टीका*
17. *सुत्तपाहुड, 23*
18. *वही, 22*
19. *आपस्तम्ब, 2/9/21/11-12*
20. *वसिष्ठधर्मसूत्र, 10/9-11*
21. *बौधायन, 2/6/24, उद्धृत-धर्मशास्त्र का इतिहास, भा. 1, पृ. 494*
22. *जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पृ. 53-58*


●

## अध्याय-8

# पात्र ग्रहण सम्बन्धी विधि-नियम

जब तक साधक दृढ़मनोबल पूर्वक 'करपात्री' की भूमिका पर नहीं पहुँच जाता, तब तक उसे पात्र की आवश्यकता रहती है। सामान्य रूप से साधु-साध्वियों को कैसे पात्र लेने चाहिए, कितने मूल्य के लेने चाहिए, उनकी गवेषणा और उनका उपयोग करते समय कौनसी सावधानियाँ रखनी चाहिए? यहाँ इन तथ्यों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। नियमत: ग्रहण किए गए पात्र ऐसे होने चाहिये कि जिससे उन पर ममत्व या मूर्च्छा का भाव न जगे तथा उनके अन्वेषण, ग्रहण और उपयोग में उद्‌गम आदि के दोष न लगें।

### पात्र के प्रकार

ओघत: पात्र के दो प्रकार हैं–द्रव्य और भाव। श्रमण को भाव पात्र कहा गया है तथा श्रमण के संयम रक्षार्थ धारण किये जाने वाले पात्र द्रव्य पात्र कहलाते हैं अथवा काष्ठादि से निर्मित पात्र द्रव्य पात्र हैं।

जैन साधु-साध्वियों के लिए निम्न तीन प्रकार के द्रव्य पात्र कल्पनीय माने गये हैं– 1. तुम्बे का पात्र 2. लकड़ी का पात्र और 3. मिट्टी का पात्र।[1]

इनमें से प्रत्येक पात्र 1. उत्कृष्ट 2. मध्यम एवं 3. जघन्य के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

उत्कृष्टादि पात्र भी तीन-तीन प्रकार के कहे गए हैं– 1. यथाकृत 2. अल्पपरिकर्म युक्त और 3. सपरिकर्म युक्त।

यहाँ इतना जानना जरूरी है कि पात्र के जघन्यादि जो भेद किये गये हैं, उनकी परिधि रस्सी से मापी जाती है। यदि मापने पर मापक रस्सी तीन वितस्ति तथा चार अंगुल की हो तो वह माप वाला पात्र मध्यम परिमाण का कहलाता है। इस माप से छोटा जघन्य पात्र कहा जाता है तथा उससे बड़ा उत्कृष्ट पात्र कहा जाता है।

उक्त तीनों तरह के पात्र रखने का उद्देश्य यह है कि ये न तो बहुत कीमती

होते हैं और न इन्हें प्राप्त करने में कोई विशेष कठिनाई होती है। अत: अल्पमूल्य और सुलभता की दृष्टि से ऐसा विधान किया गया प्रतीत होता है। एक हेतु यह भी हो सकता है कि इनके निर्माण में अधिक आरम्भ-समारम्भ नहीं होता। धातु के पात्र कीमती होते हैं तथा उनके निर्माण में भी विशेष आरम्भ-समारम्भ होता है, इसलिए धातु के पात्र की आज्ञा नहीं दी गई है। एक कारण यह भी माना जा सकता है कि जैन श्रमण अपरिग्रह के मूर्तिमान आदर्श होते हैं, इसलिए उन्हें धातु की बनी हुई कोई भी वस्तु अपने पास स्थायी रूप से रखने का निषेध किया गया है। इसी के साथ धातु का विक्रय किया जा सकता है किन्तु तुम्बे मिट्टी आदि का नहीं।

## पात्र ग्रहण की शास्त्रीय विधि

सामान्यतया वस्त्र ग्रहण के सम्बन्ध में जो विधि दर्शायी गयी है, पात्र ग्रहण के विषय में भी वही विधि जाननी चाहिए। जिस प्रकार औद्देशिक और बहुमूल्य वस्त्र लेने का निषेध है, उसी तरह औद्देशिक या बहुमूल्य पात्र लेने का भी निषेध है। वस्त्र और पात्र की गवेषणा के सम्बन्ध में अधिकांश नियम समान हैं।[2]

## किसके लिए कितने पात्रों का विधान?

सामान्यतया मुनि के लिए एक पात्र रखने का विधान है लेकिन वह अधिक से अधिक तीन पात्र रख सकता है। आचारांगसूत्र में वर्णन आता है कि साधु या साध्वी तुम्बी, काष्ठ या मिट्टी से निर्मित तीन तरह के पात्र रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त लोहा, तांबा, पीतल, कांसा, चर्म, कांच, शंख, दांत या पत्थर किसी भी प्रकार के धातु का पात्र रखना उनके लिए निषिद्ध बतलाया गया है। यदि वह निषिद्ध पात्र रखता है तो उसे चातुर्मासिक या अनुद्घातिक प्रायश्चित्त आता है।[3]

कौनसा साधु कितने पात्र रख सकता है? इस सम्बन्ध में आचारांग[4], निशीथ, बृहत्कल्प[5] आदि सूत्रों का निर्देश है कि जो साधु तरुण, बलिष्ठ एवं स्थिर संहनन वाला हो, वह एक पात्र रखे दूसरा नहीं। ऐसा मुनि जिनकल्पिक या विशिष्ट अभिग्रह धारक भी हो सकता है। श्वेताम्बर परम्परा जिनकल्पी को पात्र की अनुज्ञा देती है। गच्छ के साथ रहने वाले साधुओं के लिए दो पात्र रखने का विधान किया गया है, उनमें एक भोजन के लिए एवं दूसरा पानी के लिए रखना चाहिए। आचार्यादि के साथ रहने वाले साधुओं के लिए तीन पात्र रखने

का निर्देश है, उनमें तीसरा पात्र लघुनीति एवं बड़ी नीति (मलमूत्र) आदि के विसर्जन के उद्देश्य से रखना चाहिए।

बृहत्कल्पसूत्र में श्रमणियों के लिए घटीमात्रक (घड़ा) रखने का विधान भी है। इसी प्रकार व्यवहारसूत्र में वृद्ध साधु के लिए भाण्ड (घड़ा) और मात्रिका (लघुनीति का बरतन) रखने का प्रावधान है। इस तरह साधु को तीन पात्र और चौथा मात्रक ऐसे कुल चार पात्र रखना भी कल्पता है[6] और साध्वियों को चार पात्र और पाँचवा मात्रक ऐसे कुल पाँच पात्र रखना कल्पता है।[7]

ध्यातव्य है कि आगम में तीन प्रकार के मात्रक का उल्लेख भी है– 1. उच्चार मात्रक 2. प्रश्रवण मात्रक और 3. खेल मात्रक। घटीमात्रक एक प्रकार का प्रश्रवणमात्रक ही है। यद्यपि प्रश्रवण मात्रक तो साधु-साध्वी दोनों को रखना कल्पता है किन्तु इस मात्रक का कुछ विशेष आकार होता है।

## बहुमूल्य वस्त्र-पात्रादि का निषेध क्यों?

बहुमूल्य वस्त्र-पात्रादि रखने से अनेक प्रकार के दोषों की सम्भावना हो सकती है, जैसे 1. चुराये जाने या छीने जाने का भय 2. संग्रह करके रखने की संभावना 3. क्रय-विक्रय या अदला-बदली करने की संभावना 4. बहुमूल्य पात्रादि की प्राप्ति हेतु धनिक की प्रशंसा, चाटुकारिता आदि की संभावना 5. अच्छे पात्र पर ममता या मूर्च्छा और असुन्दर पात्रादि के प्रति घृणा की संभावना 6. कीमती पात्रादि लेने की आदत 7. कीमती पात्रों को बनाने तथा टूटने-फूटने पर जोड़ने में अधिक आरम्भ का दोष। 8. शंख, दाँत, चर्म आदि के पात्र लेने से उनके निमित्त मारे जाने वाले जीवों की हिंसा का अनुमोदन और 9. साधर्मिकों के साथ प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या एवं दूसरों को उपभोग के लिए न देने की सम्भावना।[8]

प्राय: कीमती चीजें महारम्भ से पैदा होती हैं, अतएव अहिंसक साधु-साध्वी को महारम्भ जन्य उपधि ग्रहण नहीं करनी चाहिए। निशीथसूत्र में इस प्रकार के पात्र बनाने, बनवाने और अनुमोदन करने वाले साधु-साध्वी के लिए प्रायश्चित्त का विधान है।[9]

## पात्र की गवेषणा (खोज) हेतु क्षेत्रगमन मर्यादा

आगमिक नियम यह है कि श्रमण हो या श्रमणी, वे पात्र की गवेषणा (खोज) हेतु अपनी वसति से अर्धयोजन तक जा-आ सकते हैं, इस क्षेत्र सीमा

के बाहर से लाया गया पात्र उनके लिए निषिद्ध माना गया है। अतएव जैन मुनि को पात्र की याचना के लिए अर्धयोजन के भीतर ही गमन करना चाहिए।[10]

स्पष्ट है कि जिस प्रकार वस्त्र याचनार्थ उपाश्रय की सीमा से दो कोस (अर्धयोजन) उपरान्त जाने का निषेध किया गया है, वैसा ही निषेध पात्र के लिए भी समझना चाहिए। जिस प्रकार आधाकर्मिक, औद्देशिक, क्रीत, प्रामित्य आदि दोषों से दूषित आहार एवं वस्त्र लेने का निषेध किया गया है, वही नियम पात्र के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। यदि पात्र शाक्यादि श्रमणों के लिए बनाया गया हो या खरीदा गया हो या संस्कारित किया गया हो तो वह पुरुषान्तर हो जाने के पश्चात मुनि के लिए कल्पनीय हो जाता है।[11]

यहाँ पात्र के गवेषणार्थ अर्धयोजन से अधिक गमन करने का जो निषेध किया गया है, उसका मुख्य कारण संग्रह वृत्ति का निरोध करना है अन्यथा लोलुपी एवं मोही साधु दूर-दूर तक इसकी गवेषणा करता रहेगा, जिससे स्वाध्याय हानि, संयम हानि और आत्म परिणामों की हानि का कारण बन सकता है।

## योग्य-अयोग्य पात्रों को पहचाने की रीति?

जैन ग्रन्थों में पात्र के प्रकारों का ही निर्देश नहीं है, बल्कि किस तरह का पात्र सलक्षण वाला और अलक्षणवाला, मंगलकारक और हानिकारक माना गया है? यह भी वर्णित है।

आचार्य मलयगिरि ने कहा है कि वर्तुल, समचतुरस्र, स्थिर, दीर्घकालस्थायी और स्निग्धवर्णी – इन गुणों से युक्त तथा ज्ञान आदि गुणों का वहन करने वाला पात्र सलक्षणवान होता है। विषम संस्थान वाला, निष्पत्तिकाल से पूर्व सूखने वाला, झुर्री युक्त, छिद्र तथा दरार से युक्त पात्र लक्षणहीन होता है। जैन भिक्षु के लिए लक्षणहीन पात्र अग्राह्य माना गया है।[12]

लक्षणयुक्त पात्र के लाभ बताते हुए कहा गया है कि वृत्त और समचतुरस्र पात्र धारण करने पर विपुल भक्तपान आदि का लाभ होता है। स्थिर पात्र ग्रहण करने पर चारित्र, गण आदि में स्थिरता होती है। व्रणरहित पात्र से कीर्ति और आरोग्य की प्राप्ति होती है तथा स्निग्धवर्णयुक्त पात्र से ज्ञान संपदा बढ़ती है। लक्षणहीन पात्र के दोष बताते हुए कहा गया है कि विषम संस्थान वाला पात्र चारित्र का भेद करता है। विचित्र वर्ण वाला पात्र चित्त में विक्षिप्तता पैदा करता

है। छिद्र युक्त पात्र ग्रहण करने से गण और चारित्र में स्थिरता नहीं रहती है। सव्रण पात्र को धारण करने वाला मुनि व्रणों से युक्त होता है तथा भीतर एवं बाहर से जला हुआ पात्र मरण का संकेत करता है। अतएव मुनि को लक्षणयुक्त पात्र रखने चाहिए तथा पात्र की खोज करने वाला मुनि उस विषय का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। इस विवेचन से यह विदित होता है कि मुनि को छिद्र वाले, दरार वाले, विषम आकार वाले पात्र निष्कारण नहीं रखने चाहिए।[13]

यदि पात्र खण्डित हो जाये तो उस पर कितने लेप कितनी बार लगाये जा सकते हैं, इसका भी विधान है। लेप युक्त पात्र की अवधि पूर्ण हो जाने के बाद उसका उपयोग नहीं करने का भी निर्देश है। इसी के साथ खण्डित एवं अलेपकृत पात्र के ग्रहण नहीं करने का भी उल्लेख है, क्योंकि अलेपकृत पात्र अत्यन्त विरस होता है। उसमें आहार करने से वमन, व्याधि अथवा भोजन के प्रति अरुचि पैदा हो जाती है। लोग भिक्षा देते समय दुर्गन्धित पात्र को देखकर मुनियों की और प्रवचन की गर्हा कर सकते हैं।[14]

## पात्र ग्रहण एवं पात्र धारण सम्बन्धी नियम

आचारांगसूत्र के अनुसार जैन साधु-साध्वियों को निम्न स्थितियों में पात्र ग्रहण नहीं करना चाहिए–[15]

1. यदि गृहस्थ साधु को काल मर्यादा में बाँधकर महीने भर बाद, दस-पाँच दिन बाद, कल-परसों या थोड़ी देर बाद आने का अनुनय करे।
2. पात्र को तेल, घृत आदि स्निग्ध पदार्थों से चुपड़ने के बाद देने का निवेदन करे।
3. पात्र पर सुगन्धित पदार्थ रगड़ कर देने को कहे।
4. पात्र को शीतल या उष्ण जल से धोकर दे।
5. पात्र में रखे हुए कंद आदि अलग निकाल कर उसे साफ करके प्रदान करे।
6. आहार-पानी तैयार करके, उसे पात्र में भर कर देने की इच्छा करे तो उक्त सब परिस्थितियों में दिया जाने वाला पात्र अकल्पनीय होता है।

पात्र ग्रहण एवं पात्र प्रयोग से सम्बन्धित निम्नोक्त नियम भी मननीय हैं–[16]

1. मकड़ी के जालों से युक्त पात्र को ग्रहण न करें।

2. अस्थिर, अध्रुव और अधारणीय यानी पात्र के अधोभाग का पैंदा अस्थिर हो तो उसे ग्रहण न करें।
3. पात्र स्थिर, ध्रुव और धारणीय होते हुए भी दाता द्वारा रुचिपूर्वक न दिया जाए तो उसे ग्रहण न करें।
4. पात्र को सुन्दर बनाने के लिए सुगन्धित द्रव्यों से नहीं घिसें।
5. पात्र को सुन्दर बनाने के उद्देश्य से उसे प्रासुक ठण्डे या उष्ण जल से नहीं धोयें।
6. पात्र को सचित्त, स्निग्ध पृथ्वी (भूमि) पर नहीं सुखायें।
7. पात्र को गृहद्वार, ऊखल, स्नानपीठ या ऊँचे चलाचल स्थान पर नहीं सुखायें।
8. पात्र को एकान्त में ले जाकर निर्दोष भूमि पर यतनापूर्वक सुखायें।

उक्त वर्णन का निष्कर्ष यह है कि जैन साधु-साध्वियों के लिए पात्र रंगने एवं पात्रादि पर मीनाकारी करने का सर्वथा निषेध किया गया है, क्योंकि यह कार्य आचार और आगम दोनों के विरुद्ध है। अत: जो भिक्षु पात्रैषणा सम्बन्धी विवेक को अपनाता है वह चारित्र धर्म की समग्रता को प्राप्त करता है।

## पात्र रंगने की विधि

यह उल्लेख्य है कि जैन धर्म के मूल आगमों में पात्र रंगने सम्बन्धी किसी प्रकार का कोई संकेत नहीं है। किन्तु आगमिक व्याख्या साहित्य में तद्विषयक उल्लेख उपलब्ध होता है। ओघनिर्युक्तिकार की मान्यतानुसार पात्र लेप की विधि निम्नोक्त है–[17]

**लेप ग्रहण विधि–** लेप (रंगने) योग्य पात्र दो तरह के होते हैं–नये और पुराने। दोनों तरह के पात्र गुरु की अनुमति से रंगें तथा पात्र रंगने का कार्य प्रात:काल में करें ताकि जल्दी सूख जाये।

सर्वप्रथम पात्र लेप का इच्छुक साधु उस दिन उपवास तप करें, कारण कि पात्र की जरूरत न होने से रंगने का कार्य अच्छी तरह से किया जा सके। यदि उपवास की शक्ति न हो तो सुबह ही आहार कर लें। यदि सुबह आहार न मिले तो अन्य साधु लाकर दें और वे आहार करें। उसके बाद गुरु से रंग लाने हेतु अनुमति माँगें। गुरु द्वारा अनुमति प्राप्त होने के बाद गुरु एवं सभी साधुओं से रंग की जरूरत के बारे में पूछें। वे अपनी आवश्यकता के अनुसार जितना कहें

उतने परिमाण में लाएं। फिर उपयोग विधि करें। इसमें एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग कर प्रकट में एक नमस्कारमन्त्र बोलें। फिर पात्र आदि की खोज करने में स्वयं निपुण हों तो रंग लेने के लिए दो सकोरे और लेप के लिए रूई गृहस्थ के घर से प्राप्त करें। यदि सामग्री प्राप्त करने में स्वयं अनुभवी न हों तो अन्य गीतार्थ साधु लाकर दें। फिर सकोरे में राख भर कर उसे एक वस्त्र खण्ड से ढँक दें ताकि त्रस जीव चढ़ न सकें और मृत्यु को भी प्राप्त न हो सकें। इस तरह लेप की सब सामग्री एकत्रित करें।

उसके पश्चात जिस बैलगाड़ी से लेप (पहिये का मैल) प्राप्त करना हो उसके मालिक की आज्ञा प्राप्त करें। शय्यातर की गाड़ी का भी लेप ले सकते हैं। कड़वा-मीठा लेप जानने के लिए नाक से सूंघकर उसका निर्णय करें। कड़वा तेल हों तो ग्रहण न करें, क्योंकि कड़वे तेल का लेप पात्र के ऊपर नहीं टिकता है। मीठा तेल हो तो ग्रहण करें। इसी तरह गाड़ी में भी हरी वनस्पति या सचित्त बीज आदि न हों, उड़ने वाले जीव न हों, महावायु न हो अथवा आकाश में से कुहरा न गिरता हो तभी लेप ग्रहण करें, नहीं तो संघट्टा एवं जीव विराधना आदि का दोष लगता है।

इस तरह उचित स्थान से विधिपूर्वक लेप ग्रहण कर उसको वस्त्र खण्ड से आच्छादित करें। फिर उसके ऊपर रूई रखें, रूई के ऊपर भस्म डालकर वस्त्र से उस संपुट को बाँध दें। तदनन्तर गुरु के समीप पहुँचकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर लेप किस विधिक्रम से लाया गया, गुरु के समक्ष उसका निवेदन करें।

पात्र लेप की विधि इस प्रकार है–[18]

**पात्र लेप विधि–** सर्वप्रथम लेप करने के लिए पोटली बनायें। पोटली बनाने के लिए पात्र को उल्टा करें, फिर उसके ऊपर एक वस्त्र खण्ड बिछायें, उस पर रूई का स्तर बिछाकर उसमें लेप डालें, फिर उसे पोटली की तरह अंगुष्ठ, मध्यमा और तर्जनी इन तीन अंगुलियों से पकड़ें। इस तरह पकड़ी हुई पोटली के वस्त्र खण्ड से निकलते हुए रस के द्वारा पात्र का लेप करें। लेप करते समय एक, दो या तीन पात्रों की लिपाई करें, फिर अंगुलियों से घिसते हुए पात्र को मुलायम करें। उसमें भी एक पात्र को गोद में रखकर दूसरे को अंगुली से घिसें। इस तरह अनुक्रम से एक-एक पात्र को अंगुली से घिसते जायें और घिसे हुए पात्रों को गोद में रखते जायें। यदि एक पात्र का उत्कृष्ट लेप किया गया हो

और वह सूख जाये तो उसी दिन उसमें पानी ला सकते हैं। पात्र रंगने की यह विधि उस दिन उपवासकर्ता मुनि के लिए कही गई है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि लेपकर्ता मुनि उपवासी होने पर भी रुग्णादि साधुओं का वैयावृत्य करने वाला हो और उसका रंगा हुआ पात्र सूखा नहीं हो अथवा स्वयं उपवास करने में अशक्त हो तब क्या करना चाहिये? इसके समाधान में कहा गया है कि अन्य उपवासी साधु हों तो उन्हें अथवा गोचरी के लिए नहीं जाने वाले साधु को लेप किये हुए पात्र सौंप दें, फिर जिस पात्र का लेप न किया हो वह पात्र लेकर गोचरी जायें। यदि इस तरह उसके पात्र को संभाल कर रखने वाला दूसरा साधु न हो तो 1. रंग किया गया पात्र 2. आहार लेने योग्य पात्र और 3. मात्रक पात्र इन तीनों पात्रों को साथ में लेकर जायें। यदि इसमें भी समर्थ न हों तो जहाँ चींटी आदि का उपद्रव न हो ऐसे निर्जन स्थान पर लेपकृत पात्र, लेपयुक्त पोटली, रूई एवं संपुट सकोरा आदि को अन्य भस्म से मिश्रित कर रख दें, फिर गोचरी के लिए जायें। उसके लिए पानी अन्य साधु ले आएं।

**पात्र परिकर्म विधि**–लेपकृत पात्र को सुदृढ़ करने एवं तपाने की यह विधि है–सर्वप्रथम लेपकृत पात्र को गोबर चूर्ण से पोतें, फिर उसे झोली सहित रजस्त्राण में लपेटकर बिना गाँठ लगाये खण्डित घड़े के कांठे आदि के ऊपर तपाने के लिए रखें, जैसे-जैसे धूप फिरती जाये वैसे-वैसे पात्र को बदलते हुए धूप देते जायें। रात्रि में पात्र को स्वयं के समीप रखें। अपरिग्रह महाव्रत दूषित न हो, एतदर्थ उस दिन उपयोग किये गए घड़े के कांठे आदि का परित्याग कर दें। शेष बचे लेप का उस पात्र के लिए या अन्य पात्र के लिए उपयोग करना हो तो हाथ से मसलकर जोड़ रूप में लगा दें और यदि आवश्यकता नहीं हो तो उसे राख में मिलाकर विसर्जित कर दें। इस तरह जघन्य से एक बार और उत्कृष्ट से पाँच बार किया जा सकता है।

पात्र को ताप देने की विधि में यह ध्यान रखना चाहिए कि शीतकाल के प्रथम प्रहर और अन्तिम प्रहर में तथा उष्णकाल के प्रथम प्रहर के पूर्वार्द्ध और अन्तिम प्रहर के उत्तरार्द्ध भाग में पात्र को ताप में न दें, क्योंकि वह काल स्निग्ध हवा युक्त होने से लेप नाश का भय रहता है। वर्षा एवं कुत्ते आदि से रक्षण-करने के लिए सूखते हुए पात्र को बार-बार देखते रहें अथवा स्वयं बीमार हों या वृद्ध

आदि साधुओं के कार्य में व्यस्त हों तो अन्य साधु को उन पात्रों की सार-संभाल करने का अनुरोध करें।

दूसरा लेप 'तज्जात' नाम का बतलाया गया है। **'तत्र जात इति तज्जातः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार गृहस्थ के तेल भरने के बरतन के ऊपर चिकनाई में गाढ़ापन आ गया हो तो उस मैल को 'तज्जात' लेप कहा गया है। इस लेप से पात्र पर लिपाई करना, फिर अंगुलियों से घिसकर उसे कोमल बनाना, फिर कांजी–चावल के मांड से धोना इसकी यह विधि है।

तीसरे लेप का नाम 'युक्ति जात' है। **'योजनं युक्ति'** इस व्युत्पत्ति से यह लेप पत्थर आदि के टुकड़े को पीसकर एवं उसमें तेल आदि मिलाकर बनाया जाता है। इस लेप का संग्रह करना पड़ता है, इसलिए इस लेप का निषेध किया गया है।

**खण्डित पात्र का बंधन**–जो पात्र टूट गये हों, उन्हें जोड़ने की पद्धति भी तीन प्रकार की होती है– 1. मुद्रिका बंध 2. नावाबंध और 3. चोर बन्ध। टूटे-फूटे पात्र के दोनों तरफ अर्थात आमने-सामने छिद्र करके उसमें धागा डालकर, दोनों छोरों की गाँठ बाँधना 'मुद्रिका बंध' है।

नावाबंध दो तरह का होता है। धागे को गोमूत्रिका के आकार से डालकर गांठ लगाना अथवा धागे को चोकड़ी के आकार से डालकर गांठ लगाना 'नावाबंध' है। जोड़ने योग्य धागे को गुप्त रखना 'चोर बन्ध' है। चोरबन्ध से पात्र के जर्जरित होने का भय रहता है, इसलिए इसका निषेध किया गया है।

लेप उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार का होता है। तिल के तेल का लेप उत्कृष्ट, अलसी के तेल का लेप मध्यम और सरसों के तेल का बनाया गया लेप जघन्य कहलाता है।

**निष्पत्ति**–प्राचीन सामाचारी के अनुसार पात्र लेप तीन प्रकार से किया जाता है। उक्त त्रिविध लेप निर्दोष, प्रासुक, एषणीय और सर्वत्र सुलभ होते हैं अतएव शास्त्र विहित हैं। इनमें से तीसरा लेप एवं तीसरा बंध कारण विशेष से वर्जित भी माना गया है। वर्तमान सामाचारी के अनुसार देखा जाये तो पात्र लेप के ये तीनों प्रकार प्रचलन में नहीं हैं। आजकल बाजार में उपलब्ध रंग के डिब्बों का लेप किया जाता है जो निश्चित रूप से अशुद्ध, अप्रासुक और अनैषणीय हैं और प्रायः साधु के निमित्त खरीदकर मंगवाया जाता है। ध्यातव्य है कि

प्राचीनकाल में पात्र पर एक प्रकार का ही लेप किया जाता था, यही आगम सम्मत विधि है। परन्तु वर्तमान में वार्निश, सफेद, काला, लाल आदि तीन-चार तरह के लेप किये जाते हैं, जो निश्चित रूप से जिनाज्ञा विरुद्ध है।

## विविध सन्दर्भों में पात्र रखने की उपयोगिता

जैन परम्परा में मुनियों के द्वारा पात्र रखने का जो विधान है, वह मुनि जीवन एवं सामाजिक जीवन में क्या प्रभाव डालता है, यह विचारणीय है? यद्यपि मुनि को करपात्री होना चाहिए और हाथ में प्राप्त भोजन ही करना चाहिए। परन्तु वर्तमान में सामूहिक जीवन की दृष्टि से पात्र रखना आवश्यक प्रतीत होता है। मुनि भिन्न-भिन्न घरों में आहार गवेषणा करते हुए की भ्रमण करते हैं। गृहस्थ को इसका ज्ञान होने से वह मुनि को निर्दोष आहार दे सकता है।

प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में यदि पात्र ग्रहण की उपयोगिता पर दृष्टिपात करें तो इससे आहार प्रबन्धन, समय प्रबन्धन आदि में विशेष सहयोग प्राप्त हो सकता है। पात्रधारी मुनि समूहगत आहार का प्रबन्धन कर सकता है। सबकी आवश्यकतानुसार उन्हें प्रासुक आहार लाकर दे सकता है तथा अन्य मुनि सामूहिक सामाजिक कार्यों में या आत्म-साधना में संलग्न रह सकते हैं। इससे सभी को अपना समय गवेषणा में नहीं देना पड़ता है और बाल-ग्लान-वृद्ध-तपस्वी आदि असक्षम मुनियों को भी उचित आहार प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार पात्र के कारण समूह प्रबन्धन, आहार प्रबन्धन एवं समय प्रबन्धन में सहयोग प्राप्त होता है।

यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस विधि की उपयुज्यता पर चिन्तन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि बढ़ते प्रदूषण के कारण अनावृत्त भोजन सामग्री दूषित हो जाती है, किन्तु पात्र के कारण उससे बच सकते हैं। इससे अनेक रोगों से भी बचाव हो सकता है। पात्र के माध्यम से किसी भी पदार्थ की मात्रा ज्ञात हो जाती है, जिससे अति आहार या न्यून आहार से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ कम होती हैं। आज सेवा के भाव घटते जा रहे हैं। पात्र धारण करने से उन भावों में वृद्धि हो सकती है। पात्र में आहार करने से भोजन नीचे नहीं गिरता, जिससे आहार के अपव्यय एवं जीवोत्पत्ति दोनों का समाधान हो सकता है। काष्ठ पात्र में गृहीत भोजन विकृत नहीं होता तथा ग्लान आदि के लिए लाया गया दूध आदि गरम रहता है। साथ ही काष्ठ पात्र धूप आदि में या उष्ण पदार्थ से उष्ण

नहीं होते, अत: गोचरी लाने वाले मुनि को सुविधा रहती है। पात्र होने पर संघकार्यरत पदस्थ आचार्य आदि की सेवा भी सम्यक रूप से की जा सकती है।

## उपसंहार

जैन सिद्धान्त में जैसे अचेलक और सचेलक दोनों प्रकार की साधनाएँ मान्य हैं उसी प्रकार पात्रसहित और पात्ररहित (कर-पात्र) साधनाएं भी विहित और मान्य हैं। साधक अपनी क्षमता के अनुसार किसी भी प्रकार की साधना को अपना सकता है। पात्र न रखना भी संयम के लिए है और पात्र रखना भी संयम के लिए है। समान उद्देश्य होने से दोनों प्रकार की साधनाएँ अविरुद्ध हैं।

जब आहार ग्रहण करने की अनुज्ञा दी गई है तो आहार लेने के लिए पात्र की अनुज्ञा स्वयमेव सिद्ध होती है। जिनकल्प और स्थविर कल्प वाले साधकों के लिए पात्र को उपधि (उपकरण) के रूप में बताया गया है। जो उपकरण संयम में साधक होते हैं, वे परिग्रह रूप नहीं होते हैं। ममत्व भाव को परिग्रह कहा गया है। अतएव पात्र रखते हुए भी साधक अपरिग्रही और निर्ग्रन्थ होता है। यदि पात्रों का ग्रहण निर्ममत्व भाव से किया जाए तो यह भी आत्मसाधना का एक प्रमुख अंग बनता है।

जैन मुनि को कितने पात्र रखने चाहिए? पात्र की शुद्धि-अशुद्धि का ज्ञान किस प्रकार करना चाहिए? पात्र को कब रंगना चाहिए? पात्र कहाँ सुखाने चाहिए? आदि का स्पष्ट वर्णन आचारांगसूत्र, निशीथसूत्र, व्यवहारसूत्र एवं बृहत्कल्पसूत्र में उपलब्ध होता है। आचारांगसूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन का नाम 'पात्रैषणा' है। इसमें पात्र ग्रहण विधि और पात्र धारण विधि का शास्त्रीय निरूपण है। इन ग्रन्थों के सिवाय यह चर्चा अन्य ग्रन्थों में लगभग नहीं है।

यदि परम्परा की दृष्टि से पुनर्विचार किया जाये तो श्वेताम्बर मुनि पात्र रखते हैं, दिगम्बर मुनि पात्र नहीं रखते हैं। सार्वजनिक रूप से तीन प्रकार के पात्र रखने का विधान किया गया है। वैदिक परम्परा में भी जैन सिद्धान्त की भाँति मिट्टी, लकड़ी या तुम्बी का पात्र रखने का ही निर्देश है और ये पात्र भी दो या तीन की संख्या में ही रखे जाने चाहिए। छिद्र वाले पात्र रखने का निषेध किया गया है।

मनु के अनुसार संन्यासी को अपने पास कुछ भी एकत्रित करके नहीं रखना चाहिए। उसके पास जीर्ण-शीर्ण परिधान, जलपात्र एवं भिक्षापात्र होना

चाहिए, किसी भी दशा में उसे धातु का पात्र प्रयोग में नहीं लेना चाहिए। उसे अपना जल पात्र या भोजन पात्र जल से या गाय के बालों से घर्षण करके स्वच्छ रखना चाहिए।

बौद्ध परम्परा में भी सुवर्ण, रौप्य, मणि, कांस्य, स्फटिक, कांच, तांबा आदि के पात्र रखने का स्पष्ट निषेध है। विनयपिटक में लोहे के और मिट्टी के ऐसे दो तरह के पात्र रखने की अनुमति दी गई है। इससे ज्ञात होता है कि जैन धर्म एवं हिन्दू धर्म में पात्र विषयक नियमों को लेकर मूल रूप से साम्यता है।

वर्तमान स्थिति पर नजर डालें तो पात्र गवेषणा की मूल विधि लगभग विस्मृत हो चुकी है, पात्र संख्या की मर्यादा का उल्लंघन हो रहा है, जो जितने चाहे पात्र रख सकते हैं। दूसरे, पात्र संख्या में वृद्धि होने के कारण इसकी निर्माण प्रक्रिया में भी परिवर्तन आया है। संभवत: औद्योगिक स्तर पर इनका निर्माण होना शुरू हो गया है जो साध्वाचार के सर्वथा विरुद्ध है।

## सन्दर्भ-सूची


1. *आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/6/1/588*
2. *वही, 2/6/1/591*
3. *वही, 2/6/1/588, 592*
4. *आचारांगवृत्ति, पत्र 399*
5. *(क) जे णिग्गंथे तरुणे बलवं जुवाणे एगं पायं धारेज्जाणो बितिय।*

   *निशीथसूत्र, उ. 13, पृ. 441*

   *(ख) जे भिक्खू तरूणे जुगवं बलवं से एगं पायं धारेज्जा।*

   *बृहत्कल्पसूत्र, पृ. 1109*
6. *बृहत्कल्पसूत्र, 1/18*
7. *वही, 5/30*
8. *आचारांग मूल तथा वृत्ति, पत्रांक 399 के आधार पर*
9. *निशीथसूत्र, संपा. अमरमुनि, 11/1*
10. *आचारांगसूत्र, 2/6/1/589*
11. *वही, 2/6/1/590-591*
12. *बृहत्कल्पभाष्य, 4022 वृत्ति*
13. *वही, 4023-4025*

14. वही, 477
15. आचारांगसूत्र, 2/6/1/590-591
16. वही, पृ. 272
17. दुविहा य होंति पाया, जुन्ना य नवाय जे उ लिप्पंति।
जुन्ने दाएऊणं, लिंपइ पुच्छा य इयरेसिं।।
पुव्वण्ह लेवदाणं, लेवग्गहणं सुसंवरं काउं।
लेवस्स आणणा लिंपणे, जयणा विही वोच्छं।।
(क) ओघनिर्युक्ति, 377-379
(ख) धर्मसंग्रह, 3/159-160
18. तज्जाय जुत्ति लेवो, खंजण लेवो य होइ बोधव्वो।
मुद्दियनावाबंधो, तेणय बंधेण पडिकुड्ठो।।
(क) ओघनिर्युक्ति, 402
(ख) धर्मसंग्रह, 3, पृ. 160-162

●

## अध्याय-9

# वसति (आवास) सम्बन्धी विधि-नियम

जिस प्रकार जीवन निर्वाह हेतु आहार आवश्यक है, उसी प्रकार श्रान्त शरीर को विश्राम देने के लिए एवं धार्मिक आराधना आदि के उद्देश्य से स्थान की भी आवश्यकता होती है। इस जीवन निर्वाह में वसति भी एक आवश्यक अंग है। जैसे साधु के लिए पिण्ड शुद्धि का ध्यान रखना जरूरी है, वैसे ही स्थान की विशुद्धि भी उसके लिए अनिवार्य है। अतएव वसति शोधन जैन मुनि का एक आवश्यक आचार है।

जैन मनीषियों का अनुभव कहता है कि सदाचार के सम्पर्क से सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि बढ़ती है तथा कुत्सित आचार वालों के सम्पर्क से सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे कमल आदि के संसर्ग से घड़े का जल सुगन्धमय और शीतल हो जाता है तथा अग्नि आदि के संयोग से उष्ण और विरस हो जाता है। इसी तरह शुद्ध एवं अशुद्ध वसति का असर भी पड़ता है। अत: उचित वसति में रहने का अत्यधिक मूल्य है।[1]

यह सर्वविदित है कि जैन श्रमण किसी नियत स्थान में नहीं ठहरता और उसके आधिपत्य में कोई मठ या उसका अपना कोई स्थान नहीं होता। गृहस्थ स्वयं के लिए जो आवास आदि बनाते हैं, उनमें से ही मुनिवर्ग अपने लिए स्थान की याचना करता है। अपनी कल्प मर्यादा के अनुसार याचित स्थान पर कुछ समय रुककर वह अन्यत्र चल देता है। इसलिए साधु का कोई नियत उपाश्रय भी नहीं होता। प्राचीनकाल में साधु-साध्वी थोड़े समय के लिए गृहस्थ की आज्ञा से जहाँ रुकते थे, वह स्थान 'उपाश्रय' नाम से जाना जाता था। जब श्रमण वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले जाते तो वह पूर्वोक्त स्थान 'उपाश्रय' नहीं कहलाता था। वर्तमान में गृहस्थजनों द्वारा निर्मित आराधना भवन, जैन भवन या पौषध शालाएँ आदि उपाश्रय या धर्मस्थानक कहे जाते हैं। इन धर्मस्थानकों में साधु-साध्वी गृहस्थों की आज्ञा प्राप्त कर कल्पानुसार ठहरते हैं। पूर्वकाल में

गवेषणापूर्वक वसति (आवास स्थान) की याचना की जाती थी। आज भी ग्रामीण इलाकों एवं पूर्वांचल आदि कुछ प्रदेशों में पदयात्रा के दौरान वसति गवेषणा करनी पड़ती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वसति सम्बन्धी विधि-नियम सार्वकालिक हैं।[2]

## वसति शब्द का प्रचलित अर्थ

वसति जैन आचार का बहु परिचित शब्द है। जैनागमों में साधु-साध्वी के रहने योग्य स्थान को 'वसति' शब्द से अभिहित किया गया है। वसति का सामान्य अर्थ है– रहने योग्य स्थान। घर, निवास, आवास आदि भी वसति के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।[3]

## मुनियों के लिए कौनसे स्थान वर्जित और क्यों?

जैन साधु-साध्वियों के लिए रहने योग्य स्थान कैसा हो और उन्हें किस प्रकार के स्थानों का वर्जन करना चाहिए? इस सम्बन्ध में आगमकारों ने सम्यक् प्रकाश डाला है। आचारांगसूत्र के अनुसार यह वर्णन निम्न प्रकार है–[4]

### 1. जीव-जन्तुओं से युक्त स्थान

जैन श्रमण का आवास स्थल क्षुद्र जीव-जन्तुओं से रहित होना चाहिए यानी जो स्थान अण्डों से युक्त हो, सचित्त मिट्टी, सचित्त पानी, लीलन-फूलन, मकड़ी आदि के जालों से युक्त हो, ऐसे जीव-संकुल स्थान में साधु-साध्वी को नहीं ठहरना चाहिए।

**हानि**– जैन साधक पूर्ण अहिंसा का पालक और आराधक होता है। जीव-संकुल स्थान में ठहरने से क्षुद्र जीवों की हिंसा की संभावना रहती है, अतएव ऐसे स्थानों को वर्जनीय माना गया है।

### 2. आधाकर्मी आदि उद्गम-दोषों से युक्त स्थान

जो स्थान किसी मुनि के लिए विशेष तौर से बनाया गया हो, खरीदा गया हो, उधार लिया गया हो, बलात किसी से छीना गया हो, साझेदारों द्वारा सर्वानुमति से दिया गया न हो, तम्बू आदि अन्य स्थान से लाकर खड़ा किया गया हो, ऐसे आधाकर्मी स्थान का साधु-साध्वी उपयोग न करें अर्थात जैन श्रमण का आवास स्थल उक्त आधाकर्मादि दूषण से रहित होना चाहिए।[5]

**हानि** – जो आवास साधु के उद्देश्य से तैयार किया जाता है और उसके

निर्माण में जो आरम्भ-समारम्भ होता है, उसके दोष का भागी वह साधु भी होता है। यह अर्हत वचन है कि साधु-साध्वी के निमित्त बनाये गये या खरीदे गये आवासों में उन्हें नहीं रुकना चाहिए।

### 3. औद्देशिक दोषों से युक्त स्थान

जो स्थान बहुत से श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण एवं याचकों के उद्देश्य से बनाया गया हो, खरीदा गया हो अथवा पूर्वोक्त अन्य दोषों से दूषित हो, वह औद्देशिक कहलाता है। साधु-साध्वी का स्थान औद्देशिक दोष से भी रहित होना चाहिए। यदि इस प्रकार का स्थान पुरुषांतरकृत (अन्य व्यक्ति को सौंप दिया गया) हो या अपुरुषांतरकृत हो, सेवित (उपयोग में लिया गया) हो या अनासेवित हो, वहाँ साधु-साध्वियों को रहने का निषेध है।

**हानि**– श्रमण-ब्राह्मणों आदि को गिन-गिन कर उनके लिए जो भवन या स्थान बनाये जाते हैं, वे विशेष रूप से औद्देशिक (आरम्भ-समारंभ से युक्त) होते हैं। अत: उनमें ठहरने से जीव हिंसा का दोष लगता है।

### 4. संस्कारित दोषों से युक्त स्थान

जो स्थान या आवास साधु-साध्वी के लिए संस्कारित किया गया हो अथवा साधु-साध्वी के उद्देश्य से निर्मित आवास की मरम्मत की गई हो, उसे चारों ओर से काष्ठ से या चटाइयों से आच्छादित किया गया हो, खम्भों पर बांसों को तिरछा बांधा गया हो, घास-दर्भ आदि से ऊपर का भाग आच्छादित किया गया हो, आंगन को गोबर से लीपा गया हो, संवारा गया हो, घिसा गया हो, घिस-घिस कर उसे चिकना बनाया गया हो, ऊबड़-खाबड़ भाग को समतल किया गया हो, दुर्गन्ध मिटाने के लिए धूप आदि से उसे सुगन्धित किया गया हो ऐसा स्थान संस्कारित कहलाता है। यदि संस्कारित स्थान पुरुषान्तरकृत (अन्य व्यक्ति को सौंप दिया गया) हो या उस स्थान का किसी अन्य के द्वारा उपयोग किया जा रहा हो तो साधु-साध्वी को वहाँ रहना कल्पता है। अन्यथा ऐसे स्थान भी वर्जनीय होते हैं।[6]

**हानि**– किसी भी स्थान को उक्त प्रकार से संस्कारित करने पर आरंभ, समारंभ, जीवहिंसा, अजयणा, अप्कायादि जीवों की विराधना आदि अनेक दोष लगते हैं। यदि साधु अपने लिए संस्कारित किये गये स्थान पर रहता है तो वह उन सभी दोषों का भागीदार होता है।

## 5. अधिक ऊँचाई वाले स्थान

यहाँ ऊँचाई से तात्पर्य एक स्तम्भ पर बना हुआ मचान या दूसरी मंजिल पर बना हुआ वह स्थान है, जिस पर निसरणी से चढ़ना पड़े अथवा जो स्थान विषम या दुर्बद्ध हो तथा जिस पर चढ़ने में कठिनाई हो सकती है और अन्धेरे में नीचे उतरे तो पाँव फिसलने या गिरने की स्थिति में आत्म विराधना और संयम विराधना की स्थिति आ सकती है। प्राचीन काल में अधिकांश कच्चे मकान ही हुआ करते थे और साधु-साध्वी उन्हीं में ठहरना उचित समझते थे, क्योंकि उनमें ठहरने से पाँच समितियों का पालन समुचित रूप से और सुविधा से हो सकता था। अतएव ऊँचे स्थानों में रहने का निषेध किया गया है परन्तु विशेष कारणों को दृष्टिगत रखते हुए उस प्रकार के उपाश्रय की अनुज्ञा भी दी गई है। जो स्थान सम हों, सरल हों, सुबद्ध हों, जहाँ से गिरने की सम्भावना न हों, जहाँ चढ़ने-उतरने में कठिनाई न हों, ऐसे ऊँचे स्थानों में ठहरने का निषेध नहीं है।[7]

वर्तमान युग के साधु-साध्वियों की शिथिल मनःस्थिति को देखते हुए ऊँचे स्थानों पर न रुकने का नियम अधिक प्रासंगिक लगता है। प्राचीनकाल का साधु वर्ग किसी भी स्थिति में गृहस्थ के शौचालयों का उपयोग नहीं करता था और न ही सम्मुख लाये हुए आहारादि को ग्रहण करता था। अतएव संयमी जीवन के आचारों का एवं समितियों का पालन सुविधा से हो सके, इस दृष्टि से साधु-साध्वी को यथासम्भव बहुत ऊँचे मकानों में रुकने हेतु गवेषणा नहीं करनी चाहिए।

कदाचित ऊँचे स्थान वाले उपाश्रय में रुकना पड़े तो निम्न नियमों का पालन करते हुए ठहरें–1. वहाँ गवाक्ष या बरामदे में खड़े होकर हाथ-पाँव, मुख-दाँत आदि शरीर के अवयवों को अचित्त जल से भी न धोयें। 2. गवाक्ष आदि से शरीर के किसी भी प्रकार के मैल को, जैसे नासिका का मैल या श्लेष्म, वमन या पित्त, ऊपर से नीचे न फेंकें।

**हानि–** अशुचि पदार्थों को ऊपर से नीचे गिराने पर संयम का घात तो होता ही है इससे शिष्टाचार का खण्डन भी होता है तथा मार्ग में चलते हुए व्यक्तियों पर छींटे पड़ने की सम्भावना भी रहती है, जिससे कई प्रकार की समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त असावधानी हो या शरीर अस्वस्थ

हो तो स्वयं के गिरने की सम्भावना भी रहती है अत: आत्म विराधना और संयम विराधना से बचने के लिए ऊँचे स्थानों पर नहीं ठहरना चाहिए।

## 6. स्त्री, पशु आदि से संसक्त स्थान

बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार जो वसति या स्थान बालक एवं पशु से युक्त हों, जिसमें गृहस्थ निवास करते हों, जिनका रास्ता गृहस्थ के घर में से होकर जाता हो एवं चित्र युक्त हो, उसमें मुनि के लिए निवास करना वर्जित है। साध्वी के लिए सामान्यतया वे स्थान जहाँ पुरुष रहते हों, जिनके आस-पास दुकाने हों, जो गली के एक किनारे पर हों तथा जिनमें द्वार नहीं हो, अकल्प्य माने गये हैं।[8]

आचारांगसूत्र में आठ प्रकार के वसति स्थानों में भी रहने का निषेध किया गया है–1. स्त्री संसक्त स्थान 2. बालकों से संसक्त स्थान 3. तुच्छ प्रकृति वाले नपुंसकादि से संसक्त स्थान 4. दुष्ट प्रकृति वाले लोगों से संसक्त स्थान 5. श्वापदों से संसक्त स्थान 6. पशु संसक्त स्थान 7. गृहस्थ परिवार से संसक्त स्थान और 8. पशु या गृहस्थ की खाद्य सामग्री से संसक्त स्थान।[9]

**हानि**–स्त्री-पशु आदि से संसक्त स्थानों में रहने का निषेध निम्न कारणों को लेकर किया गया है–

1. **स्त्री संसक्त**– ऐसे स्थान में रहने से ब्रह्मचारी साधु के ब्रह्मचर्य में शंका-कांक्षा और विचिकित्सा हो सकती है तथा उसके ब्रह्मचर्य का खण्डन भी हो सकता है। इस सम्भावित खतरे से बचने हेतु साधु को स्त्री-संसक्त स्थान में और साध्वी को पुरुष संसक्त स्थान में निवास नहीं करना चाहिये।

2. **बालक संसक्त**– ऐसे स्थान में रहने से साधु को अपनी पूर्वावस्था के बच्चों और स्त्री आदि की स्मृति जागृत हो सकती है, मोह पैदा हो सकता है। यदि बच्चों की माताएं बच्चों को साधु के पास छोड़कर पूजन आदि के लिए चली जायें तो भी दोष लगता है, क्योंकि इससे साधु के स्वाध्याय-ध्यान आदि में बाधा उपस्थित होती है।

3. **नपुंसक संसक्त**–ऐसे स्थान में रहने से ब्रह्मचर्य दूषित होने की शंका रहती है।

4. **दुष्ट प्रकृति के लोगों से संसक्त**–ऐसे स्थान में रहने से साधु की मानसिक शान्ति खण्डित होने की संभावना रहती है। छिद्रान्वेषी, द्वेषी, दुष्ट स्वभावी लोग साधु का उपहास कर सकते हैं तथा उसे परेशान और बदनाम भी कर सकते हैं।

5. **श्वापद संसक्त**–सिंह, व्याघ्र आदि से युक्त स्थान में रहने पर सदैव व्याकुलता बनी रहती है, जिससे अभय की साधना नहीं हो सकती।

6. **पशु संसक्त**–गाय, भैंस, बैल आदि पशुओं से युक्त स्थान में रहने पर अनेक प्रकार की झंझटें खड़ी हो सकती हैं। अपरिचित वेश को देखकर पशु भड़क सकते हैं, बिदक सकते हैं, सींग आदि से साधु को चोट पहुँचा सकते हैं। यदि अविवेकी पुरुष पशुओं को भूखा-प्यासा रखे, समय पर चारा-पानी न दे या उन्हें मारे-पीटे तो ऐसी स्थिति में साधु के मन में गृहस्थ के प्रति आक्रोश या रोष पैदा हो सकता है। पशुओं की काम क्रीड़ा देखने से ब्रह्मचर्य में हानि हो सकती है।

7. **गृहस्थ या पशु की खाद्य सामग्री से संसक्त**–ऐसे स्थान में रहने पर गृहस्थ के घर में रखी हुई विविध खाद्य सामग्री को देखकर नवदीक्षित या ग्लान साधुओं के मन में उनके प्रति अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है।

8. **गृहस्थ से संसक्त**–ऐसे स्थान में रहने से निम्नोक्त दोष लगते हैं–

• सामान्य तौर पर गृहस्थों और जैन श्रमणों के आचार-व्यवहार और क्रियाकलाप भिन्न-भिन्न होते हैं। अतएव एक स्थान पर रहने से परस्पर एक-दूसरे की पृथक-पृथक सामाचारी को देखकर दोनों के मन में आशंकाएँ पैदा हो सकती हैं।

• गृहस्थ के मकान में रहने पर गृहस्थ-परिवार के साथ निकट सम्पर्क स्थापित हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप चारित्र धर्म में अनेक तरह से बाधा और क्षति की सम्भावना रहती है।

• गृहस्थ संसक्त स्थान में रहने से अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादि महाव्रतों में भी दोष लगने की प्रबल सम्भावना रहती है। साधु का मन चंचल और अस्थिर बन सकता है, पूर्व अवस्था के संस्कार जागृत हो सकते हैं तथा मन में तरह-तरह के संकल्प-विकल्प पैदा हो सकते हैं।

• साधु अकस्मात बीमार हो जाये तो गृहस्थ द्वारा सेवा, शुश्रूषा एवं उपचार करने-कराने पर षट्काय जीवों की विराधना होती है।

• गृहस्थ के पारिवारिक सदस्यों और दास-दासियों में कलह या झगड़ा हो जाये तो साधु के चित्त में संक्लेश पैदा हो सकता है।

• यदि गृहस्थ साधु की भक्तिवश या परिचयवश किसी प्रकार की खाद्य सामग्री तैयार कर बहराये और वह उसके मनोनुकूल हो तो अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ का अप्रत्यक्ष अनुमोदन हो सकता है।

• गृहस्थ के वैभव और सुन्दर युवतियों को देखने से पूर्वाश्रम का स्मरण और मोहोत्पत्ति हो सकती है।

• पुत्राभिलाषिणी स्त्री के साथ सहवास की सम्भावना भी हो सकती है।

• आगम के अनुसार निम्न दोष भी संभवित हैं–सामान्यतया गृहस्थ स्नान आदि बाह्य शुद्धि का पक्षपाती और उसका आचरण करने वाला होता है। वे प्राय: साफ-सुथरे और स्वच्छ रहना पसन्द करते हैं। इसके विपरीत जैन श्रमण शारीरिक बाह्य शुद्धि को एकदम गौण तथा आन्तरिक शौच को विशेष महत्त्व देते हैं। इन विषम व्यवहारों के कारण साधु और गृहस्थ का एकत्र रहना या निकट रहना दोनों के लिए उचित नहीं होता है। साधु के मलिन वस्त्र और मलिन गात्र से निकलने वाली दुर्गन्ध गृहस्थ के लिए जुगुप्सा का कारण बन सकती है। इस दोष के निवारणार्थ साधु को गृहस्थ के घर या उनके सन्निकट वाले स्थानों में नहीं रुकना चाहिये।

यहाँ इस प्रश्न का समाधान भी ढूँढ़ा जा सकता है कि जैन श्रमण स्नान क्यों नहीं करते हैं? वैदिक ग्रन्थ में कहा गया है–

**स्नानं मददर्पकरं, कामांगं प्रथमं स्मृतम्।**
**तस्मात स्नानं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रता:।।**

स्नान करने से मद और अहंकार की उत्पत्ति होती है और कामभोग की वासनाएं तीव्र हो उठती हैं। इसे काम भोग का प्रथम अंग कहा गया है, अत: स्नान करना वर्ज्य बतलाया है।

यहाँ गृहस्थ के मकान में या गृहस्थ के निकट रहने से यह दोष भी संभव है कि दोनों के कार्य-कलापों में कोई ताल-मेल न होने से दोनों को एक दूसरे के लिहाज के कारण अपने कार्यक्रमों में परिवर्तन करना पड़ सकता है अथवा साधु के लिहाज से भोजन का समय हो जाने पर भी गृहस्थ भोजन न बनाये या न करे तो इससे अन्तराय और मानसिक संताप होने की संभावना रहती है।

• गृहस्थों के संसक्त स्थान में रहने पर साधु-साध्वी के आचार में शिथिलता आ जाने का गंभीर खतरा रहता है। जैसे गृहस्थों के सम्पर्क में रहने

से निर्दोष आहार का अभ्यासी नहीं रह पायेगा, गृहस्थ साधु के निमित्त कुछ भी अलग से तैयार करके लेने का आग्रह करेगा तो वह टाल नहीं पायेगा। इस तरह सदोष आहार में आसक्त होता हुआ वहीं रहने की इच्छा भी करने लग सकता है। वस्तुत: संयम और त्याग का मार्ग बड़ा कठिन है और भोग अनादिकालीन संस्कारों के कारण जीव को लुभावने प्रतीत होते हैं। अतएव उनकी ओर व्यक्ति की प्रवृत्ति सरलता से हो जाती है जबकि त्याग की ओर बढ़ने में प्रबल पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार गृहस्थ के संसर्ग के कारण साधु संयम के नियमोपनियमों के पालन में शिथिल हो जाता है।

• शारीरिक बाधा से निवृत्त होने के लिए रात्रि में या असमय में गृहस्थ के घर का मुख्य द्वार खोलकर बाहर निकले और उधर अवसर पाकर कोई चोर घर में घुसकर चोरी कर जाए तो गृहस्थ को साधु के चोर होने की शंका हो सकती है।

अत: उपर्युक्त दोषों की संभावनाओं को जानकर एवं संयम धर्म का संरक्षण करने हेतु मुनि को गृहस्थ के संसर्ग वाली वसति में नहीं रुकना चाहिए।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो गृहस्थ संसक्त सम्बन्धी स्थानों का वर्जन करना दुर्भर होता जा रहा है। धीरे-धीरे यह विवेक भी विलुप्त होता जा रहा है कि मुनियों के दर्शनार्थ कब और कितनी बार जाना चाहिए? आस-पास के लोग समय बिताने के हिसाब से कभी भी उपाश्रय में चले आते हैं। आजकल शहरी इलाकों में दूरस्थ रहने वाले गृहस्थों की भावनाओं को ख्याल में रखते हुए उनके घरों में एक या दो दिन रुकने का रिवाज भी शुरू हो गया है। कोलकाता, मुम्बई जैसे शहरों में तो चातुर्मास के पश्चात महीना–दो महीना गृहस्थों के आग्रहों को झेलने में ही पूरे हो जाते हैं। कारणवश किसी एक के यहाँ चले जायें और दूसरे को इन्कार कर दें तो यह लोक निन्दा का कारण बन जाता है। इस सम्बन्ध में गृहस्थ वर्ग को मुनि धर्म की सामाचारियों से परिचित करवाना चाहिये, जिससे संयम विरुद्ध प्रवृत्ति पर नियन्त्रण हो सके।

## 7. सचित्त स्थान का वर्जन

श्रमण को स्वयं के रुकने के लिए उस प्रकार के स्थान की गवेषणा करनी चाहिए जो जीव-जन्तुओं से युक्त न हो। साधु को निर्जीव स्थान में रहना कल्प्य

है। आचारांगसूत्र के अनुसार जीव-जन्तु युक्त स्थान का अर्थ है घास या चावल के पलाल से निर्मित स्थान। कीड़ीनगर, लीलन-फूलन, मकड़ी के जाले या दीमक से युक्त स्थान आदि हो तो साधु-साध्वी को वहाँ नहीं ठहरना चाहिए।[10]

**हानि**–जीव-जन्तु युक्त स्थान में रहने से उन जीवों की विराधना होने की सम्भावना अधिक रहती है। गाँवों में प्राय: झोपड़ियों में रहने का प्रसंग बनता है। वहाँ अण्डे, जीव-जन्तु आदि के होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। अतएव अहिंसक साधु को उपाश्रय ढूँढ़ते समय यह भलीभाँति देख लेना चाहिए कि तृणपुंज या पलालपुंज में या आस-पास दीवारों में या भूमि में कहीं जीव-जन्तु तो नहीं हैं।

समाहारत: मुनियों के लिए निर्मित, क्रीत या अन्य तरीके से प्राप्त स्थानों में उन्हें रहने का निषेध है। जहाँ इर्द-गिर्द का वातावरण वासनायुक्त हो और चरित्रहीन लोग रहते हों वह स्थान भी साधु-साध्वी के लिए निषिद्ध माना गया है। उत्सर्गत: तो गाँव या नगर के बीच रहने का भी निषेध किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार साधु-साध्वी के लिए श्मशान भूमि, शून्यगृह, वृक्षमूल एवं परकृत स्थान कल्प्य एवं निर्दोष माने गये हैं।[11]

## मुनियों के लिए निषिद्ध अन्य स्थान

जैन ग्रन्थों में साधु-साध्वी के लिए निम्न आठ स्थान भी बाधक बतलाये गये हैं–[12]

1. **ससागारिक स्थान**–जिस स्थान या मकान में गृहस्थ अपने परिवार के साथ रहता हो अथवा जिस स्थान में सचित्त पानी और आग का उपयोग होता हो।

**हानि**–सागारिक स्थान में रहने पर ब्रह्मचर्य खण्डित होने की विशेष संभावना रहती है, क्योंकि गृहस्थ के परिवार में कई महिलाएं होती हैं जिनके रूप, यौवन या लावण्य से साधु का मन विचलित हो सकता है। गृहस्थ के मन में साधु के ब्रह्मचर्य पालन के प्रति संशय हो सकता है और उसका ब्रह्मचर्य भी खण्डित हो सकता है। गृहस्थ के घर का वैभव या भौतिक वातावरण देखकर गृहस्थाश्रम की स्मृतियाँ जागृत हो सकती हैं, जिसके कारण उसका मन चंचल और अशान्त बन सकता है। पारिवारिक वातावरण के बीच मन स्वाध्यायादि में स्थिर नहीं बनता। गृहस्थ या साधु को एक दूसरे के प्रति संकोच से आवागमन

में असुविधा का अनुभव हो सकता है। सचित्त पानी और अग्नि वाले स्थान में रहने पर अपरिपक्व (नवदीक्षित) साधु-साध्वी को उनके सेवन या गर्म-गर्म भोजन करने की अभिलाषा होना भी संभावित है।

इस नियम से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ साधु-साध्वी का उपाश्रय हो उस स्थान पर नल, संडास, बाथरूम आदि की सुविधा कदापि नहीं होनी चाहिए, वहाँ गर्म पानी नहीं बनना चाहिए और दर्शनार्थियों, पुजारियों या मुनीम आदि संघीय कर्मचारियों को भी नहीं रुकवाना चाहिए।

2. **गृहस्थ गृह मध्यमार्गी स्थान**– जहाँ आने-जाने का मार्ग गृहस्थ के घर के अन्दर से होकर जाता हो ऐसे स्थान पर भी साधु को निवास नहीं करना चाहिए।

**हानि**–मध्यमार्गवाली वसति में रहने पर लगभग उन सभी हानियों की संभावनाएँ रहती हैं, जो गृहस्थ संसक्त स्थान में रहने से होती हैं।

3. **आक्रोशयुक्त स्थान**–जिस स्थान या मकान के किसी भाग में या उसके आस-पड़ोस में पारिवारिक सदस्य या अन्य कोई लड़ते-झगड़ते रहते हों, मारपीट करते हों, गाली-गलौच करते हो वहाँ साधु न ठहरें।

**हानि**–आक्रोश युक्त स्थान में रहने से चित्त में संक्लेश पैदा होता है। इससे साधु के मन में चंचलता, पक्षपात और अशान्ति पैदा हो सकती हैं।

4. **अभ्यंगादि युक्त स्थान**–जहाँ पुरुष और स्त्रियाँ एक-दूसरे के शरीर पर तेल आदि चुपड़ रही हों अथवा मालिश कर रही हों, वह स्थान साधु के लिए वर्जनीय है।

5. **उद्वर्तनादि युक्त स्थान**–जहाँ पुरुष और स्त्रियाँ एक-दूसरे के शरीर पर नाना प्रकार के उबटन लगा रही हों।

6. **स्नानादि युक्त स्थान**–जहाँ पुरुष और स्त्रियाँ जल क्रीड़ा कर रही हों, एक दूसरे को नहला रही हों।

7. **अश्लील क्रियादि युक्त स्थान**–जहाँ पुरुष और स्त्रियाँ अश्लील वार्तालाप कर रहे हों या अश्लील मुद्रा में रहते हों।

8. **सचित्र स्थान**–जहाँ दीवारों पर स्त्री-पुरुषों के श्रृङ्गारिक चित्र हों या अन्य लुभावने दृश्य टंगे हुए हों।

उपर्युक्त सभी स्थानों पर साधु-साध्वी को रहने का निषेध किया गया है।

**हानि**–अभ्यंगन, उद्वर्तन, स्नान, अश्लील क्रियाएं और श्रृङ्गारिक चित्रादि से युक्त स्थान पर रहने या उन्हें देखने से ब्रह्मचर्य व्रत के दूषित होने की संभावनाएं बनती हैं। इन क्रियाओं को देखकर साधु का मन सत्य मार्ग से भटक सकता है। यदि अपरिपक्व साधु हो तो वासना की आग में डूब सकता है। अतएव पूर्वोक्त आठ प्रकार की वसतियों (स्थानों) में नहीं रहना चाहिये। उक्त आठ स्थान उपलक्षण मात्र से समझने चाहिए। इसी तरह के अन्य स्थान भी वर्जनीय हैं।

आचार्य वट्टकेर के निर्देशानुसार जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर एवं गणधर इन पाँच का आधार न हो, वहाँ नहीं रहना चाहिए।[13]

भगवती आराधना के अनुसार श्रमण के लिए निम्न स्थान वर्जनीय हैं – गंधर्वशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भारशाला, यन्त्रशाला, शंख, हाथी दांत आदि के कार्य स्थल, कोलिक, धोबी, वादक गृह, डोमगृह, नट आदि के निकटवर्ती स्थल, राजमार्ग के समीपवर्ती स्थल, चारणशाला, कोट्टकशाला (पत्थर का कार्य करने वालों का स्थान), कलालों का स्थान, रजकशाला, रसवणिकशाला (आरा से लकड़ी आदि चीरने का काम करने वालों का स्थान), पुष्पवाटिका, मालाकार का स्थान, जलाशय के समीप का स्थान आदि मुनि के रहने योग्य नहीं हैं।[14]

मूलाचार में कहा गया है कि जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति होंती हो, भक्ति-आदर का अभाव हो अर्थात लोगों में शठता की बहुलता हो, जहाँ पर चक्षु आदि इन्द्रियों के राग के कारणभूत विषयों की प्रचुरता हो, जहाँ पर श्रृङ्गार, विकार, नृत्य, गीत, उपहास आदि में तत्पर स्त्रियों का बाहुल्य हो तथा जहाँ क्लेश एवं उपसर्ग की अधिकता हो ऐसे स्थानों पर मुनि को नहीं रहना चाहिए।[15]

इसी क्रम में यह भी लिखा गया है कि जिस देश में, नगर में, ग्राम में या घर में स्वामी का अनुशासन न हो, सभी लोग स्वेच्छा से प्रवृत्ति करते हों, जिस देश का राजा दुष्ट हो अर्थात धर्म विराधक हो, कुत्सित स्वभावी हो, जिस देश में शिष्य, श्रोता, अध्ययनकर्ता, व्रतरक्षण में तत्पर एवं दीक्षा स्वीकार करने वाले लोग सम्भव न हों तथा जहाँ पर व्रतों में अतिचार लगते हों, साधु को ऐसे क्षेत्र का भी प्रयत्नपूर्वक परिहार कर देना चाहिए।[16]

जहाँ गाय, भैंस आदि तिर्यंच पशु एवं वेश्या, स्वेच्छाचारिणी आदि महिलाएं रहती हो तथा भवनवासिनी, व्यंतरवासिनी आदि विकारी वेशभूषा वाली देवियाँ अथवा गृहस्थजन वास करते हो, इस प्रकार के क्षेत्रों का भी सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।[17]

अप्रमत्त मुनि को आर्यिकाओं के स्थान पर भी धर्म कार्य के अतिरिक्त नहीं बैठना चाहिए। आर्यिकाओं के स्थान पर आने-जाने से साधु की दो प्रकार से निन्दा होती है–व्यवहाररूप और परमार्थरूप। लोकापवाद होना व्यवहार निन्दा है और व्रत खण्डित हो जाना परमार्थ निन्दा है।[18]

## किन स्थितियों में शुद्ध वसति भी अशुद्ध?

जैनागमों में वसति सम्बन्धी ऐसे नियम भी वर्णित हैं जिनका यथोक्त अनुपालन न करने पर शुद्ध वसति भी अशुद्ध हो जाती है। वे नियम अधोलिखित हैं–[19]

1. **कालातिक्रान्त**–जिस स्थान पर चातुर्मास के चार महीने से अधिक और शेष काल में एक महीने से अधिक रहे हों वह वसति कालातिक्रान्त कही जाती है।

सामान्यतया साधु का यह आचार है कि वह शीतकाल और ग्रीष्मकाल में किसी एक स्थान में एक माह तक रह सकता है। किसी ठोस कारण के बिना शीत तथा उष्ण काल में इससे अधिक एक स्थान पर रहना साधु का कल्प नहीं है। जैन मुनि को नवकल्प विहारी कहा गया है। नवकल्प विहारी साधु के आठ मास के आठ कल्प और चातुर्मास काल का एक कल्प होता है। साधु को वर्षाकाल में एक स्थान पर चार मास तक रहना कल्पता है, इससे अधिक नहीं, क्योंकि चातुर्मास के पश्चात वह वसति कालातिक्रान्त हो जाती है। इससे सूचित होता है कि चातुर्मास के पश्चात तुरन्त विहार कर देना चाहिए अन्यथा साधु दोष का अधिकारी बनता है।

संघ व्यवस्था की दृष्टि से भी साधुओं को कल्पानुसार विचरण करना चाहिये ताकि अधिक लोगों को धर्म-श्रवण और धर्माचरण का लाभ मिल सके। जो साधु इस काल-मर्यादा का उल्लंघन करते हैं वे कालातिक्रान्त दोष के भागी होते हैं। शास्त्रकारों ने **'काले कालं समायरे'** कहकर साधुओं के लिए सदैव काल मर्यादा के प्रति जागरूक रहने का निर्देश दिया है। स्वाध्याय, ध्यान,

प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएं समय पर की जानी चाहिए। इसी तरह विहार भी समय-मर्यादा को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

**हानि**–एक स्थान पर अधिक रहने से चारित्र मलिन होता है। उस स्थान के प्रति राग भाव बढ़ जाता है। वहाँ रहने वाले गृहस्थों और अन्य जनों में भी राग पैदा हो जाता है। इससे उद्गमादि आहार के दोषों की भी सम्भावना रहती है।

2. **उपस्थापन क्रिया**–जिस स्थान पर शेषकाल में मासकाल पूरा किया हो अथवा चातुर्मास काल बिताया हो उससे दुगुना या तिगुना समय अन्य स्थान पर बिताये बिना पुन: वहाँ लौट आने पर पूर्वोक्त वसति उपस्थापना दोष से दूषित कही जाती है।

3. **अभिक्रान्त**–जो स्थान सर्वसामान्य लोगों के रहने हेतु बनाया गया हो और उस वसति में चरक आदि अथवा गृहस्थ रहे हुये हों वहाँ जाकर रहना, अभिक्रान्त नामक वसति दोष है।

4. **अनभिक्रान्त**–जो स्थान सर्वसामान्य हो किन्तु उस स्थान का किसी ने उपयोग न किया हो, वहाँ जाकर रहना अनभिक्रान्त वसति दोष है।

5. **वर्ज्य**–जो स्थान गृहस्थ ने स्वयं के लिए बनाया हो और वहाँ कुछ समय रहने के पश्चात वह स्थान साधु को रहने के लिए दे दिया हो तथा स्वयं के लिए पुन: नए मकान का निर्माण करवा रहा हो उस स्थिति में साधु को दिया गया वह स्थान, वर्ज्य दोष से दूषित कहलाता है।

6. **महावर्ज्य**– श्रमण, ब्राह्मण आदि पाखंडियों के उद्देश्य से निर्मित की गई वसति में रहना महावर्ज्य दोष है क्योंकि वह स्पष्टत: औद्देशिक है।

7. **सावद्य**–पाँच प्रकार के श्रमणों के लिए निर्मित की गई वसति में रहना सावद्य नामक वसति दोष है।

8. **महासावद्य**–जैन मुनियों के लिए बनवाई गई वसति में रहना महासावद्य वसति दोष है।

9. **अल्पक्रिया**–जो वसति उपर्युक्त दोषों से तो रहित हो, किन्तु गृहस्थ ने स्वयं के लिए बनवाई हो एवं उत्तरगुण परिकर्म से रहित हो, वह वसति अल्पक्रियायुक्त अर्थात साधु के निमित्त संस्कारित कहलाती है।

इन नौ वसतियों में से अल्पसावद्य वसति विशुद्ध है। इस वसति में गृहस्वामी की आज्ञा लेकर रुक सकते हैं। इसके बाद अभिक्रान्त वसति किंचित

दोषकारी होने से कल्प्य है। शेष सात प्रकार की वसति अकल्पनीय और अग्राह्य है।

## कौनसी वसति किस कारण से दूषित?

आचारांगसूत्र के टीकाकार शीलांकाचार्य के अभिमत से कालातिक्रान्त और उपस्थापना नामक वसति काल मर्यादा के उल्लंघन के कारण अकल्पनीय है। अभिक्रान्त–अनभिक्रान्त नामक वसति भिक्षाचारों के उद्देश्य से निर्मित होने के कारण जब तक अन्य को सुपुर्द न की गई हो तब तक औद्देशिक होने से अकल्पनीय है। वर्ज्य नामक वसति पश्चात कर्म दोष वाली होने से अकल्पनीय है। महावर्ज्य-श्रमण आदि की गणना करके बनायी जाती है, अतएव औद्देशिक होने से अकल्पनीय है। सावद्य– पाँच प्रकार के श्रमणार्थ निर्मित वसति में षट्काय जीवों की विराधना होने से अकल्पनीय है। महासावद्य–खास तौर पर साधु के निमित्त बनवाई जाती है अतएव वह भी अकल्पनीय है। अल्पसावद्य– यह वसति गृहस्थ स्वयं के लिए बनाता है, अत: सर्वथा निर्दोष और कल्पनीय है।

**हानि**–सामान्यतया सार्वजनिक स्थान पर जहाँ लोगों का और अन्य मतावलम्बी साधुओं का बार-बार आवागमन होता हो, वहाँ जैन मुनि को अधिक समय तक नहीं रुकना चाहिए। ऐसे स्थानों पर अधिक समय तक रुके रहें तो अन्य मतावलम्बी साधुओं को स्थान के अभाव में असुविधा हो सकती है। लम्बे समय तक रहने के कारण वहाँ के व्यवस्थापकों के मन में साधु के प्रति अरुचि या उपेक्षा भाव पैदा हो सकता है। साथ ही वहाँ तरह-तरह के लोगों और साधुओं का जमघट लगा रहने से जैन आचार के परिपालना में कठिनाई हो सकती है। ऐसे स्थान प्राय: अशान्त और कोलाहलपूर्ण रहते हैं, वहाँ शान्त चित्त से स्वाध्याय-ध्यान आदि नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से भी वर्ज्यादि स्थानों का निषेध किया गया है। दूसरे, अन्य मतावलम्बी साधुओं और गृहस्थों के साथ अधिक सम्पर्क बढ़ जाने से जैन मुनि का सम्यकत्व दूषित हो सकता है। जैन श्रमण और अन्य साधुओं के आचार-व्यवहार में बहुत अन्तर होने से दोनों को एक-दूसरे के प्रति असद्भाव और अविश्वास हो सकता है जिसके कारण संक्लेश की स्थिति भी निर्मित हो सकती है। लोगों में किसी के प्रति अधिक और किसी के प्रति कम भक्ति होने से परस्पर द्वेषभाव भी पनप सकता है। इन बातों

को ध्यान में रखते हुए जैन भिक्षु को पूर्वोक्त सार्वजनिक स्थानों पर नहीं ठहरना चाहिए। यदि ऐसे स्थानों पर रुकना भी पड़े तो इस प्रकार का विवेक रखें कि वह स्वयं अधिक न रुके और अन्यों को किसी प्रकार की असुविधा न हो।

## वसति के प्रकार

आगमकार कहते हैं कि शुद्ध आहार की प्राप्ति होना उतना कठिन नहीं है जितना कि शुद्ध स्थान की प्राप्ति होना। निर्दोष स्थान की छान-बीन करना बहुत ही मुश्किल है। कदाचित प्रासुक स्थान मिल भी जाये, किन्तु साधुओं के दैनन्दिन की आवश्यक क्रियाओं में उपयोगी वसति मिल पाना कठिनतर है।

अर्हत वाणी कहती है कि वसति अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल, किन्तु वह मूलगुण शुद्ध (प्रासुक), उत्तरगुण शुद्ध (उंछ) और मूलोत्तर गुण शुद्ध (एषणीय) अवश्य होनी चाहिए।[20]

इस प्रसंग में आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि जो वसति मूलगुण और उत्तरगुण से परिशुद्ध हो एवं स्त्री-पशु-पंडकादि से रहित हो वह मुनि के लिए सर्वथा ग्राह्य होती है। साधु को सदैव उक्त गुणवाली वसति में ही रहना चाहिए।

मूलत: वसति दो प्रकार की निर्दिष्ट है–1. मूलगुण वाली और 2. उत्तरगुण वाली।[21]

**मूलगुण वाली वसति**–जिस वसति में पृष्ठिवंश अर्थात छत पर तिरछा पटड़ा डाला हुआ हो, दो थंभे जिन पर पटड़े के अन्तिम छोर टिकाये जाते हों और चार बांस की बल्लियाँ, जो दो थंभे के दोनों ओर एक-एक घर के चारों कोनों में रखी जाती हों। इस प्रकार 1+2+4= 7 गुण से युक्त वसति मूलगुण वाली कहलाती है। उक्त सात वस्तुएँ मकान के लिए आधारभूत होने के कारण उस भवन को मूलगुण से युक्त माना जाता है। यदि गृहस्थ ने ऐसी वसति स्वयं के लिए बनवाई हो तो वह वसति मूलगुण विशुद्ध कहलाती है। यदि मुनियों के लिए बनाई गई हो तो आधाकर्म दोष से दूषित होने के कारण शुद्ध नहीं कहलाती है, अत: ऐसी अशुद्ध वसति में साधु को रहना नहीं कल्पता है।[22]

**उत्तरगुण**–उत्तरगुण दो प्रकार के होते हैं–1. मूलोत्तरगुण 2. उत्तरोत्तरगुण। मूलोत्तरगुण वाली वसति सात प्रकार की कही गई है–[23]

1. **वंशक**–भीत के ऊपर छत बनाने के लिए बांस आदि डालना।

2. **कटन**–मकान को ढकने के लिए बांस की लकड़ी पर चटाई आदि डालना।

3. **उत्कम्बन**–छत को बाँधने के लिए बांस की खपचियों को बाँधना।

4. **छादन**–छत को घास-कुशादि से आच्छादित करना।

5. **लेपन**–गोबर आदि से भीत आदि लीपना।

6. **द्वार**–एक दिशा से हटाकर दूसरी दिशा में द्वार बनवाना।

7. **भूमि**–विषम भूमि को समतल बनाना।

जिस वसति में पूर्वोक्त सात प्रकार का परिकर्म (संस्कार) साधु के लिये नहीं किया गया हो वह वसति मूलोत्तर शुद्ध गुण वाली कहलाती है। इसमें साधु को रहना कल्पता है।

उत्तरोत्तरगुण वाली वसति आठ प्रकार की कही गई है–[24]

1. **धूमिता**–भीत को चिकना बनाने के लिए प्लास्तर आदि किया गया हो अथवा खड़ी, चूने आदि से पुताई करवाकर सफेद किया गया हो।

2. **धूपिता**–वसति की दुर्गन्ध मिटाने के लिए अगरु आदि का धूप किया गया हो।

3. **वासिता**–वसति को पुष्पादि से महकाया गया हो।

4. **उद्योतिता**–वसति को रत्नादि के द्वारा या दीपक आदि जलाकर प्रकाशित किया गया हो।

5. **बलिकृता**–जिसमें चावल आदि के द्वारा बलिकर्म किया गया हो।

6. **अवत्ता**–जिसमें गोबर, मिट्टी आदि से आंगन लीपा गया हो।

7. **सिक्ता**–जिसमें पानी छींटा गया हो।

8. **सम्मृष्टा**–झाड़ू आदि के द्वारा कचरा साफ किया गया हो।

यदि पूर्वोक्त आठ प्रकार का परिकर्म संस्कार साधु के निमित्त न किया गया हो तो वह वसति उत्तरोत्तर शुद्ध गुणवाली कहलाती है। ऐसी वसति में जैन मुनि को रहना कल्पता है।

जिस वसति में सात मूलगुण और सात मूलोत्तरगुण साधु के निमित्त किये गये हों, वह अविशोधि कोटि की कहलाती है। ऐसी वसति में साधु को नहीं ठहरना चाहिए। अविशुद्ध या स्त्री, नपुंसक आदि से संसक्त वसति में रहने पर संयम-विराधना आदि अनेक दोष लगते हैं।

स्पष्ट है कि स्थान की विशुद्धि और अशुद्धि दो-दो प्रकार की होती है–

मूलगुण विशुद्धि और उत्तरगुण विशुद्धि, मूलगुण अशुद्धि और उत्तरगुण अशुद्धि।

गृहस्थ अपने लिए जो भवन या स्थान बनवाता है, उसमें उसकी आज्ञा लेकर ठहरना मूलगुण शुद्धि है। गृहस्थ साधु के निमित्त से जो निर्माण करवाता है, उसमें ठहरना मूलगुण अशुद्धि है।

गृहस्थ अपने लिए जिस मकान या स्थान की मरम्मत और संस्कार करवाता है, उसमें उसकी आज्ञा से ठहरना उत्तरगुण शुद्धि है। गृहस्थ साधु के निमित्त से जिस मकान या स्थान की मरम्मत करवाता है, उसमें ठहरना उत्तरगुण अशुद्धि है।

साधु-साध्वी को मूलगुण शुद्ध एवं उत्तरगुण शुद्ध स्थान में ठहरना चाहिए।

## निषिद्ध वसति में किन दोषों की सम्भावनाएँ

जो वसति मुनि आवास के लिए निषिद्ध बतलायी गयी है, उस प्रतिषिद्ध वसति में रहने से 1. ब्रह्मचर्य का खण्डन होता है 2. पारस्परिक लज्जा का नाश होता है 3. स्त्रियों को बार-बार आसक्ति पूर्वक देखने से प्रेम बढ़ता है 4. मुनि लोक-निन्द्य के पात्र बनते हैं और 5. 'चारित्र भ्रष्टता के समीप जाने से बंध होता है' ऐसा सोचकर कई लोग धर्म से च्युत हो जाते हैं इस तरह की परम्परा से तीर्थ विच्छेद की भी संभावना बनती है। अत: जैन मुनि को निषिद्ध वसति में कदापि नहीं ठहरना चाहिए।[25]

## आधुनिक सन्दर्भों में शुद्ध वसति की प्रासंगिकता

साधु के रहने का स्थान कैसा हो तथा उसमें साधु कैसे रहें इसका निर्देश सम्यक रूप से जैनागमों में प्राप्त होता है। यदि वसति नियम का प्रबंधन के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन किया जाए तो इसके द्वारा सर्वप्रथम तो मुनि जिस लघुता एवं सूक्ष्मता से वसति की याचना एवं गवेषणा करता है उससे जीवन में सरलता एवं परिपक्वता का विकास होता है। मुनि के लिए जितनी प्रकार की वसतियों को छोड़ने का निर्देश है उनके त्याग से जीवन में समय, संयम एवं शक्ति तीनों का संरक्षण होता है, जिससे स्वाध्याय, ध्यान आदि में वृद्धि होती है। शुद्ध वसति में रहने पर संयम भाव में वृद्धि होती है। स्त्री, नपुंसक, बालक आदि का संसर्ग त्यागने से मन शान्त एवं निराकुल रहता है इससे तनाव आदि से मुक्ति मिलती है।

अभिनव समस्याओं के सन्दर्भ में यदि वसति नियम का परिशीलन किया जाए तो इसके द्वारा आज पारिवारिक संस्कारों में होते ह्रास को नियन्त्रित किया जा सकता है, क्योंकि आस-पड़ोस का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। परम्परागत आचार से विरुद्ध या विपरीत आचार वाली वसतियों में रहने से मन में कई शंकाएँ उत्पन्न होती हैं, जिससे व्यक्ति सद्मार्ग से पतित हो जाता है। पड़ोसी उग्र स्वभावी हो तो रोज-रोज के कलह से मानसिक शान्ति भंग होती है एवं शारीरिक अस्वस्थता का कारण बनती है। जिस वसति में रहते हैं उस वसति के प्रभाव को न्यून तो नहीं किया जा सकता पर अच्छी वसति में रहकर अपने संस्कारों को और अधिक मजबूत किया जा सकता है।

## वसति प्रवेश एवं बहिर्गमन विधि

आगम विधि के अनुसार साधु-साध्वी जब भी अनुज्ञापित वसति में प्रवेश करें तब 'निसीहि' और उससे बहिर्गमन करे तब 'आवस्सही' शब्द का तीन-तीन बार उच्चारण करें। यह औघिक सामाचारी का नियम है।

सामान्यतया जिस स्थान का जो मालिक हो, मुनि उससे अनुमति लेकर ही योग्य स्थान पर रुकते हैं किन्तु प्रत्येक क्षेत्र के पृथक-पृथक अधिष्ठित देवता भी होते हैं। वे अदृश्य रूप से अपने-अपने स्थान की सुरक्षा करते हैं। दिगम्बर परम्परानुसार अधिष्ठित देवों की अनुमति प्राप्त करने हेतु 'निसीहि' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस शब्द के माध्यम से उन्हें विज्ञप्ति दी जाती है ताकि उनका अनादर न हो। साथ ही पर्वत, गुफा, अटवी आदि कुछ स्थान ऐसे हैं जिनका स्वामी व्यक्ति विशेष नहीं होता। वहाँ भी 'निसीहि' शब्द के उच्चारण द्वारा अधिष्ठित क्षेत्र देवता की अनुमति ली जाती है, ऐसा दिगम्बराचार्यों का अभिमत है।[26]

श्वेताम्बर के अनुसार देवताधिष्ठित क्षेत्र की अनुज्ञा के लिए 'अणुजाणह जस्सावग्गहो' शब्द का प्रयोग किया जाता है। निसीहि शब्द का अर्थ पाप प्रवृत्ति से निवृत्त होना है। श्वेताम्बर आचार्यों ने निसीहि का यही अर्थ ग्रहण किया है। उनके अभिप्राय से वसति प्रवेश के समय 'निसीहि' शब्द के उच्चारण का यह आशय है कि अब मैं स्थण्डिल गमनादि एवं शारीरिक (भिक्षाचर्या आदि) समस्त बाह्य व्यापार का त्याग करता हूँ, केवल आत्म व्यापार में संलग्न रहूँगा। गृहस्थ श्रावकों के लिए भी यह नियम है कि वे जिनालय या उपाश्रय में प्रवेश

करते समय तीन बार 'निसीहि' एवं बाहर निकलते समय तीन बार 'आवस्सही' शब्द उच्चरित करें।

यहाँ 'निसीहि' शब्द का अभिप्राय अनुमति ग्रहण न होकर पाप क्रियाओं से निवृत्त होना ही है। दिगम्बर मत में 'निसीहि' का अनुज्ञापन अर्थ किस अपेक्षा से किया गया है, विद्वानों के लिए गवेषणीय है। आवस्सही का शाब्दिक अर्थ है आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूँ। श्वेताम्बर मत में भी 'आवस्सही' शब्द का यही अर्थ ग्रहण किया गया है। दिगम्बर मत में इसके स्थान पर 'आसिका' शब्द का उच्चारण करते हैं। उनके अभिप्रायानुसार तद्स्थानीय अधिष्ठाता देव अथवा गृहस्वामी से निर्गमन की अनुमति एवं गृहीत स्थान को सुपुर्द करने के उद्देश्य से इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।[27]

अहिंसा महाव्रत के दृष्टिकोण से मुनि वसति में प्रवेश करते समय एवं वसति से बहिर्गमन करते समय रजोहरण या पिच्छिका द्वारा शरीर का प्रमार्जन करें, क्योंकि वसति उष्ण या शीत हो तो बहिर्भूमि में विद्यमान उष्णकाय और शीतकाय जीवों को प्रतिकूल वातावरण से बाधा न हो। यदि शरीर का प्रमार्जन न करें तो लोकव्याप्त उष्ण–शीतकाय के परमाणु देह के साथ सम्पृक्त होने से तद्जातीय जीवों के लिए शस्त्ररूप बनते हैं, अन्यथा वे शरीर से मुक्त हो जाते हैं।

भगवती आराधना के अनुसार जो स्थान श्वेत, रक्त या कृष्ण गुण प्रधान हों और वहाँ से अन्य स्थान या नगरादि में प्रवेश कर रहे हों, तब कटिभाग से नीचे के अंग का प्रमार्जन करें। इस नियम का अनुपालन न करने पर विरुद्ध योनि के संक्रम से पृथ्वीकायिक जीवों और तद्स्थान में उत्पन्न हुए त्रसजीवों को कष्ट पहुँचता है।[28]

## उपसंहार

जो वसति गृहस्थ ने स्वयं के लिए तैयार की है वह मुनि के आवास हेतु पूर्ण शुद्ध एवं ग्राह्य है। यदि हम शुद्धाशुद्ध वसति के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अध्ययन करें तो अवगत होता है कि आचारांगसूत्र में इसका विशद वर्णन है। यहाँ वसति के प्रकार, शुद्ध वसति का स्वरूप, वसति दूषित कब, दूषित वसति के दोष आदि का शास्त्रीय वर्णन किया गया है।

तदनन्तर ओघनिर्युक्ति, बृहत्कल्प भाष्य[29], पंचवस्तुक, प्रवचनसारोद्धार[30]

आदि में भी यह विवरण प्राप्त होता है। आचारांग चूर्णिकार एवं टीकाकार ने इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

यदि वसति विधि का तुलनात्मक पक्ष उद्घाटित किया जाए तो पूर्व ग्रन्थों के आधार पर यही सिद्ध होता है कि इसकी चर्चा सभी ग्रन्थों में समान रूप से की गई है।

यदि प्रचलित परम्पराओं की दृष्टि से मनन किया जाये तो ज्ञात होता है कि वसति से सम्बन्धित पूर्वोक्त नियम खरतरगच्छ, तपागच्छ, स्थानकवासी, तेरापंथी आदि सभी साधु-साध्वियों के लिए समान रूप से अनुकरणीय हैं, इसमें सामाचारी भिन्नता नहीं है।

दिगम्बर भिक्षु एवं भिक्षुणी के लिए भी वसति संबंधी अनेक नियम कहे गये हैं। जब मूलाचार आदि ग्रन्थों का पर्यवेक्षण करते हैं तो अवगत होता है कि इस विषयक अधिकांश नियम श्वेताम्बर भिक्षु-भिक्षुणी के समान ही है। जैसे- जीव-जन्तु युक्त एवं उद्देश्य निर्मित उपाश्रय में नहीं ठहरना, भिक्षुणी को उपाश्रय में अकेले नहीं रहना, गृहस्थ आवासों के मध्य नहीं रहना आदि।

वैदिक ग्रन्थों में इस विषयक विस्तृत चर्चा तो प्राप्त नहीं होती है परन्तु वहाँ भी जैन मुनियों की भाँति संन्यासी को गाँव के बाहर रहने का निर्देश दिया गया है। संन्यासी के लिए गृहत्याग एवं परिवार त्याग को भी आवश्यक बताया गया है। वसति के सम्बन्ध में इतना कहा गया है कि सूर्यास्त होने पर वृक्ष के नीचे या परित्यक्त घर में आकर ठहरें, रात्रि यहाँ व्यतीत करें।[31] इससे सूचित होता है कि इस परम्परा में भी गृहस्थों के निवास से दूर वसति ही संन्यासी के आवास हेतु ग्राह्य मानी गयी है और गृहस्थादि के मध्य रहने का निषेध किया गया है। अतएव वसति सम्बन्धी नियम को लेकर जैन धर्म और हिन्दू धर्म में मौलिक रूप से असमानता के तत्त्व नजर नहीं आते हैं।

बौद्ध परम्परा में भिक्षु के लिए आवास सम्बन्धी चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि उन्हें उपसंपदा काल में चार आश्रयों की शिक्षा दी जाती है, उसमें से एक आश्रय के अनुसार वृक्ष के नीचे निवास करना चाहिए। भिक्षुणियों के लिए इस आश्रय का विधान नहीं है। चारित्र रक्षा की दृष्टि से उन्हें वृक्ष मूल में या अटवी में रहने का निषेध किया गया है। उनके लिए प्राय: भिक्षुणी विहार के ही उल्लेख मिलते हैं अर्थात बौद्ध भिक्षुणियों के लिए उद्देश्यपूर्वक आवास

व्यवस्था की जाती है, जबकि जैन भिक्षु-भिक्षुणियों को उद्देश्यपूर्वक निर्मित भवन या उपाश्रय में रहना निषिद्ध बताया गया है।

यदि वसति विधि की समीक्षा की जाए तो यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शुद्ध वसति के सम्प्राप्त हो जाने मात्र से वह रहने योग्य नहीं हो जाती, वरन वसति ग्रहण की भी एक विधि होती है। इसमें वसति ग्राही मुनि को पूर्व दिशा की ओर मुख करके दायीं करवट बैठे हुए और अग्रिम एक पाँव तिरछा फैलाये हुए बैल के आकार की कल्पना करनी चाहिए और वहाँ स्थान के शुभत्व का विचार करके ही निवास करना चाहिए। यदि कल्पित बैल के सींग के स्थान पर वास करें तो कलह, पाँव के स्थान में वास करें तो उदर रोग, पूंछ के स्थान में वास करें तो वसति नाश, मुख के स्थान में वास करें तो श्रेष्ठ भोजन की प्राप्ति, सिर व ककुद के स्थान में वास करें तो पूजा-सत्कार, स्कंध व पृष्ठभाग की ओर वास करें तो वसति भरी हुई रहती है। इस तरह शुद्ध वसति में भी बैल की कल्पना कर उसके अंगानुरूप योग्य स्थान ग्रहण करना चाहिए। यह विधि मूलागमों में तो प्राप्त नहीं है परन्तु परवर्ती टीका साहित्य में वर्णित है।[32]

यदि वर्तमान स्थिति पर एक नजर डालें तो प्रतीत होता है कि आजकल वसति सम्बन्धी नियमोपनियमों की परिपालना करना दुष्कर हो गया है। इस भौतिक युग में गवेषणा के बावजूद शुद्ध वसति नहीं मिल पाती है। दूसरे, जहाँ अत्याचार–भ्रष्टाचार जैसी विकृत संस्कृतियाँ पनप रही हों, तब साधुओं के लिए श्मशान भूमि, अरण्य स्थलों या शून्य गृहों में रहना कल्पना मात्र लगता है। इस युग में अशुद्ध या निषिद्ध वसति से कैसे बचा जा सकता है, विद्वज्जनों के द्वारा यह अवश्य विचारणीय है।

## सन्दर्भ सूची


1. *मूलाचार, 10/956*
2. *आचारांगसूत्र, मुनि सौभाग्यमलजी, 2/पृ. 170-174*
3. *संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 908*
4. *आचारांगसूत्र, 2/1/64*
5. *वही, पृ. 175-176*
6. *वही, पृ. 176*
7. *वही, 2/1/66, पृ. 181-182*

8. बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 1/28,32,34,30,12
9. आचारांगसूत्र, 2/1/67-71, पृ. 184-192
10. वही, 2/2/72-76
11. उत्तराध्ययनसूत्र, 35/6-7
12. आचारांगसूत्र, 2/3/91-98
13. मूलाचार, 4/155
14. भगवती आराधना, 632-633
15. मूलाचार, 10/951
16. वही, 10/953
17. वही, 5/357
18. वही, 10/654-6555
19. कालाइक्कंतोवट्ठाण, अभिकंत अणभिकंता य।
वज्जा य महावज्जा, सावज्ज महप्पकिरिया य॥
(क) वही, 2/2/77-86
(ख) पंचवस्तुक, गा. 712-716
20. आचारांगसूत्र, मुनि सौभाग्यमलजी, 2/3/87
21. पंचवस्तुक, गा. 706
22. वही, गा. 707
23. वही, गा. 708
24. वही, गा. 709
25. वही, 722-23
26. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 293
27. वही, पृ. 293
28. भगवती आराधना, 152 की टीका
29. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 582
30. प्रवचनसारोद्धार, गा. 871-873
31. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा. 1, पृ. 491
32. (क) ओघनिर्युक्ति भाष्य, गा. 76-77
(ख) बृहत्कल्प भाष्य, गा. 149-150
(ग) प्रवचनसारोद्धार, गा. 879-80

●

## अध्याय-10

# संस्तारक ग्रहण सम्बन्धी विधि-नियम

जैन मुनि अल्प परिग्रही होते हैं। स्वावलम्बी जीवन यापन करते हुए अपनी समस्त उपधि आदि सामग्री स्वयं लेकर चलते हैं। कई ऐसी वस्तुएँ होती हैं जो मुनि के लिए सदा उपयोगी नहीं बनती एवं जिन्हें अपने पास रखना भी संभव नहीं होता। ऐसी वस्तुएँ मुनि आवश्यकता अनुसार गृहस्थ वर्ग से मांगकर उपयोग करते हैं एवं उन्हें वापस समय मर्यादा में लौटा देते हैं। आचार्य आदि वरिष्ठ मुनियों के बैठने एवं सोने योग्य ऊँचा आसन, पाट आदि की गवेषणा एवं गृहस्थ वर्ग से उसकी याचना करना मुनि का मुख्य आचार है। इसमें अनेकविध रहस्य समाहित है।

## संस्तारक का अर्थ विचार

जो उपकरण मुनि के लिए सोने-बैठने आदि में उपयोगी होते हैं, उन्हें संस्तारक कहा जाता है। इस दृष्टि से पट्टा, चौकी, फलक (लकड़ी का पटिया), दर्भादिक का बिछौना आदि संस्तारक कहलाते हैं।

जैन दर्शन में शय्या और संस्तारक ऐसे दो समानार्थक शब्दों का प्रयोग है। बृहत्कल्प की टीका के अनुसार जिस पर शयन किया जाता है वह शय्या, वसति है और वही संस्तारक है।[1] शय्या में जो शयन योग्य स्थान है वह शय्या संस्तारक कहलाता है। स्पष्ट है कि सोने या बैठने योग्य भूमि शय्या है और उस भूमि पर लेटने या बैठने हेतु जो बिछाया जाता है, वह संस्तारक है।

## संस्तारक के प्रकार

संस्तारक दो प्रकार के होते हैं–1. परिशाटी-तृण आदि का संस्तारक और 2. अपरिशाटी-फलक आदि का संस्तारक। संस्तारक के अन्य दो प्रकार निम्न हैं–

निर्हारिम–जो संस्तारक एक-दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित किया जा सके, वह निर्हारिम कहलाता है।

अनिर्हारिम–जो संस्तारक एक-दूसरे स्थान पर लाया-ले जाया नहीं जा सके, वह अनिर्हारिम कहलाता है।[2]

## शय्या कल्पिक के प्रकार

संस्तारक स्थान (रहने योग्य स्थान) की रक्षा करने वाले एवं संस्तारक स्थान की गवेषणा करने वाले मुनि दो प्रकार के कहे गये हैं[3]–

**1. रक्षण कल्पिक**–जो बाल और ग्लान न हो, अप्रमत्त हो, गीतार्थ, धृतिमान, वीर्यसम्पन्न और समर्थ हों, ऐसे मुनि संस्तारक स्थान की रक्षा कर सकते हैं।

**2. ग्रहण कल्पिक**–जो वसति ग्रहण की योग्यता रखता हो, वह मुनि ग्रहण कल्पिक कहा जाता है। व्यवहारभाष्य के मतानुसार जिसने शय्याकल्प को सम्यक रूप से पढ़ लिया है, जो उत्सर्ग-अपवाद मार्ग को जानता है, वह ग्रहण कल्पिक है।[4]

अभिप्राय यह है कि संस्तारक की याचना करने वाले मुनि, याचना द्वारा गृहीत संस्तारक का रक्षण करने वाले मुनि एवं संस्तारक स्थान का संरक्षण करने वाले मुनि विशिष्ट गुणों से युक्त होने चाहिए। गुण युक्त मुनि ही निर्दोष संस्तारक की गवेषणा कर सकते हैं। इससे यह भी फलित होता है कि जैन धर्म की आचार संहिता में स्थान या संस्तारक जैसी सामान्य वस्तुएं ग्रहण करने का अधिकार सभी मुनियों को नहीं है।

## शय्या-संस्तारक का परिमाण

शय्या और संस्तारक ये दोनों शब्द समानार्थक भी हैं और भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक भी हैं। इनके परिमाण के आधार पर इनकी भिन्नता बतायी गई है।

निशीथ भाष्यकार ने परिमाण की चर्चा करते हुए बताया है कि शय्या शरीर परिमाण होती है तथा संस्तारक ढाई हाथ लम्बा और एक हाथ चार अंगुल चौड़ा होता है।

शय्या (पृथ्वी शिला या काष्ठ फलक) अचल होती है, जबकि दर्भादि का संस्तारक सचल होता है। इस तरह शय्या-संस्तारक में भेद होता है।[5]

## शय्या-संस्तारक की ग्रहण विधि

आचारचूला के अनुसार काष्ठ पट्ट, चौकी, दर्भ आदि के संस्तारक की याचना करते समय साधु-साध्वी को यह विवेक रखना आवश्यक है कि

1. जो संस्तारक अण्डों, सूक्ष्म जीव-जन्तुओं, सचित्त बीजों, भीगी मिट्टी, मकड़ी के जालों आदि से युक्त हो, वह ग्रहण न करें, क्योंकि जीव-जन्तु युक्त संस्तारक लेने से उनकी विराधना होती है, जिससे संयम की भी विराधना होती है।[6]
2. जो संस्तारक जीव-जन्तु से रहित होने पर भी भारी हो, उसे ग्रहण न करें, क्योंकि भारी संस्तारक को लाने, ले-जाने और उठाने में बहुत कठिनाई होती है। कदाचित उनको उठाते-रखते हुए आत्म विराधना हो सकती है। भारी संस्तारक का प्रतिलेखन भी ठीक से नहीं हो सकता है, अतएव आत्म-विराधना और संयम-विराधना के कारण भारी संस्तारक लेने का निषेध किया गया है।
3. जो संस्तारक जीव-जन्तु से रहित और हल्का भी है, किन्तु गृहस्थ उसे वापस लेने को राजी नहीं हो, तो उस अप्रतिहारिक संस्तारक को भी ग्रहण न करें, क्योंकि गृहस्थ द्वारा पुनः संस्तारक न लेने पर साधु के सामने यह समस्या खड़ी हो सकती है कि वह विहार के समय उसे कहाँ रखे? क्योंकि उसे उठाकर तो विहार नहीं किया जा सकता। दूसरा कारण यह है कि एक व्यक्ति के यहाँ से ली हुई वस्तु दूसरे के यहाँ रखी भी नहीं जा सकती। यदि उसे वैसे ही त्याग दें तो उसके परित्याग आदि का दोष लगता है। इसलिए अप्रतिहारिक संस्तारक लेना निषिद्ध बतलाया गया है।
4. जो संस्तारक जीव-जन्तु रहित है, हल्का है और प्रतिहारिक यानी गृहस्थ उसे वापिस लेने को राजी है, परन्तु शिथिल बन्धन वाला हो, टूट-फूट की स्थिति में हो, तो उसे ग्रहण न करें, क्योंकि शिथिल बंध वाला और टूटने-फूटने वाला संस्तारक लेने पर यदि उसमें विशेष टूट-फूट हो जाये तो साधु-साध्वी को पलिमंथ दोष लगता है, अतएव अस्थिर बंधवाला संस्तारक भी अग्राह्य माना गया है।

सारांशतः जो संस्तारक जीव-जन्तु रहित, हल्का, प्रतिहारिक और दृढ़ बन्धनवाला हो, वही साधु-साध्वी के लिए ग्राह्य है। इसलिए साधु-साध्वी को उक्त लक्षणोपेत संस्तारक ही ग्रहण करना चाहिए।

## संस्तारक गवेषणा का काल

संस्तारक की गवेषणा (खोज) कब, कितने दिन तक, किस प्रकार की जानी चाहिये, इस सम्बन्ध में जैनागमों में स्पष्ट उल्लेख हैं।

व्यवहारसूत्र के अनुसार हेमन्त-ग्रीष्म काल में आवश्यक पाट, चौकी आदि की गवेषणा तीन दिन तक उसी गांव आदि में करें, वर्षाकाल में संस्तारक की गवेषणा तीन दिन तक उसी गांव आदि में या अन्य निकट के गांव आदि में भी की जा सकती है और स्थविरवास के लिए पाट आदि की खोज उत्कृष्ट पाँच दिन तक उसी गांव आदि में या दूर के गांव आदि में भी की जा सकती है।[7]

## संस्तारक ग्रहण का विधान वैकल्पिक भी?

जिन धर्म में वर्षावासी श्रमण-श्रमणियों के लिए संस्तारक की प्राप्ति करना अनिवार्य माना गया है, क्योंकि वर्षा ऋतु में जीव-जन्तुओं की अत्यधिक उत्पत्ति होती हैं। अत: सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों की विराधना से बचने हेतु संस्तारक का उपयोग जरूरी है, जबकि ऋतुबद्धकाल में यह नियम वैकल्पिक है। यदि कोई श्रमण वृद्ध, रुग्ण या निर्बल हो तो मोटे आसन, पाट, फलक, चौकी आदि की गवेषणा करे, अन्यथा निर्दोष भूमि पर शयन आदि करे। इस तरह संस्तारक ग्रहण का नियम सापेक्ष है। व्यवहारभाष्य का अवलोकन करने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि भाष्यकार ने शेषकाल में पाट आदि का निष्प्रयोजन ग्रहण करने पर उसमें प्रायश्चित्त बतलाया है और वर्षाकाल में ग्रहण नहीं करने वाले मुनि को प्रायश्चित्त का भागी कहा है। इस सापेक्ष नियम का उद्देश्य जीव रक्षा एवं शारीरिक समाधि ही मुख्य है। अत: इन निर्देशों को ध्यान में रखते हुए पाट आदि ग्रहण करना चाहिए।

## संस्तारक (बिछौना) ग्रहण किस क्रम से करें?

आगम विधि के अनुसार साधु-साध्वी को बड़े-छोटे के क्रम से शय्यासंस्तारक यानी स्थान एवं बिछौना ग्रहण करना चाहिए।[8] यहाँ संस्तारक ग्रहण से तात्पर्य अनुज्ञापित वसति स्थान पर बिछौना करना है। यह बिछौना चारित्र पर्याय के क्रम से करना चाहिए। इससे संघीय व्यवस्था एवं अनुशासन का सम्यक अनुपालन होता है।

आगमिक व्याख्या साहित्य में इस विषयक स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्त्तक– इन तीन गुरुजनों का क्रमश: संस्तारक करें।

उसके बाद ज्ञानादि सम्पदा को प्राप्त करने के लिए जो साधु अन्य गण से आया हुआ है उसके बिछौने के लिए स्थान दें। तत्पश्चात रुग्ण साधु, अल्प उपधि वाला साधु, उद्यमशील साधु, रातभर वस्त्र न ओढ़ने का अभिग्रह लिया हुआ साधु, स्थविर, गणी, गणधर, गणावच्छेदक, फिर अन्य साधुजन इस प्रकार संथारा करने हेतु अनुक्रम से स्थान ग्रहण करें।[9]

यहाँ यह भी बताया गया है कि नवदीक्षित या अल्प आयु वाले साधु को रत्नाधिक (चारित्र पर्याय में ज्येष्ठ) साधु के समीप सोने का स्थान देना चाहिए, जो रात में उसकी सार-सम्भाल कर सके। इसी प्रकार वैयावृत्य करने वाले साधु को ग्लान साधु के समीप स्थान देना चाहिए, जिससे वह रोगी साधु की यथासमय परिचर्या कर सके। इसी तरह शास्त्राभ्यासी नव दीक्षित साधु को उपाध्याय आदि के समीप स्थान देना चाहिए जिससे कि वह जागरणकाल में अपने कंठस्थ सूत्रों का पुनरावर्तन आदि करते समय उनसे सहयोग प्राप्त कर सके।

यदि उक्त बिन्दुओं पर गहराई से मनन किया जाए तो पाते हैं कि जैन धर्म पूर्णत: विनयमूलक धर्म है। इस परम्परा में पूज्यजनों को सर्वोच्च स्थानीय माना है। उनमें भी ज्ञानाभ्यासी, अतिथि, रोगी, अभिग्रहधारी आदि मुनियों को संथारा क्रम में विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। मूलत: चारित्र पर्याय की न्यूनाधिकता की अपेक्षा उत्क्रम-व्युत्क्रम से संथारा बिछाने का प्रावधान है। लौकिक व्यवहार में भी बड़े-छोटे के क्रम से बैठना एक आदर्श संस्कृति का द्योतक माना जाता है।

## संस्तारक ग्रहण की आपवादिक विधि

सामान्यतया किसी भी स्थान पर बैठना या ठहरना हो तो भिक्षु को पहले आज्ञा लेनी चाहिए, उसके पश्चात वहाँ ठहरना चाहिए। इसी तरह पाट आदि अथवा तृण आदि अन्य कोई भी पदार्थ लेने हों तो पहले गृहस्थ से अनुमति लेनी चाहिए, फिर उसका उपयोग करना चाहिए।

मालिक की आज्ञा लेने से पूर्व किसी भी वस्तु को ग्रहण करना अथवा उसके बाद आज्ञा लेना अविधि है। इससे तृतीय महाव्रत दूषित होता है। कदाचित मकान की दुर्लभता हो और स्थान का स्वामी वहाँ न हो तो परिस्थितिवश अविधि से ग्रहण करने की आपवादिक छूट दी गई है तथापि यह ध्यान रखना जरूरी है कि आपवादिक स्थिति का निर्णय गीतार्थ (बहुश्रुत) भिक्षु ही कर सकते हैं अगीतार्थ भिक्षु को इसका अधिकार नहीं है, किन्तु गीतार्थ की

निश्रा में वे इस अपवाद का आचरण कर सकते हैं।

संस्तारक ग्रहण करने की आपवादिक विधि के सम्बन्ध में बताया गया है कि 'जहाँ वसति मुश्किल से मिलती हो उस गाँव में कुछ साधु आगे जाएं और किसी उपयुक्त मकान में आज्ञा लिए बिना ही ठहर जाएं, जिससे मकान का मालिक रुष्ट होकर वाद-विवाद करने लगे। तब पीछे से अन्य साधु या आचार्य पहुँचकर उस साधु को आक्रोशपूर्वक कहें कि 'हे आर्यों! एक ओर तो तुमने इनकी वसति ग्रहण की है, दूसरी ओर इनको कठोर वचन बोल रहे हो। मकान मालिक के साथ इस प्रकार का दोहरा अपराधमय व्यवहार करना उचित नहीं है। चुप रहो, शान्त रहो।' इस प्रकार मकान मालिक को प्रसन्न करें और नम्रता से वार्तालाप करके आज्ञा प्राप्त करें।[10] यह संस्तारक ग्रहण की अपवाद विधि है। उत्सर्ग मार्ग में पहले अनुमति लेकर फिर वसति में प्रवेश करते हैं।

यदि हम अपवाद विधि का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं तो इस विधि द्वारा वसति प्राप्त करने में मायाचार एवं असत्य के पोषण का साक्षात दोष लगता है। फिर भी वसति के द्वारा संयम आराधना की विशेष संभावनाएं हों तो अल्प पाप और बहु निर्जरा का सिद्धान्त घटित होने से वह दोष-दोष नहीं रह जाता है।

## संस्तारक सम्बन्धी कतिपय निर्देश

जैन साहित्य में संस्तारक के प्रकार, प्रयोजन आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। मुनि धर्म में किसी तरह का दोष न लगे, इस उद्देश्य से संस्तारक गृहीता द्वारा पुनः पुनः आज्ञा लेने का विधान किया गया है। शास्त्रों में बार-बार अनुमति लेने के निम्न हेतु बताये गये हैं–

जिस क्षेत्र में साधु ने आषाढ़ महीने में कुछ दिन रहने के लिए मकान या पाट आदि ग्रहण किया हो और कारणवश उसे उसी क्षेत्र में चातुर्मास के निमित्त रहना पड़े तो चातुर्मास के लिए उनकी पुनः आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए या उन्हें मालिक को लौटा देना चाहिये। यदि निश्चित अवधि के लिए अनुमति प्राप्त पाट आदि का अधिक समय तक उपयोग किया जाये और संवत्सरी तक भी उसकी पुनर्आज्ञा प्राप्त न की जाये या उन्हें न लौटाये तो लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसी तरह चातुर्मास के लिए शय्या-संस्तारक ग्रहण किये हों और चातुर्मास के बाद किसी शारीरिक कारण से विहार न हो सके तो दस दिन के अन्दर उन

शय्या-संस्तारकों की पुनः आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिये या उन्हें लौटा देना चाहिए।[11]

जिस मकान में रहने की अपेक्षा से शय्या संस्तारक ग्रहण किया हो, उसे किसी कारणवश अन्य मकान में ले जाना हो तो उसके मालिक की पुनः आज्ञा लेनी चाहिए। इसका कारण यह है कि शय्या-संस्तारक का मालिक साधु के ठहरने योग्य स्थान को ध्यान में रखकर ही उनके उपयोग की आज्ञा देता है तथा शय्यातर भी अपने मकान में उपयोग लेने की अपेक्षा से ही आज्ञा देता है। अतः मालिक अनुमति लिये बिना पाट आदि को अन्यत्र ले जाने पर अस्तेय व्रत का खंडन होता है। इसी के साथ संस्तारक दाता का क्रुद्ध होना, मुनि की निन्दा करना, आदि अनेक दोषों की संभावनाएं रहती हैं।[12]

प्रस्तुत सूचनाओं के क्रम में यह बिन्दु भी ध्यान देने योग्य है कि पाट आदि कोई भी वस्तु उपयोग हेतु लायी गयी हो और वह कुछ काल के लिए उपयोग में न आ रही हो तो उसे उसी उपाश्रय में स्वनिश्रा के अधीन परित्यक्त किया जा सकता है किन्तु उसे जब कभी पुनः लेने की जरूरत पड़ जाये तो दुबारा आज्ञा लेकर ही उन पाट आदि का उपयोग करना चाहिए।[13]

कदाचित संस्तारक-पाट आदि प्रत्यर्पणीय कोई भी उपधि वर्षा से भीग रही हो तो उन्हें तुरन्त सुरक्षित स्थान पर रख देना चाहिए, अन्यथा प्रायश्चित्त आता है। यह अनुभूत सत्य है कि स्वयं की उपधि को तो कोई भी भीगने देना नहीं चाहता, किन्तु पुनः लौटाने योग्य संस्तारक आदि के प्रति उपेक्षा हो सकती है। यद्यपि वर्षा में जाना विराधना का कारण है, किन्तु नहीं हटाने में भी अन्य अनेक दोषों की संभावनाएं होने से उसकी उपेक्षा करने का भी प्रायश्चित्त बताया गया है।

यदि उपधि भीग जाये तो कुछ समय के लिए अनुपयोगी हो जाती है। उसमें फूलन आ सकती है, कुंथुवे आदि जीवों की उत्पत्ति हो सकती है, अप्काय की विराधना भी सम्भव है, जिसकी वस्तु है उसे ज्ञात होने पर वह नाराज हो सकता है, आदि कई दोष सम्भावित हैं। इस प्रकार की उपेक्षा वृत्ति के कारण शय्या-संस्तारक मिलना भी दुर्लभ हो जाता है।

इसी कारण शय्या-संस्तारक को विधिवत लौटाना चाहिये, खो गये शय्या-संस्तारक की गवेषणा करनी चाहिये, अधिकृत संस्तारक की प्रतिदिन

प्रतिलेखना करनी चाहिये तथा उपयोग में आने वाले पाट आदि उपकरणों को सुरक्षित स्थान पर रखना चाहिये, अन्यथा पूर्व की भाँति अनेक तरह के दोष लग सकते हैं।

इन निर्देशों का मुख्य उद्देश्य चारित्र धर्म की वृद्धि, अधिकृत नियमों के प्रति सजगता एवं संस्तारक दाताओं के सम्बन्ध में विश्वास की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखना है।

## संस्तारक प्रत्यर्पण विधि

आगम उल्लेखानुसार साधु-साध्वी को गृहस्थ के यहाँ से संस्तारक आदि कई वस्तुएँ प्रतिहारिक रूप में अर्थात पुनः लौटाने की शर्त पर लानी पड़ती है। जब उन वस्तुओं का प्रयोजन पूर्ण हो जाये तो उन्हें पुनः गृहस्थ को सौंपना आवश्यक है।

संस्तारक आदि वस्तुएँ गृहस्थ को किस विधिपूर्वक लौटानी चाहिये? आचारचूला में इस सम्बन्ध में दो सूचनाएं दी गई हैं। पहली सूचना यह है कि साधु-साध्वी लाया हुआ संस्तारक दाता को वापस लौटाना चाहें तो उस समय यह निरीक्षण करें कि पाट आदि के किसी कोने में मकड़ी के जाले या अण्डे आदि तो नहीं हैं? यदि दिखायी पड़ जाये तो प्रतिलेखन-प्रमार्जन द्वारा उन्हें दूर करके सुपुर्द करें। सामान्यतया साधु-साध्वी का यह आचार है कि वे अपनी अधिकृत वस्तुओं का प्रतिदिन प्रतिलेखन करें चाहे वे प्रतिहारिक हो या अप्रतिहारिक। फिर भी संयोगवश जीव-जन्तु उस संस्तारक पर चढ़ सकते हैं या जन्तुओं के अण्डे उसमें हो सकते हैं। इसलिए गृहस्थ को वापस सौंपते समय वह वस्तु भली भाँति देख ली जानी चाहिये।

इस संदर्भ में दूसरा निर्देश यह है कि साधु-साध्वी गृहस्थ के यहाँ से जो सामग्री पुनः लौटाने की शर्त पर मांगकर लावें, उन्हें लौटाने तक सही स्थिति में रखें। उन्हें जैसी-तैसी स्थिति में वापस न करें।[14]

उक्त दोनों निर्देश अहिंसा, संयम और उनके उपयोग में जागरूक रहने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर दिए गये हैं। यदि संस्तारक का भलीभाँति निरीक्षण न करके उसे यों ही वापस कर दिया जाये तो जीव विराधना संभावित है तथा यदि ली हुई वस्तु को साफ-सुथरी और ठीक हालत में न लौटाई जाये तो साधु-साध्वी की गृहस्थ पर अच्छी छाप नहीं पड़ती है। इससे अन्य साधुओं के लिए

भी परेशानी पैदा हो सकती है। एक मुनि द्वारा बरती गई असावधानी का दुष्परिणाम अन्य मुनियों को भुगतना पड़ता है। इससे असजग मुनि अन्तराय आदि कर्मों का बन्ध भी कर लेता है। इसकी वजह से संस्तारक न देने वाला गृहस्थ भी मोहनीय आदि कर्म बांध लेता है, अत: साधु-साध्वी गृहीत पाट आदि का विवेकपूर्वक उपयोग करें।

## संस्तारक ग्रहण के प्रयोजन

संस्तारक ग्रहण का प्रयोजन क्या हो सकता है? इस तथ्य पर यदि मनन किया जाए तो मूलागमों के अनुसार उसके निम्न उद्देश्य दृष्टिगत होते हैं[15]–

वर्षावास के दिनों में गवेषणापूर्वक संस्तारक ग्रहण करना उत्सर्ग मार्ग है, क्योंकि इस समय जमीन गीली या नमी युक्त रहती है। ऐसी भूमि पर शयन करने से उपधि अधिक मलिन हो सकती है, उस उपधि को ओढ़कर गोचरी आदि जाने पर वर्षा आ जाये तो अप्काय की विराधना होती है अथवा उपधि अधिक मलिन हो तो उसमें जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। मलिनता के कारण उपधि नमी और जुँओं से भी युक्त हो जाती है, निद्रा भी ठीक से नहीं आती है। अनिद्रा से अजीर्ण और अजीर्ण से रोगोत्पत्ति की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। अतएव इन दोषों के निराकरणार्थ गीली या नमी भूमि होने पर पाट, घास आदि अवश्य ग्रहण करने चाहिए। पुनर्विवेच्य है कि नमी युक्त भूमि वर्षाकाल में विशेष रूप से रहती है। अत: उन दिनों में संस्तारक ग्रहण करने का अनिवार्यत: विधान किया गया है।

संस्तारक ग्रहण के कुछ अन्य कारण भी निर्दिष्ट हैं–

1. जहाँ उपधि या शरीर बिगड़ने की अधिक संभावना हो।
2. जहाँ चीटियाँ, कुंथुवे आदि जीवों की विराधना होती हो।
3. जहाँ कानखजूरा, चूहे, बिच्छू, सर्प आदि की अधिक संभावना हो।
4. यदि शारीरिक समस्या के कारण भूमि पर बैठने-सोने में मुश्किल हो रही हो तो उन स्थितियों में पाट-घास आदि अवश्य ग्रहण करने चाहिये, अन्यथा जीव हिंसा, संयम हानि एवं आत्मविराधना हो सकती है।

व्यवहारभाष्य में तृण संस्तारक एवं फलक (पाट) ग्रहण करने के निम्न कारण बताये गए हैं–[16]

कदाचित मुनि उपद्रव आदि कारणों से ऐसे प्रदेश या स्थान में चला जाये, जहाँ वर्षा ऋतु में नमी (सीलन) की प्रचुरता हो, सीलन युक्त भूमि के कारण

उपधि मलिन होने की संभावना हो, अजीर्ण का भय रहता हो, वहाँ तृण संस्तारक अवश्य ग्रहण करना चाहिये। यदि किसी प्रदेश की भूमि कीचड़, कुंथु आदि प्राणियों से संसक्त हो, हरितकाय आदि से युक्त हों तो वहाँ भी फलक-संस्तारक ग्रहण करना चाहिये।

कोई मुनि अनशन स्वीकार करने के लिए उद्यत हो तब सामान्यत: वस्त्र का संस्तारक (संथारा) करना चाहिये, जिससे कोमलता के कारण उसे समाधि मिल सके। यदि संस्तारक के लिए वस्त्र का उपयोग न करें तो छेद, संधि एवं बीजों से रहित तथा एक मुखी कुश आदि तृणों का उपयोग करना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाट या तृण आदि के संस्तारक का उपयोग चारित्र रक्षा, जीव यतना एवं दैहिक स्वस्थता के उद्देश्य से किया जाता है।

## उपसंहार

'शय्या' अर्थात स्थान या वसति, 'संस्तारक' अर्थात बिछाने योग्य काष्ठपट्ट, तृण आदि। निर्दोष स्थान और संस्तर की खोज करना शय्या-संस्तारक विधि कहलाती है।

शय्या और संस्तारक दोनों पृथक-पृथक शब्द हैं। दोनों के शब्दार्थ भी भिन्न-भिन्न हैं, यद्यपि दोनों में आधार-आधेय सम्बन्ध हैं। शय्या आधार है और संस्तारक आधेय है। संस्तारक-शय्या के आश्रित ही रहता है। इसीलिए आगम पाठों में प्राय: संस्तारक के साथ 'शय्या' शब्द का प्रयोग किया गया है।

यह जैन श्रमण-श्रमणियों का वैकल्पिक आचार है। संयमलक्षी एवं आत्मलक्षी साधकों की दृष्टि से इसका मूल्य पूर्वकाल से आज तक यथावत है।

जब हम इस सन्दर्भ में जैन इतिहास का अध्ययन करते हैं तो यह वर्णन जैनागमों में प्रथम अंग आगम आचारांगसूत्र में मिलता है। इसके अनन्तर यह उल्लेख बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि सूत्रों में देखा जाता है। तत्पश्चात यह विवरण पूर्वोक्त आगमों की टीकाओं में सुविस्तृत रूप से प्राप्त होता है। इस तरह आगमों एवं व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त इस विषयक विवेचन इससे परवर्ती ग्रन्थों में लगभग नहीं है। इसी का दुष्परिणाम कह सकते हैं कि आज इस आचार विधि के स्वरूप में कई परिवर्तन आ चुके हैं।

आधुनिक दृष्टि से देखा जाए तो 'शय्या-संस्तारक' की गवेषणा कब, किस विधिपूर्वक की जानी चाहिये, इस विषय के ज्ञाता मुनि नहींवत है।

पाद विहार करते हुए जहाँ जैन परिवारों के घर नहीं आते हैं उन क्षेत्रों को छोड़कर प्राय: जहाँ जैन संघ हैं, वहाँ पहले से ही शय्या-संस्तारक की पूर्ण व्यवस्था रहती है। धर्म आराधना के नाम से बड़े-बड़े भवन सब जगह बन रहे हैं। वहाँ साधु-साध्वियों के लिए उपयोगी पट्टा, चौकी, फलक आदि की व्यवस्था भी मौजूद रहती है। इसी के साथ वस्त्र धोने के साधन (बाल्टी-परात आदि), गर्म जल को शीतल करने के साधन, पढ़ने के साधन आदि अनेक तरह की सुविधाएँ एक मेहमान की भाँति भवन या उपाश्रय बनाने के साथ उपलब्ध करा दी जाती है ताकि मुनिवर्ग जब आएं तो सुविधानुसार उनका उपयोग कर सकें। इस तरह उपलब्ध सुख-सुविधाओं के बीच रहने वाले साधु-साध्वी गवेषणा सम्बन्धी क्रिया से बच जाते हैं। कभी-कभार मुनि लोग गवेषणा करने के लिए निकलते भी हैं तो कुछ गृहस्थों को उनके द्वारा पाट आदि उठाकर लाना रुचिकर नहीं लगता है। वे इस तरह की प्रवृत्तियों को स्वयं का या जिनशासन का अपमान मानते हैं। इस मूल विधि के अभाव में संस्तारक गवेषणा का काल, संस्तारक सुपुर्द करने की विधि आदि भी प्रचलन में नहीं रह गई है।

आजकल इस सम्बन्ध में मात्र इतनी ही विधि दिखायी देती है कि साधु-साध्वी संघीय सदस्यों से अनुमति ग्रहण कर उपाश्रय में प्रवेश करते हैं। उसके अनन्तर वहाँ जो भी गृहस्थ श्रावक खड़े हों अथवा जो सेवाभावी आगेवान हो या उपाश्रय की व्यवस्था को संभालता हो उस व्यक्ति से पाट-चौकी आदि की मौखिक अनुमति ले लेते हैं और जब उपाश्रय से प्रस्थान करते हैं तब भी मौखिक रूप से संभला देते हैं। आधुनिक काल के मकान पक्की फर्श वाले होने से तृणादि की तो जरूरत ही नहीं रहती है।

जैन आगमों में वर्षाकाल के समय पाट आदि ग्रहण करने का जो उत्सर्ग विधान दिखलाया गया है वह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पूर्णत: घटित नहीं होता, क्योंकि उस काल में मकानों की फर्शे कच्ची होती थीं अथवा साधुजन छोटे कस्बों में या शहरी इलाकों के बाहर उद्यानादि में निवास करते थे। तब प्राकृतिक रूप से जीव-जन्तुओं की अधिक उत्पति होने के कारण पाट आदि की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती थी, जबकि कालान्तर में पक्के फर्श युक्त मकान होने से जीव-जन्तुओं का उपद्रव नहीं के बराबर होता है। इस स्थिति में

संस्तारक ग्रहण की अनिवार्यता वैकल्पिक हो जाती है। यहाँ यह विवेक रखना आवश्यक है कि जहाँ आस-पास का स्थान खुला हो, वृक्ष आदि की अधिकता हो, पानी-कीचड़ आदि की बहुलता हो, उपाश्रय नीचे वाले भाग में हो तो जीव विराधना की संभावना होने से पाट आदि का ग्रहण करना जरूरी है।

इस तरह हम पाते हैं कि संस्तारक सम्बन्धी विधि नियमों में कई परिवर्तन आए हैं।

यदि जैन धर्म और इतर धर्म के परिप्रेक्ष्य में इस विधि का तुलनात्मक अवलोकन किया जाए तो पाते हैं कि जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा के सभी साधु-साध्वियों के लिए संस्तारक सम्बन्धी विधि-नियम एक समान हैं। देशकालगत स्थितियों के प्रभाव से कुछ परिवर्तन भी आया हो तो वह अलग बात है। परवर्ती काल में आये परिवर्तन क्रम में यह कहा जा सकता है कि पाट आदि के स्थान पर संथारा (ऊनी वस्त्र) और उत्तरपट्ट (सूती वस्त्र) का उपयोग शुरू हुआ है।

बहुधा पाट आदि के होने पर भी संथारा आदि का उपयोग कर लिया जाता है, जबकि आगम पाठ में बिछाने के रूप में पाट-तृणादि के ही उल्लेख मिलते हैं।

दिगम्बर परम्परा में मूल विधि के अनुसार पाट-तृणादि का उपयोग अब भी किया जाता है। ये अचेल (निर्वस्त्र) रहते हैं, अत: उनके लिए संथारा-उत्तरपट्ट रूप वस्त्रद्वय की कल्पना कैसे संभव है?

वैदिक साहित्य में इस विषयक पृथक रूप से तो कोई जानकारी प्राप्त नहीं है, किन्तु मनुस्मृति में इतना उल्लेख है कि 'संन्यासी को खाली चबूतरे पर सोना चाहिये।' इससे ध्वनित होता है कि जैन परम्परा की भाँति हिन्दू परम्परा में भी संन्यासी को सुखदायिनी शय्या का उपयोग नहीं करना चाहिए।[17]

निष्कर्ष रूप में संस्तारक गवेषणा एवं संस्तारक ग्रहण एक आगमिक प्रक्रिया है। इस विधि का यथार्थ रूप से पालन किया जाये तो यह लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों दृष्टि से उपादेय है।

## सन्दर्भ-सूची


1. शय्यतेऽस्यामिति शय्या-वसतिः, सैव संस्तारकः शय्यासंस्तारकः।
   बृहत्कल्पभाष्य, 2924, 4368 की टीका।
2. सिज्जा संथारो वा, परिसाडी अपरिसाडि मो होइ।
   .....नीहारिमो अणीहारिमो, य इति एस संबंधो ॥
   वही, 4599, 4610
3. रक्खण गहणे तु महा, सेज्जाकप्पो य होइ दुविहो उ.....।
   वही, 542,566, 580, 588
4. व्यवहारभाष्य, 3414
5. सव्वंगिया उ सेज्जा, बेहत्थद्धं च होंति संथारो अह संथडा व सेज्जा.....।
   निशीथभाष्य, 1217
6. आचारचूला, मुनि सौभाग्यमल जी, 2/3/9
7. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 8/2-4
8. बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/19
9. वही, संपा. मधुकरमुनि, पृ. 184
10. व्यवहारसूत्र, 8/10-12
11. निशीथसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/50-51
12. (क) वही, 2/53
    (ख) व्यवहारसूत्र, 8/6-8
13. व्यवहारसूत्र, 8/9
14. आचारचूला, 2/3/105
15. निशीथसूत्र, पृ. 55-56
16. व्यवहारभाष्य, 3395, 3396, 3399, 3412
17. मनुस्मृति, 6/43, 46


●

## अध्याय-11

# शय्यातर सम्बन्धी विधि-नियम

जैन दर्शन एक अत्यंत सूक्ष्मदर्शी दर्शन है। यहाँ प्रत्येक क्रिया एवं आचार का निरूपण दीर्घ दृष्टि से सूक्ष्मतापूर्वक किया गया है। श्रमण एवं श्रावक के सम्बन्धों को मर्यादित एवं चिरस्थायी बनाए रखने के लिए कुछ मर्यादाएँ आवश्यक है। विचरण करते हुए मुनि जिस स्थान का उपयोग विश्राम करने या ठहरने के लिए करते हैं उसका ग्रहण आज्ञापूर्वक करना आवश्यक है। जो गृहस्थ या स्वामी उसके प्रयोग की आज्ञा प्रदान करता है वह शय्यातर कहलाता है। किसी स्थान का कोई मालिक न हो तो देवता आदि की आज्ञा से मुनिजन उस का प्रयोग करते हैं। इससे मुनि जीवन में स्वेच्छा वृत्ति का पोषण नहीं होता तथा आश्रयदाता गृहस्थ भी साधुओं के आने पर भी कई चिंताओं से मुक्त रहता है।

### शय्यातर शब्द की अर्थ मीमांसा

आगमिक परिभाषा के अनुसार जो गृहस्थ साधु-साध्वी को स्थान या उपाश्रय प्रदान करता है वह 'शय्यातर' कहलाता है। शय्यातर का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'शय्या तरति-ददातीति शय्यातरः' अथवा 'शय्यादानेन तरति भवसागरमिति शय्यातरः' अर्थात जो शय्या देता है वह शय्यातर है अथवा शय्यादान के द्वारा जो भवसागर से तिर जाता है वह शय्यातर है।

बृहत्कल्पसूत्र में शय्यातर के समानार्थक पाँच नाम वर्णित हैं – 1. सागारिक – आगार शब्द घर का पर्यायवाची है। घर या वसति का स्वामी सागारिक कहलाता है और सागारिक मनुष्य ही शय्यातर कहलाता है। 2. शय्याकार – जो शय्या-आश्रयस्थल का निर्माण करता है। 3. शय्यादाता – जो शय्या यानी वसति देता है। 4. शय्यातर – जो वसति का संरक्षण करने में समर्थ है अथवा साधुओं की आपदाओं से रक्षा करने में समर्थ है अथवा शय्या के दान से संसार-प्रवाह को तर जाता है। 5. शय्याधर– जो जीर्ण-शीर्ण वसति का लेपन आदि करवाता है अथवा शय्यादान द्वारा स्वयं को नरक से बचा लेता है।[1]

## शय्यातर के प्रकार

शय्यातर व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं – 1. वसति का मूल मालिक और 2. मालिक द्वारा नियुक्त अधिकारी। ये दोनों भी दो-दो प्रकार के वर्णित हैं– 1. एक और 2. अनेक। स्वामी एक भी हो सकता है और अनेक भी हो सकते हैं। इसी प्रकार स्वामी द्वारा नियुक्त अधिकारी एक भी हो सकता है और अनेक भी हो सकते हैं। पूर्वोक्त चारों पदों के मिलने से चतुर्भंगी बनती है–

1. एक स्वामी और एक स्वामी तुल्य
2. एक स्वामी और अनेक स्वामी तुल्य
3. अनेक स्वामी और एक स्वामी तुल्य
4. अनेक स्वामी और अनेक स्वामी तुल्य

इन विकल्पों में से दूसरा और तीसरा विकल्प शुद्ध तथा पहला और चौथा विकल्प अशुद्ध है।[2]

**अपवाद–** यद्यपि चौथा भंग मुनि के लिए अकल्प्य है किन्तु प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार के मतानुसार यह नियम वैकल्पिक है, जैसे किसी स्थान पर अनेक स्वामियों की वसति हो और गृहस्थ साधु-सामाचारी का ज्ञाता होने से मुनि को निवेदन करे कि 'भगवन्! आप इस वसति को ग्रहण करिये तथा हम में से किसी एक को शय्यातर बनाइये।' ऐसी स्थिति में साधु किसी एक को शय्यातर मानकर वसति ग्रहण कर सकता है और शेष घरों से भिक्षा ले सकता है अथवा यदि साधुओं की संख्या अधिक हो फिर भी उस ग्राम में शय्यातरों को छोड़कर भी आहार-पानी की उपलब्धता की दृष्टि से सभी का निर्वाह सरलता से हो सकता हो तथा सभी श्रावकों ने वसति दान किया हो तो सभी वसति के मालिकों को शय्यातर रूप में स्वीकार करें। यदि भोजन-पानी की दृष्टि से सभी का सरलता से निर्वाह न होता हो और सभी ने वसति न दी हो तो एक शय्यातर माना जा सकता है। दो शय्यातर हो तो एक दिन के अन्तर से शय्यातर बदल कर एक के घर से भिक्षा ग्रहण करें, तीन शय्यातर हों तो प्रत्येक के यहाँ तीसरे दिन, चार शय्यातर हों तो प्रत्येक के यहाँ चौथे दिन भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार संख्या वृद्धि के क्रम से समझना चाहिए।[3]

## वसति दाता शय्यातर-अशय्यातर कब और कैसे?

यह उल्लेखनीय है कि वसतिदाता शय्यातर कब बनता है? इस प्रश्न के जवाब में पन्द्रह मत प्राप्त होते हैं–

• जब शय्या (आवास स्थल) की अनुज्ञा दे दी जाती है। • जब मुनि शय्यातर के अवग्रह में प्रविष्ट हो जाते हैं • जब मुनि गृहस्वामी के आंगन में प्रविष्ट हो जाते हैं • तृण आदि उपयोगी वस्तु की आज्ञा प्राप्त कर लेते हैं • जब मुनि वसति में प्रविष्ट हो जाते हैं • जब उपकरण आदि वसति दाता के घर में स्थापित कर दिये जाते हैं • जब वहाँ स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया जाता है • जब गुरु की आज्ञा से मुनि भिक्षा के लिए चले जाते हैं • जब मुनि वहाँ आहार करना प्रारंभ कर देते हैं • जब पात्र आदि वहाँ रख दिये जाते है • जब वहाँ दैवसिक प्रतिक्रमण कर लिया जाता है • जब वहाँ रहते हुए रात्रि का प्रथम प्रहर बीत जाता है • इसी तरह रात्रि का दूसरा, तीसरा या चौथा प्रहर बीत जाता है।

संक्षेप में कहें तो वसति दाता द्वारा अनुज्ञापित स्थान या उपाश्रय में प्रवेश करने के पश्चात वहाँ आहार कर लिया जाए एवं उपकरण आदि रख दिए जाएं, उसके बाद ही वसतिदाता शय्यातर कहलाता है। उसके पूर्व तक उसका आहारादि ग्रहण किया जा सकता है।[4]

इन सब स्थितियों के उपरान्त भी यदि मुनि वसति दाता द्वारा अनुमत क्षेत्र में प्रविष्ट होने के बाद किसी बाधा के उपस्थित होने पर दूसरी वसति में चले जाएँ तो वह वसति दाता शय्यातर नहीं रह जाता है।[5]

• गीतार्थ सामाचारी यह है कि योग्य वसति में रात्रि भर रहने के उपरान्त भी शय्यातर की भजना है अर्थात उस स्थान का स्वामी भी शय्यातर हो सकता है और अन्य स्थान का स्वामी भी अथवा दोनों शय्यातर हो सकते हैं। जैसे किसी मुनि ने एक वसति में रात्रि विश्राम किया है और दूसरे दिन रात्रिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाएँ अन्यत्र जाकर करते हैं तो मूल वसति (जहाँ रात्रि भर विश्राम किया है) का मालिक शय्यातर नहीं माना जाता है, बल्कि जहाँ प्रतिक्रमण किया है उसका मालिक शय्यातर कहलाता है।

• जो मुनि किसी एक वसति (स्थान) में रात्रि विश्राम करता है और दूसरे स्थान में जाकर प्राभातिक प्रतिक्रमण करता है तो दोनों स्थानों के स्वामी शय्यातर होते हैं। यह स्थिति सार्थवाह आदि के साथ विहार करते समय चोर आदि के भय के कारण उपस्थित होती है, अन्यथा भजना है। जैसे– बस्ती संकीर्ण होने से मुनियों को अलग-अलग रहना पड़े, तो कुछ साधु दूसरे आवास में जाकर रात्रि व्यतीत करते हैं और दूसरे दिन सूत्र पौरुषी वहीं सम्पन्न कर मूल बस्ती में आते हैं तब दोनों गृहस्वामी शय्यातर कहलाते हैं।

• लाटाचार्य के मतानुसार साधु मूल बस्ती (जहाँ आचार्य विराजित हों वहाँ) पर रहें या अन्यत्र रहें, किन्तु आचार्य-गुरु आदि जिसकी वसति में रुके हुये हों वही गृह मालिक सभी मुनियों के लिए शय्यातर माना जाता है, अन्य नहीं।

• जिस वसति में रात्रि विश्राम किया है और प्रभात काल का प्रतिक्रमण किया है उसके पश्चात अन्य वसति में जाने पर भी वही शय्यातर कहलाता है, जिसके अवग्रह में रात्रि विश्राम एवं प्रतिक्रमण किया हो।

• मुनि जिस वसति दाता के यहाँ एक अहोरात्रि से अधिक रूक जाएं तो उसके पश्चात उस गृहदाता का भोजन आदि लेना उन्हें नहीं कल्पता है। फिर तो वहाँ से विहार करने के चौबीस घंटे बाद ही उस गृह स्वामी का आहार ले सकते हैं। जैसे आज दस बजे मुनियों ने किसी श्रावक की वसति का त्याग किया और अन्यत्र चले गये तो दूसरे दिन दस बजे बाद ही उस मालिक के घर का आहार-पानी मुनियों को लेना कल्पता है।[6]

## शय्यातर के अन्य विकल्प

जैन दर्शन सूक्ष्म दृष्टिवादी दर्शन है। इस दर्शन में प्रत्येक पहलू पर गहराई से विचार किया गया है। इसी कारण केवल मनुष्य को ही नहीं अपितु यक्षादि देवता को भी शय्यातर का अधिकारी माना गया है। इस नियम से मार्ग के बीच या वृक्ष की छाया में बैठकर विश्राम करना हो तो उस स्थान के मालिक या वृक्ष अधिष्ठित देव की अनुमति लेना आवश्यक है।[7] इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि यदि विहार करते समय किसी वृक्ष की छाया में विश्राम करना हो और वहाँ पहले से ही कुछ पथिक विश्रामार्थ बैठे हुए हों तो उन्हें पूछकर वहाँ ठहर सकते हैं। यदि रात्रि में वहाँ रहना हो तो एक या अनेक, जितने पथिकों से वह स्थान या वृक्ष घिरा हुआ है उन सबको शय्यातर स्थापित करें। यदि यह संभव न हो तो किसी एक को शय्यातर के रूप में स्वीकार करें और उसकी अनुमति लेकर वहाँ रुकें। इस तरह पथिक भी शय्यातर बनता है।

जिस वृक्ष के नीचे कोई भी पथिक बैठा हुआ नहीं है, यदि उस वृक्ष की छाया में ठहरने का प्रसंग बने तो उस वृक्ष के मालिक व्यंतर देव से अनुज्ञा प्राप्त करें। कोई स्वामी वहाँ न हो तो 'अणुजाणह जस्सावग्गहो' अर्थात यह जिसका स्थान है वह हमें आज्ञा दें– ऐसा कहकर अनुज्ञा लें। यह अनुज्ञा एक मुनि द्वारा प्राप्त कर ली जाए तो अन्य मुनियों के लिए आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक नहीं

होता है। इस तरह वह वृक्ष जिस यक्ष के द्वारा अधिष्ठित होता है, वही यक्ष वहाँ स्थित साधुओं का शय्यातर होता है। उसके लिए अर्पित बलिकूर आदि नैवेद्य शय्यातर पिण्ड कहलाता है। उसे ग्रहण करना साधु के लिए वर्ज्य है अथवा यक्ष वृक्ष के स्वामी को स्वप्न में अवतीर्ण होकर कहे– 'मेरे उद्देश्य से तुम बार-बार भोज करोगे तो मैं तुम्हें कष्ट नहीं दूँगा' उस भोज का भोजन शय्यातरपिंड है अत: वह भी अग्राह्य होता है।[8]

इस तरह हमें ज्ञात होता है कि पथिक और यक्ष भी शय्यातर बनते हैं एवं इनका पिंड भी शय्यातरपिंड कहलाता है।

## शय्यातर पिंड के प्रकार

**पिंड पदार्थ–** शय्यातरपिंड दो, चार, छह, आठ और बारह प्रकार का होता है।[9]

दो प्रकार– 1. आहार 2. उपधि।

- चार प्रकार– 1. अशन 2. पान 3. औघिक उपकरण 4. औपग्रहिक उपकरण।
- छह प्रकार– 1. अशन 2.पान 3. खादिम 4. स्वादिम 5. औघिक उपकरण 6. औपग्राहिक उपकरण।
- आठ प्रकार– 1. अशन 2. पान 3. वस्त्र 4. पात्र 5. सुई 6. कैंची 7. नखछेदनी 8. कर्ण शोधनी।
- बारह प्रकार– 1. अशन 2. पान 3. खादिम 4. स्वादिम 5. वस्त्र 6. पात्र 7. कम्बल 8. पादप्रोञ्छन 9. सुई 10. कैंची 11. नखछेदनी और 12. कर्णशोधनी।

जो गृहस्थ शय्यातर कहलाता है उसके यहाँ से उपर्युक्त वस्तुएँ उसके शय्यातर रहने तक ग्रहण नहीं कर सकते। इन वस्तुओं की जरूरत होने पर अशय्यातर के यहाँ से ही ग्रहण करने का विधान है। जो मुनि निष्प्रयोजन शय्यातर पिंड लेता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। निशीथसूत्र के दूसरे उद्देशक में इस विषयक प्रायश्चित्त विधान की सम्यक चर्चा की गई है।

**अपिण्ड वस्तुएँ–** 1. तृण 2. डगल (पाषाण खण्ड) 3. राख 4. कफ आदि थूंकने का पात्र 5. शय्या (स्थान) 6. संथारा 7. पीठ फलक (पीठ के पीछे रखने का साधन) 8. लेप (पात्र आदि पर लगाने का रंग) तथा 9. शय्यातर के घर का कोई भी सदस्य दीक्षित होना चाहे तो उन्हें ग्रहण कर सकते हैं।[10]

उपलक्षण से चश्मा, पेंसिल छीलने का साधन, पेन आदि तथा पढ़ने के लिए पुस्तक या फर्नीचर की सामग्री आदि भी शय्यातर पिंड नहीं कहलाती है।

उक्त नौ प्रकार की वस्तुएँ शय्यातर के यहाँ से ग्रहण की जा सकती है इसलिए इन्हें अपिण्ड रूप कहा है। इनमें से कुछ वस्तुएं अल्पमूल्यवाली एवं कुछ बिना प्रयास के सहज में प्राप्त होने से शय्यातर के यहाँ उनकी प्रतिदिन भी याचना की जा सकती है इससे अप्रीति, शंका आदि दोषों की सम्भावनाएँ नहीं रहती हैं। अत: मुनि के लिए ये ग्राह्य हैं।

## शय्यातर की अवधि कब तक?

निशीथसूत्र में पूर्व सन्दर्भित चर्चा करते हुए कहा गया है कि 1. यदि किसी गृहस्थ के मकान में एक रात्रि का काल भी व्यतीत नहीं किया हो, केवल दिन में कुछ समय रहे हो तो उस मकान को छोड़ने के बाद वह घर शय्यातर नहीं रहता है।

2. यदि एक या अनेक रात्रि रहने के बाद मकान छोड़ा हो तो छोड़ने के आठ प्रहर (24 घंटे) बाद तक वसति दाता शय्यातर कहलाता है। इस अवधि में उसके यहाँ से आहारादि नहीं लेना चाहिए।

3. एक मंडल में बैठकर आहार करने वाले श्रमण यदि अनेक मकानों में ठहरे हुये हों तो उन सभी मकानों के मालिक शय्यातर कहलाते हैं। अत: उन सभी के सम्बन्ध में भी पूर्वोक्त विधि-नियम ध्यान में रखने चाहिए।

4. यदि कोई श्रमण स्वयं का लाया हुआ आहार करने वाले हों तो भी वे अपने शय्यातर और आचार्य के शय्यातर दोनों को अपना शय्यातर समझें।

सारांशत: किसी भी वसति (स्थान) में आहारादि कर लेने के पश्चात ही उसका मालिक शय्यातर कहलाता है अथवा आहारादि न करने पर भी रात्रि विश्राम या आवश्यक (प्रतिक्रमण) क्रिया की हो तो वसति का मालिक शय्यातर कहलाता है। उस वसति को छोड़ने के चौबीस घंटे पश्चात वसति दाता अशय्यातर बनता है। यदि किसी मकान में विश्रामार्थ अल्प समय बिताया हो तो वह वसति दाता शय्यातर नहीं कहलाता है।[11]

## शय्यातर पिंड ग्रहण के अपवाद

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के अभिमत से कुछ स्थितियों में शय्यातर पिंड ग्रहण कर सकते हैं। यह आपवादिक नियम है। इस अपवाद का सेवन कर्ता मुनि प्रायश्चित्त का भागी नहीं बनता है। वे आपवादिक स्थितियाँ निम्न हैं-

**गाढ़तर–** यदि कोई मुनि विशिष्ट रूप से रोगी हो तो उसके योग्य आहार की प्राप्ति हेतु शय्यातर पिंड ग्रहण कर सकते हैं।

**अगाढ़तर–** यदि कोई मुनि सामान्य रूप से रोगी हो तो उसके योग्य भिक्षा हेतु पहले तीन बार अन्य घरों में जाना चाहिए। यदि वहाँ ग्लान के अनुकूल द्रव्य न मिलें तो उसके बाद शय्यातर के घर से ले सकते हैं।

**निमन्त्रण–** शय्यातर के द्वारा आहार आदि के लिये अत्यन्त आग्रह हो तो एक बार ग्रहण कर सकते हैं।

**दुर्लभ द्रव्य–** आचार्य के सेवन योग्य घी,दूध आदि दुर्लभ द्रव्य अन्यत्र न मिले तो उनके निमित्त शय्यातर के घर से लेना कल्पता है।

**अशिव–** कदाचित दुष्ट व्यन्तर आदि का उपद्रव हो जाये, उस समय अन्यत्र गमन करना शक्य न हो और अन्यत्र भिक्षा न मिलती हो तो शय्यातर के घर से लेना कल्पता है।

**अवमौदर्य–** अकाल की स्थिति होने पर अन्यत्र भिक्षा न मिलती हो तो शय्यातर के यहाँ से आहारादि लेना कल्पता है।

**प्रद्वेष–** कारणवश राजा द्वेषी बन जाये और शहरी प्रजा को भिक्षादान करने का सर्वथा निषेध कर दे तो ऐसी स्थिति में स्थानीय मुनि संघ गुप्त रूप से शय्यातर के घर का आहारादि ग्रहण कर सकते हैं।

**भय–** कदाचित चोरादि का भय हो या तनाव ग्रस्त स्थिति में कर्फ्यू आदि लगा हुआ हो तो शय्यातर पिण्ड लिया जा सकता है।[12]

वर्तमान में इनके अतिरिक्त अन्य अपवाद भी स्वीकार कर लिये गये हैं और उपचारत: उस विधि में भी परिवर्तन कर दिया गया है। हालांकि ये आपवादिक कारण सर्व धर्म संघों में प्रविष्ट हुये हों यह जरूरी नहीं है, किन्तु कुछ परम्पराओं में अवश्य स्वीकार कर लिये गये हैं। जैसे किसी रूग्ण मुनि की सेवार्थ हास्पीटल के निकटवर्ती गृहस्थ के घर पर रुकना हो तो अनुज्ञा लेकर रुक जाते हैं तथा आस-पास अन्य घरों की सुविधा न होने पर शय्यातर का आहारादि भी ग्रहण कर लेते हैं किन्तु जब उस स्थान को छोड़ते हैं तब दिन की संख्या के अनुसार किसी अन्य गृहस्थ से निश्चित द्रव्य राशि (रुपया) शय्यातर को दिलवा देते हैं और इससे यह मान लेते हैं कि हम शय्यातर पिण्ड के दोष से मुक्त हो गये हैं, किन्तु यह गीतार्थ आचरणा नहीं है।

वर्तमान परिपाटी तो यह है कि जिस स्थान विशेष में या जिस गाँव आदि

में ठहरना है वहाँ पहले दिन इन्द्र महाराजा का, दूसरे दिन नगर सेठ का और तीसरे दिन स्थानीय जैन संघ के एक व्यक्ति (परिवार) का घर शय्यातर करते हैं फिर जितने दिन रुकते हैं, स्वेच्छानुसार हर दिन एक-एक घर शय्यातर के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है चाहे वह वसतिदाता न भी हो। वस्तुत: वसति देने वाला गृहस्थ ही शय्यातर कहलाता है।

यहाँ उल्लेख्य है कि जब से साधु-साध्वियों के निमित्त उपाश्रय बनने लगे हैं तब से एक-एक घर या स्वेच्छा से किसी भी गृहस्थ का घर शय्यातर के रूप में मानने की व्यवस्था का सूत्रपात हुआ होगा। उससे पूर्व यह परिपाटी नहीं थी और न किसी ग्रन्थ विशेष में इस तरह का संकेत प्राप्त होता है। यदि उपाश्रय सम्पूर्ण श्री संघ के सहयोग से बनाया गया है तब तो आहार सुलभता की दृष्टि से एक-एक घर शय्यातर करने का नियम उचित है अन्यथा व्यक्तिगत उपाश्रय हो तो प्रतिदिन वसति दाता का घर ही शय्यातर करना चाहिए, किन्तु आज इस विषय के सही गवेषक मुनि गिनती मात्र रह गये हैं। आमतौर पर सुविधापूर्ण परिपाटी का ही अनुकरण किया जा रहा है।

'वसति दाता के घर का आहार नहीं लेना चाहिए' इस नियम को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वैकल्पिक बनाया जा सकता है। प्राचीन काल में इस नियम सम्बन्धी कोई विकल्प नहीं था। चूँकि मुनि वर्ग गृहस्थ के द्वारा स्वयं के लिए निर्मित की गई पुरानी या अतिरिक्त वसति आदि में रुकते थे और उस व्यक्तिगत वसति में रहने के कारण अप्रीति आदि उत्पन्न न हो जाये, इसलिए एकान्तिक रूप से वसतिदाता का आहारादि ग्रहण करना अनुचित ठहराया गया था। लेकिन आज उपाश्रय आदि बन जाने से किसी एक गृहस्थ के आश्रित न होने के कारण वसति दाता का आहार लिया जा सकता है, इसमें तीर्थंकर की आज्ञा विराधना को छोड़कर शेष दोषों की सम्भावनाएँ नहीं के बराबर है। यह एक पक्षीय विकल्प है। दूसरा पक्ष यह है कि यदि किसी गृहस्थ के यहाँ रुकते हैं तो वहाँ से विहार करने के बाद एक अहोरात्रि तक उसके घर का आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

आजकल यह पक्ष अधिक दूषित हो गया है। किसी गृहस्थ के द्वारा निमन्त्रित करने पर उसके यहाँ दो-चार या अधिक दिन भी रुकते हैं और आहारादि भी ग्रहण कर लेते हैं। संभव है कि यह दूषण कुछ परम्पराओं में ही आया हो। यदि मुनि संघ सामूहिक रूप से इस पर विचार करें तो इस दोष का

निराकरण शीघ्र किया जा सकता है। इसके लिए केवल सही समझ एवं संयम निष्ठा की जरूरत है तथा गृहस्थों के द्वारा होने वाली प्रतिक्रियाओं को समझने की जरूरत है।

## शय्यातरपिंड ग्रहण सम्बन्धी निर्देश

सामान्यत: जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए शय्यातरपिंड ग्रहण करना निषिद्ध कहा गया है यद्यपि इससे सम्बन्धित अन्य विधि-निषेध के निर्देश भी प्राप्त होते हैं। जैसे अनेक व्यक्तियों का आहार एक स्थान पर एकत्रित हो एवं उनमें शय्यातर का भी आहारादि हो तो वह आहार कब, किस स्थिति में अग्राह्य होता है और कब ग्राह्य होता है इत्यादि?

## संसृष्ट-असंसृष्ट शय्यातरपिंड ग्रहण के विधि-निषेध

बृहत्कल्पसूत्र में कहा गया है कि अनेक व्यक्तियों का संयुक्त आहार यदि शय्यातर के घर की सीमा में हो और वहाँ शय्यातर का आहार अलग पड़ा हो अथवा सबके आहार में मिला दिया गया हो तो भी साधु को ग्रहण करना नहीं कल्पता।

अनेक व्यक्तियों का सम्मिलित आहार शय्यातर के घर की सीमा से बाहर हो और वहाँ शय्यातर का आहार अलग भी रखा हो तो उनमें से किसी तरह का आहार मुनि को ग्राह्य नहीं होता है।

यदि अन्य सभी के सम्मिलित आहार में शय्यातर का आहार मिश्रित कर दिया गया हो और जिस हेतु से आहार सम्मिलित किया गया था उन देवताओं का नैवेद्य निकाल दिया गया हो, ब्राह्मण आदि को जितना देना है उतना दे दिया गया हो, उसके बाद भिक्षु लेना चाहे तो ले सकता है। उक्त प्रकार के आहार में शय्यातर के आहार का अलग अस्तित्व नहीं है एवं उसका स्वामित्व भी नहीं रहता है। अत: उस मिश्रित एवं परिशेष आहार में से भिक्षु को ग्रहण करने में शय्यातरपिण्ड का दोष नहीं लगता है।[13]

## शय्यातर के घर आये या भेजे गये आहार ग्रहण के विधि-निषेध

दूसरों के घर से शय्यातर के घर पर लाई जा रही खाद्यसामग्री 'आहृतिका' कहलाती है और शय्यातर की खाद्यसामग्री अन्य के घर ले जाई जाए तो 'निहृतिका' कहलाती है। ये आहृतिका-निहृतिका किसी त्यौहार या महोत्सव के निमित्त से हो सकती है। यदि आहृतिका या निहृतिका सामग्री में से कोई व्यक्ति साधु को ग्रहण करने हेतु कहे तो शय्यातर की आहृतिका का आहार जब तक

शय्यातर के स्वामित्व में नहीं हो जाता, तब तक ग्रहण किया जा सकता है तथा शय्यातर की निहृतिका का आहार दूसरे के ग्रहण करने के बाद उससे लिया जा सकता है।

शय्यातर की निहृतिका बाँटने वाले से आहार नहीं लिया जा सकता है, किन्तु शय्यातर की आहृतिका बांटने वाले से उसका आहार लिया जा सकता है।[14]

## शय्यातर के अंशयुक्त आहार ग्रहण के विधि-निषेध

शय्यातर सहित अनेक व्यक्तियों की खाद्यसामग्री एकत्रित हो, उनमें से सागारिक का अंश जब तक अविभाजित है, अव्यवच्छिन्न है, अनिर्णीत है और अनिष्कासित है तब तक उसमें से साधु को आहार लेना नहीं कल्पता है, किन्तु जब सागारिक का अंश विभाजित, व्यवच्छिन्न, निर्धारित और निष्कासित कर दिया जाये, तब उस सम्मिलित भोज्य सामग्री में से दिया गया भक्त-पिण्ड साधु के लिए ग्राह्य हो सकता है।[15]

## शय्यातर के पूज्यजनों को दिये गये आहार ग्रहण का विधि-निषेध

शय्यातरपिंड के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्मता से चिन्तन करते हुए यह भी कहा गया है कि जो भक्त-पान शय्यातर के नाना, मामा, बहनोई, जमाई, विद्यागुरु, कलाचार्य या मेहमान आदि पूज्यजनों के निमित्त बनाया गया हो अथवा वह शय्यातर के घर से लाकर जहाँ पूज्यजन ठहरे हों, वहाँ उन्हें भोजनार्थ समर्पण किया गया हो, अथवा शय्यातर के पात्रों (बर्तनों) में पकाया गया हो, उसके पात्र से निकाला गया हो और उन्हें खिलाने के पश्चात अवशिष्ट भोजन पुनः लाकर सुपुर्द करना ऐसा कहकर सेवक या कुटुम्बीजन द्वारा भेजा गया हो, तो ऐसा आहार भी साधु-साध्वी को लेना नहीं कल्पता है, क्योंकि शेष आहार पुनः शय्यातर को लौटाने का होने से उसमें शय्यातर के स्वामित्व का सम्बन्ध रहता है। यदि वह आहार शय्यातर को पुनः नहीं लौटाना हो तो ग्रहण किया जा सकता है।[16]

निष्कर्ष यह है कि जो भोजन-पानी शय्यातर के आहार से मिश्रित हो, शय्यातर के स्वामित्व में हो, शय्यातर के हिस्से का हो और शय्यातर से सम्बन्धित हो वह मुनि को ग्रहण करना नहीं कल्पता है। इसके विपरीत जो भक्त-पान शय्यातर का होने पर भी उसके स्वामित्व से रहित हो, वह मुनि के लिए ग्राह्य हो सकता है।

## शय्यातरपिंड निषेध के कारण

जैन मुनि शास्त्र मर्यादा के अनुसार किसी शय्यातर के यहाँ का आहार नहीं ले सकते हैं। इस निषेध के पीछे निम्न कारण हैं–[17]

1. शय्यातरपिंड ग्रहण करने से तीर्थंकर भगवान की आज्ञा भंग का दोष लगता है, क्योंकि तीर्थंकरों ने शय्यातरपिंड का निषेध किया है।
2. लौकिक व्यवहार में यह रूढ़ है कि जिसके घर पर अतिथि ठहरते हैं वे प्राय: उसी के यहाँ का भोजन करते हैं, साधु भी यदि ऐसा करे तो उद्गम आदि दोषों की संभावना बढ़ जाती है। दूसरा कारण यह है कि जैन साधु किसी एक घर का मेहमान नहीं होता। अन्य तीर्थिकों में ऐसी परिपाटी है कि वे जहाँ ठहरते हैं वहीं उनके भोजन की व्यवस्था भी करनी पड़ती है। जबकि मुनि को किसी गृहस्थ परिवार का आश्रित या मेहमान नहीं बनना चाहिए, अतएव साधुओं के लिए यह मर्यादा बांधी गई है कि वे स्थान दाता के यहाँ से आहारादि न लें।
3. शय्यातरपिंड ग्रहण करने से शय्यातर की दान भावना में कमी आ सकती है।
4. शय्यातरपिंड का यथावत पालन न करने से स्थान की दुर्लभता भी बढ़ सकती है, क्योंकि स्थान मिलना वैसे भी दुर्लभ होता है फिर आहारादि न देने की भावना वाले एवं उससे कतराने वाले लोग स्थान देना भी छोड़ देते हैं।
5. शय्यातरपिंड ग्रहण करने से अशुद्ध आहार एवं पौष्टिक आहार की संभावनाएं भी अधिक बढ़ जाती हैं जैसे शय्यातर के साथ अति परिचय हो जाये तो वह साधु की अन्तरंग भावना को अच्छी तरह से जानता हुआ भक्ति वश मुनि के मनोनुकूल आहारादि बनाकर दे सकता है। ऐसा आहार आधाकर्मी आदि दोष से युक्त होता है। मुनियों को निरन्तर स्वाध्याय आदि करते देखकर शय्यातर उनका भक्त बनकर रसयुक्त आहार दे सकता है। इससे मुनियों की रसासक्ति बढ़ने का भय रहता है।
6. शय्यातर के घर का निरन्तर रसपूर्ण आहार करने पर मुनि का शरीर स्थूल बन सकता है और सुन्दर वस्त्रादि की प्राप्ति से परिग्रह वृद्धि भी हो सकती है।

इस तरह शय्यातरपिंड ग्रहण का निषेध अनेक दृष्टियों से किया गया है।[18]

## आधुनिक सन्दर्भ में शय्यातर विधि की उपयोगिता

जैन मुनियों के लिए आगमों में शय्यातर का विधान है। यह मुनि जीवन एवं वर्तमान सामाजिक जीवन में निम्न कारणों से उपयोगी है–

शय्यातर के द्वारा मुनि को रहने का स्थान देने से उसे सेवा-स्वाध्याय आदि के लिए स्थान मिल जाता है तथा गृहस्थ को मुनि के सदुपदेश से सद्मार्ग की प्राप्ति हो सकती है। शय्यातर के घर का आहार आदि ग्रहण न करने से गृहस्थ के मन में भी साधु शुश्रूषा आदि करनी पड़ेगी ऐसे दुर्भाव उत्पन्न नहीं होते, जिससे वह सहजतापूर्वक रहने का स्थान प्रदान करता है तथा मुनि जीवन में भी शय्यातर पिंड आदि ग्रहण न करने से प्रमाद, आसक्ति आदि का वर्धन नहीं होता है। इसी प्रकार शय्यातर की अवधारणा को पुष्ट करने से मुनि एवं गृहस्थ के बीच निस्वार्थ सम्बन्ध बन सकता है।

प्रबंधन के संदर्भ में यदि शय्यातर के महत्त्व की समीक्षा करें तो वह जीवन प्रबंधन,समाज प्रबंधन आदि के क्षेत्र में बहुपयोगी हो सकता है। शय्यातरपिंड आदि का जो त्याग किया जाता है उससे सम्बन्धों की अति रागात्मकता आदि नहीं बढ़ पाती। मुनि के चारित्र धर्म में दूषण नहीं लगते, जिससे मुनि जीवन परिशुद्ध रहता है। इसी के साथ समाज के लोगों को भी अपने कर्तव्य का भान होता है। इससे समाज में साधु जीवन के प्रति अहोभाव बढ़ता है तथा साधु भी गृहस्थ की समस्याओं से परिचित होता है, जिससे दोनों में आपसी संतुलन एवं सामंजस्य स्थापित होता है। शय्यातर के द्वारा यदि श्रेष्ठ आहारादि का दान दिया जाए तो मुनि जीवन में स्थान आदि के प्रति आसक्ति एवं राग-भाव उत्पन्न होने की संभावना रहती है वरना राग आदि का उद्भव न होने से कषाय प्रबंधन में भी सहयोग मिल सकता है।

वर्तमान युग की समस्याओं के संदर्भ में यदि शय्यातर की भूमिका पर विचार करें तो यह भौतिक चकाचौंध में लिप्त समाज में आध्यात्मिक जागृति लाता है। इसके द्वारा मुनि के लिए जो वसति सम्बन्धी दोष एवं बाधाएँ उत्पन्न हो रही हैं उनका समाधान हो सकता है। वर्तमान में साधु-साध्वी के प्रति उत्पन्न हो रही गलत धारणाओं एवं भ्रम विनाश में भी शय्यातर आदि के घर में उसके तप त्याग का प्रभाव पड़ सकता है।

## उपसंहार

शय्यातर जैन मुनियों का सार्वकालिक आचार है। इस जंबूद्वीप के भरत, ऐरवत और महाविदेह– इन तीन क्षेत्रों में विचरण कर रहे सर्व साधु-साध्वियों के लिए शय्यातरपिंड ग्रहण करने का उत्सर्गत: निषेध है। यद्यपि मध्य के बाईस तीर्थंकरों और महाविदेह के तीर्थंकरों के लिए आधाकर्मी (साधु के निमित्त बनाया) आहार लेने का निषेध नहीं है, किन्तु शय्यातरपिंड उनके लिए भी वर्जित माना गया है। सामान्यतया पूर्व कथित अपवादजन्य स्थितियों को बाधित कर अन्य किसी भी स्थिति में मुनि को शय्यातरपिंड ग्रहण करना नहीं कल्पता है। इसके निषेध के सामान्य कारणों का उल्लेख किया जा चुका है।

शय्यातर की मूल विधि सर्वप्रथम आचारचूला में प्राप्त होती है। इसमें शय्यातरपिण्ड ग्रहण से होने वाले अनाचार से बचने के लिए साधु-साध्वियों को निर्देश दिया गया है कि वे जिसके स्थान या मकान पर ठहरें उसका नाम और गोत्र पहले से ज्ञात कर लें ताकि आहार के लिए जाने वाले साधु और अन्य आगन्तुक साधु भी शय्यातर के घर का आहार लेने से बच सकें।[19] तदनन्तर निशीथसूत्र में शय्यातरपिंड सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त बताए गये हैं।[20] बृहत्कल्पसूत्र[21] एवं बृहत्कल्पभाष्य[22] में इसका अति विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है। इससे परवर्ती प्रवचनसारोद्धार, विधिमार्गप्रपा आदि में सामान्य वर्णन ही प्राप्त होता है।[23] इस आधार पर कहा जा सकता है कि शय्यातरपिंड सम्बन्धी मूल चर्चा आचारांग आदि आगम ग्रन्थों एवं टीकाओं में स्पष्ट रूप से है।

जैन धर्म की प्रचलित परम्पराओं में इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर मूलक धाराओं में परस्पर कोई भेद नहीं है, यत्किंचित परिवर्तन काल प्रभाव से अवश्य आये हैं, वैदिक या बौद्ध परम्परा में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख देखने को नहीं मिलता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यह सर्व विरतिधर श्रमण-श्रमणी वर्ग का औत्सर्गिक आचार है। शय्यातरपिंड के ग्रहण और अग्रहण का क्रम वर्षावास को बाधितकर नित्य प्रति चलता रहता है तथा आज भी इस क्रियानुष्ठान की परिपाटी श्वेताम्बर की सभी परम्पराओं में विद्यमान है।

## सन्दर्भ-सूची


1. *बृहत्कल्पभाष्य, 3521-3524*
2. *वही, 3525-3526*
3. *प्रवचनसारोद्धार, 800-801 की टीका*

4. निशीथसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/46, पृ. 53
5. बृहत्कल्पभाष्य, 3527-3528
6. (क) बृहत्कल्पभाष्य, 3529-3531, 3536 की वृत्ति
   (ख) प्रवचनसारोद्धार, 802-803 की टीका
7. व्यवहारभाष्य, 3352-3353
8. बृहत्कल्पभाष्य, 4773-4774, 4776
9. वही, 3532-3534
10. (क) बृहत्कल्पभाष्य, 3535
    (ख) प्रवचनसारोद्धार, 808 की टीका
11. निशीथसूत्र, 2/46, पृ. 53
12. प्रवचनसारोद्धार, 808 की टीका
13. बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/14-18
14. वही, 2/19-22
15. वही, 2/23-24
16. वही, 2/25-28
17. तित्थंकर पडिकुट्ठो, आणा अण्णाय उग्गमो ण सुज्झे।
    अविमुत्ति अलाघवता, दुल्लभ सेज्जा य वोच्छेदो॥
    बृहत्कल्पभाष्य, 3540
18. प्रवचनसारोद्धार, 807 की टीका
19. आचारचूला, मुनि सौभाग्यमल, 2/3/90
20. निशीथसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/46-47
21. बृहत्कल्पसूत्र, 2/13-28
22. बृहत्कल्पभाष्य, 3521-3525, 3532-3535
23. प्रवचनसारोद्धार, 800-808

●

## अध्याय-12

# वर्षावास सम्बन्धी विधि-नियम

जैन धर्म में वर्षावास का अत्यन्त महत्त्व है। इसे आध्यात्मिक जागृति के महापर्व के रूप में मानते हैं। इसके माध्यम से स्व-पर कल्याण का उत्तम अवसर प्राप्त होता है। यही कारण है कि वर्षावास को मुनि चर्या का अनिवार्य अंग और महत्वपूर्ण योग माना गया है। इसे वर्षायोग और चातुर्मास भी कहा जाता है। श्रमण के दस स्थित कल्पों में अन्तिम पर्युषणाकल्प है, जिसके अनुसार वर्षाकाल के चार मास तक मुनियों को एक स्थान पर रहने का नियम है। वर्ष के बारह महीनों को छह ऋतुओं में विभाजित किया जा सकता है–

1. वसंत ऋतु (चैत्र-वैशाख) 2. ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ-आषाढ़) 3. वर्षाऋतु (श्रावण-भाद्रपद) 4. शरद ऋतु (आश्विन-कार्तिक) 5. हेमन्त ऋतु (मार्गशीर्ष-पौष) और 6. शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन)। प्राकृतिक दृष्टि से वर्ष को तीन भागों में विभाजित किया गया है–

1. ग्रीष्म–चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़।
2. वर्षा–श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक।
3. शीत–मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन।

यद्यपि ग्रीष्म आदि ऋतुओं की अपेक्षा उक्त तीनों विभाजन चार-चार माह के हैं, किन्तु वर्षाकाल के चार महीनों का एकत्र नाम 'चातुर्मास', 'वर्षावास' आदि रूप में प्रसिद्ध है।[1]

## वर्षावास के विभिन्न अर्थ

वर्षावास का सामान्य अर्थ है–वर्षा सम्बन्धी चार महीनों में एक स्थान पर अवस्थित रहना। वर्षावास का दूसरा अर्थ–वर्षाकल्प, पर्युषणाकल्प, पर्युषणा की आचार मर्यादा आदि है।

वर्षावास-पर्युषणा का दूसरा नाम है। श्वेताम्बर आगमों में वर्षावास का वर्णन 'पर्युषणाकल्प' के नाम से प्राप्त होता है। बृहत्कल्पभाष्य में इसे संवत्सर

कहा गया है।[2] मूलत: वर्षावास और पर्युषणाकल्प ये दो नाम अधिक प्रचलित हैं। इनमें भी वर्षावास-चातुर्मास के चार महीनों में और पर्युषणाकल्प-संवत्सरी पर्व के आठ दिनों में रूढ़ हो गया है। इस प्रकार वर्षावास और पर्युषणा एकार्थ वाचक होने के बावजूद आज पृथक-पृथक अर्थ में प्रयुक्त हैं। यद्यपि वर्षावास और पर्युषणा को अभिन्नार्थक मानना चाहिए।

## वर्षावास (पर्युषणा) के समानार्थी

आगमिक व्याख्याओं में वर्षावास के गुण सम्पन्न पर्याय नाम आठ बतलाये गये हैं, जो निम्न हैं[3]–

1. पर्याय व्यवस्थापन–पर्युषणा (वर्षावास) के दिन प्रव्रज्या पर्याय की संख्या का व्यपदेश किया जाता है–मुझे दीक्षित हुए इतने वर्ष हुए हैं, इसलिए वर्षावास का दूसरा नाम पर्याय व्यवस्थापन है।
2. पर्योसवना–इसमें ऋतुबद्धिक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर्यायों का परित्याग और वर्षाकल्प सम्बन्धी द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है।
3. परिवसना (पर्युषणा)–इस समय मुनिजन परि-समग्र रूप से, वसना-आत्म साधना में स्थित हो जाते हैं अथवा मुनि चार मास तक सर्वथा एक स्थान पर रहते हैं, सब दिशाओं में परिभ्रमण का निषेध कर लेते हैं, इसलिए परिवसना नाम है।
4. पर्युपशमना–इसमें कषायों एवं पूर्व कलह का क्षमायाचना द्वारा सर्वथा उपशमन कर दिया जाता है, अत: इसका नाम पर्युपशमना है। इसका लोक प्रसिद्ध प्राकृत नाम है–पज्जोसवणा। इसी का रूपान्तरित नाम पर्युषणा, पजूषण आदि है।
5. वर्षावास–इस समय वर्षा के चार मास एक स्थान पर रहते हैं।
6. प्रथम समवसरण–निशीथचूर्णि के मत से यहाँ समवसरण का अर्थ है–बहुतों का समवाय। वे दो होते हैं–वर्षाकालिक और ऋतुबद्धकालिक। वर्षाकाल (पर्युषणाकाल) से वर्ष का प्रारम्भ होता है, इसलिए इसे प्रथम समवसरण कहा गया है। किसी तरह का व्याघात न हो तो प्रथम प्रावृट् (आषाढ़) में ही वर्षावास योग्य क्षेत्र में प्रवेश कर लेते हैं।

   बृहत्कल्पटीका में प्रथम समवसरण, ज्येष्ठावग्रह और वर्षावास इन तीनों को एकार्थक कहा है तथा द्वितीय समवसरण और ऋतुबद्ध इन दोनों को समानार्थक बताया है।

7. स्थापना–इस समय वर्षावास सामाचारी की स्थापना की जाती है।
8. ज्येष्ठावग्रह–ऋतुबद्धकाल (शेष आठ महीनों) में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह किया जाता है, जबकि वर्षावास में चार मास का एक क्षेत्रावग्रह होता है, अतएव ज्येष्ठावग्रह नाम है।

## वर्षावास (पर्युषणा) की स्थापना कब और कैसे?

वर्षावास–आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का पावन पर्व है। मुनि और गृहस्थ, दोनों के लिए इस काल का धार्मिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। प्रश्न होता है कि वर्षावास की स्थापना कब की जानी चाहिए? तथा इस सम्बन्ध में शास्त्रीय अवधारणा क्या है?

श्वेताम्बर परम्परा का सुप्रसिद्ध आगम श्री कल्पसूत्र में कहा गया है कि मासकल्प से विचरते हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को आषाढ़ मास की पूर्णिमा के दिन चातुर्मास के लिए एक स्थान पर रहना चाहिए, क्योंकि वर्षाकाल में मासकल्पी विहार करने से साधु और साध्वियों द्वारा एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों की विराधना होती है।[4]

कल्पसूत्रनिर्युक्ति में उल्लेख है कि आषाढ़ मास की पूर्णिमा तक नियत स्थान पर पहुँचकर श्रावण कृष्णा पंचमी से वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए। यदि उपयुक्त क्षेत्र न मिले तो श्रावण कृष्णा दशमी से पाँच-पाँच दिन बढ़ाते हुए भाद्रशुक्ला पंचमी के दिन तक तो निश्चित ही वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए, फिर चाहे वृक्ष के नीचे ही क्यों न रहना पड़े, किन्तु इस तिथि का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[5]

बृहत्कल्पभाष्य, निशीथचूर्णि आदि में उक्त मत का समर्थन करते हुए कुछ विस्तार के साथ इस प्रकार निरूपण किया गया है कि मुनि वर्षावास योग्य क्षेत्र में आषाढ़ी पूर्णिमा को प्रवेश कर लें, कार्तिक पूर्णिमा तक उस क्षेत्र में स्थिरवास करें, उसके बाद वहाँ से निर्गमन कर लें। यदि वर्षा आदि प्राकृतिक उपद्रवों के कारण वर्षावास समाप्ति के तुरन्त बाद विहार न कर सकें तो मिगसर कृष्णा दशमी तक भी वहाँ रहा जा सकता है।

श्रावण कृष्णा पंचमी को वर्षावास सामाचारी की स्थापना करें अर्थात वर्षावास के चार महीनों में पालन करने योग्य मर्यादाओं को धारण करें, परन्तु वह स्थान अनवधारित (अनिश्चित) ही रखा जाये। यदि कोई गृहस्थ पूछ लें कि

क्या आप वर्षावास इधर करेंगे तो मुनि निश्चयपूर्वक कुछ न कहें। यदि अभिवर्धित संवत्सर हो तो बीस दिन-रात तक और चान्द्र संवत्सर हो तो एक मास बीस दिन-रात तक यह अनिश्चितता रखी जाए। इस अवधि के पश्चात शेष काल का निर्धारण कर लें और गृहस्थों के समक्ष इतना कह भी दें कि हम यहाँ वर्षावास के लिए स्थित हैं।

यहाँ प्रतिप्रश्न होता है कि वर्षावास का निर्णय करने में इतना लंबा कालक्षेप क्यों रखा गया? जैनाचार्यों ने इसके समाधान में कहा है कि महामारी, राजद्वेष आदि कारणों से अथवा अच्छी वर्षा के अभाव में धान्योत्पत्ति न होने पर मुनियों को अन्यत्र जाना पड़ सकता है। यदि वर्षावास स्थापना का पहले से ही ज्ञात हो जाये तब लोगों में अपवाद होता है, इन सबसे बचने के लिए कालक्षेप आवश्यक है।

यदि गवेषणा करते हुए आषाढ़ पूर्णिमा तक सुयोग्य क्षेत्र न मिले तथा श्रावण कृष्णा पंचमी तक वर्षावास की स्थापना न हो सके तो पाँच-पाँच दिन रात बढ़ाते-बढ़ाते एक मास और बीस दिन-रात के पश्चात वर्षावास योग्य क्षेत्र न होने पर भी भाद्र शुक्ला पंचमी को वृक्ष के नीचे ही पर्युषण कर लेना चाहिए।

आगमवेत्ता पूर्वाचार्यों ने यह मत भी प्रस्तुत किया है कि यदि विचरण करते हुए आषाढ़ शुक्ला दशमी के दिन वर्षावास योग्य क्षेत्र की प्राप्ति हो जाए तो आषाढ़ी पूर्णिमा को पर्युषण करना चाहिए। पर्युषण पूर्णिमा, पंचमी, दशमी और अमावस्या–इन पर्व तिथियों में करना चाहिए, अपर्वतिथि में नहीं।[6] उक्त कथन पर बल देते हुए दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में कहा गया है कि श्रमण भगवान महावीर वर्षाऋतु के पचास दिन बीत जाने पर वर्षावास के लिए पर्युषित (स्थित) हुए।[7]

कहने का भावार्थ यह है कि आगम परिपाटी के अनुसार आषाढ़ शुक्ल दशमी के दिन वर्षा क्षेत्र मिल जाए तो आषाढ़ पूर्णिमा को ही वर्षावास की स्थापना कर लेनी चाहिए। यदि आषाढ़ पूर्णिमा के दिन वर्षावास के योग्य क्षेत्र की प्राप्ति हो जाए तो श्रावण कृष्णा पंचमी को चातुर्मास स्थापन करना चाहिए। इस प्रकार पाँच-पाँच दिन-रात की वृद्धि करते हुए एक मास और बीस दिन-रात अर्थात भाद्र शुक्ला पंचमी तक प्रवर्द्धित किसी भी दिन में पर्युषण (वर्षावास स्थापन) कर लेना चाहिए, किन्तु श्रावण पूर्णिमा से लेकर पच्चासवें दिन का

उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यह वर्षावास स्थापना की मूल विधि है।

चरम तीर्थाधिपति भगवान महावीर भी वर्षाऋतु के एक मास और बीस दिन-रात (50 दिन) पूर्ण होने पर वर्षावास हेतु अवस्थित हुए थे। इस वर्णन से इस बात की पुष्टि होती है कि वर्षावासी मुनि पचास दिन तक उपयुक्त वसति की गवेषणा के लिए इधर-उधर आ-जा सकता है, किन्तु भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन उसे जो स्थान प्राप्त हो, वर्षावास के परवर्ती 70 दिनों तक उसे वहीं रहना होता है। इसे पर्युषणा कहते हैं। यदि कोई स्थान न मिले तो वृक्ष के नीचे स्थित हो जाना चाहिए।

आज वर्षावास स्थापना का मौलिक स्वरूप बदल चुका है। सामान्यतया चातुर्मास आने के महीनों या वर्षों पहले वर्षाकल्प का क्षेत्र निश्चित हो जाता है, वर्षावास की मौखिक स्वीकृति भी प्रदान कर दी जाती है तथा विशेष आग्रही एवं भावनाशील प्रान्त या देश को ध्यान में रखते हुए विहार का कार्यक्रम भी निश्चित कर लिया जाता है, ऐसी स्थिति में वर्षावास स्थापना का शास्त्रोक्त पालन किस तरह संभव हो सकता है?

दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की लगभग सभी परम्पराओं में आचार्य कालिक के समय के बाद से चातुर्मास की स्थापना पूर्णिमा के दिन न करके चतुर्दशी के दिन की जाती है। क्योंकि उनके शासन काल में एक बार संवत्सरी पर्व की आराधना पंचमी को बाधित कर चौथ के दिन की गई थी।

घटना यह है कि जब मालवा देश पर शातवाहन राजा का आधिपत्य था तो कालिकाचार्य विचरण करते हुए उस प्रान्त में पहुँचे। एक दिन उन्होंने महाराजा शातवाहन से कहा कि 'भाद्र मास में शुक्लपक्ष की पंचमी तिथि को पर्युषणा (संवत्सरी) है।' राजा ने कहा, 'आर्य! उस दिन मेरे इन्द्र महोत्सव होता है अत: उस दिन चैत्य और साधु पर्युपासित नहीं होंगे यानी जिन मन्दिरों, पौषधशालाओं एवं उपाश्रयों में सांवत्सरिक उपासना नहीं हो सकती, इसलिए पंचमी तिथि के स्थान पर छठ के दिन पर्युषणा हो। आचार्य ने कहा कि तिथि का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। राजा ने कहा कि यदि ऐसा है तो चतुर्थी के दिन पर्युषणा हो जाए। आचार्य ने कहा कि ऐसा हो सकता है। इस प्रकार चतुर्थी को पर्युषणा की आराधना की गई। इस तिथि का निर्णय उस समय

कारणवश लिया गया, किन्तु यह आपवादिक परिपाटी मन्दिरमार्गी सम्प्रदाय में आज भी विद्यमान है[8]। यही वजह है कि वर्षावास स्थापना की मूल तिथि में परिवर्तन कर पूर्णिमा की जगह चतुर्दशी का दिन स्वीकारा गया है। स्थानकवासी आदि कुछ परम्पराएँ आज भी पंचमी तिथि के दिन संवत्सरी पर्व मनाते हैं।

## वर्षावास : एक शास्त्रीय चर्चा

वर्षावास, जिनशासन का महान पर्व है। इसका मूल्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। इसकी पूर्वोत्तरकालीन परम्परा का ज्ञान करना अत्यावश्यक है।

**आगम परम्परा**–आगम युग में 'संवत्सरी' यह शब्द प्रचलित नहीं था। संवत्सरी का मूल नाम है–पर्युषणा। पर्युषणा के विषय में आगमों में निर्देश मिलता है कि श्रमण भगवान महावीर ने पर्युषणाकल्प के अनुसार वर्षाऋतु के पचास दिन बीत जाने पर वर्षावास की पर्युषणा की थी। गणधरों, स्थविरों और आधुनिक श्रमण संघ ने भी उस परम्परा का अनुसरण किया। कल्पसूत्र में प्रारम्भ के पचास दिन का विशेष उल्लेख है। समवायांगसूत्र में उत्तरवर्ती दिनों का भी उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार श्रमण भगवान महावीर ने वर्षावास के पचासवें दिन तथा सत्तर दिन शेष रहने पर वर्षावास की पर्युषणा की।

**प्राचीन परम्परा**–भाष्यकार और चूर्णिकार द्वारा दिया गया निर्देश पर्युषणा की प्राचीन परम्परा है। इन व्याख्याकारों ने आषाढ़ पूर्णिमा के दिन पर्युषणा करना उत्सर्ग मार्ग बतलाया है तथा पचास दिन पर्यन्त पाँच-पाँच दिन बढ़ाते हुए पंचमी, दशमी, पूर्णिमा या अमावस्या को पर्युषणा करना अपवाद मार्ग है। इनके मत में यह नियम था कि पर्युषणा पर्व तिथि में होनी चाहिए।

**आधुनिक परम्परा**–आधुनिक परम्परा में पर्युषणा के स्थान पर संवत्सरी शब्द का प्रयोग हो रहा है और पर्युषणा शब्द का प्रयोग संवत्सरी के सहायक दिनों के लिए होता है। इस प्रकार पर्युषणा का मूल रूप संवत्सरी के नाम से प्रचलित हो गया। प्राचीन काल में पर्युषणा का एक ही दिन था, वर्तमान में अष्टाह्निक पर्युषणा मनाई जाती है। संवत्सरी का पर्व आठवें दिन मनाया जाता है।[9]

दिगम्बर परम्परा में संवत्सरी जैसा कोई शब्द उपलब्ध नहीं है। उनकी परम्परा में दश लक्षण पर्व मनाया जाता है। सामान्य विधि के अनुसार उसका प्रथम दिन भाद्र शुक्ला पंचमी का दिन होता है। वास्तविक स्थिति यह है कि

श्वेताम्बर परम्परा में पंचमी से पहले सात दिन जोड़े गए हैं और दिगम्बर परम्परा में नौ दिन उसके बाद जोड़े गए हैं। मूल दिन (पंचमी) में कोई अन्तर नहीं है।

संवत्सरी के सम्बन्ध में मुख्य समस्याएँ चार हैं–

1. दो श्रावण मास 2. दो भाद्रपद मास 3. चतुर्थी और पंचमी 4. उदिया तिथि–घड़िया तिथि।

जैन ज्योतिष के अनुसार वर्षाऋतु में अधिक मास नहीं होते। इस दृष्टि से दो श्रावण मास और दो भाद्रपद मास की समस्या ही पैदा नहीं होती। लौकिक ज्योतिष के अनुसार वर्षाऋतु में अधिक मास हो सकते हैं। दो श्रावण मास या दो भाद्रपद मास होने पर पर्वाराधन की विधि इस प्रकार है–कृष्ण पक्ष के पर्व की आराधना प्रथम मास के कृष्ण पक्ष में और शुक्ल पक्ष के पर्व की आराधना अधिक मास के शुक्ल पक्ष में करनी चाहिए।

इसके अन्तर्गत भी जैन सम्प्रदायों में कुछ सम्प्रदाय दो श्रावण होने पर दूसरे श्रावण में पर्युषणा की आराधना करते हैं। भाद्र मास दो हों तो प्रथम भाद्रपद में पर्युषणा की आराधना करते हैं। उनकी मान्यता यह है कि संवत्सरी की आराधना पचासवें दिन करनी चाहिए। इस तर्क में सिद्धान्त का एक पहलू ठीक है किन्तु दूसरा पहलू 70 दिन शेष रहने चाहिए, विघटित हो जाता है। जो पचासवें दिन को प्रमाण मानकर संवत्सरी करते हैं, उनके मत में 70 दिनों का प्रमाण भी रहना चाहिए। इसी प्रकार 70 दिन प्रमाण मानकर संवत्सरी की जाए तो दो श्रावण होने पर भाद्रपद में और दो भाद्रपद होने पर दूसरे भाद्रपद में संवत्सरी करने की स्थिति में, संवत्सरी से पहले 50 दिन की व्यवस्था विखण्डित हो जाती है।

## वर्षावास में स्थापना किसकी?

जैसा कि पूर्व में कह आये हैं कि वर्षावास योग्य क्षेत्र की प्राप्ति होने पर नियत तिथि के दिन वर्षावास सम्बन्धी सामाचारी की स्थापना की जाती है, क्योंकि स्थापना दिन के बाद से ही वर्षाकल्पिक नियम लागू होते हैं।

यहाँ द्रव्य आदि के विधि-निषेध की स्थापना की जाती है–

वर्षावास में किसी को दीक्षा नहीं देना सचित्त द्रव्य स्थापना है। वस्त्र आदि ग्रहण नहीं करना अचित्त द्रव्य स्थापना है। भिक्षा हेतु पाँच कोश तक ही आना-

जाना क्षेत्र स्थापना है। चातुर्मासिक काल में जो कल्पनीय हो, वही लेना काल स्थापना है। क्रोध आदि कषाय भावों का शमन करना और भाषा समिति आदि के प्रति विशेष जागरूक रहना भाव स्थापना है।[10]

ज्ञातव्य है कि परम्परा से जिसको पहले दीक्षा दी जा चुकी है, श्रद्धा से ओत-प्रोत एवं उत्कृष्ट वैरागी, इन तीन को छोड़कर शेष व्यक्तियों को चातुर्मास में प्रव्रजित करने का निषेध है। इसके पीछे यह कारण खोजा गया है कि अतिरिक्त जीवों को दीक्षित करने पर वे धर्मशून्य हो सकते हैं अर्थात वर्षा आदि में आने-जाने में शंकाशील हो सकते हैं तथा मण्डली में भोजन करने पर और मात्रक में लघु नीति-बड़ी नीति आदि करने पर उनके मन में जिनवचन के प्रति तिरस्कार का भाव पैदा हो सकता है अतः चातुर्मास में दीक्षाकर्म का निषेध है।[11]

## वर्षावास में विहार करने के कारण

सामान्यतया वर्षावासी साधु-साध्वियों को विहार करना नहीं कल्पता है किन्तु स्थानांगसूत्र में इसके पाँच अपवाद बतलाये गये हैं–[12]

1. ज्ञानार्थ–विशेष ज्ञान की प्राप्ति के लिए।
2. दर्शनार्थ–दर्शन-प्रभावक शास्त्र का अर्थ पाने के लिए।
3. चारित्रार्थ–चारित्र की रक्षा के लिए।
4. आचार्य या उपाध्याय की मृत्यु होने पर अथवा उनका कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए।
5. वर्षा क्षेत्र से बाहर रहने वाले आचार्य या उपाध्याय की वैयावृत्य करने के लिए।

उक्त पाँच कारणों से वर्षावास-पर्युषण में विहार किया जा सकता है।

स्थानांगसूत्र के निर्देशानुसार निम्न पाँच कारणों से प्रथम प्रावृत्त (आषाढ़) में विहार किया जा सकता है–[13]

1. शरीर, उपकरण आदि के अपहरण का भय होने पर।
2. दुर्भिक्ष होने पर।
3. ग्राम से निकाल दिये जाने पर।
4. बाढ़ आ जाने पर।
5. अनार्यों द्वारा उपद्रव किए जाने पर।

बृहत्कल्पभाष्य में वर्षावास-पर्युषण में विहार करने के निम्न तेरह कारण उल्लिखित हैं–[14]

1. अशिवादि-महामारी, दुर्भिक्ष, राजद्विष्ट, स्तेनभय आदि स्थितियाँ उत्पन्न होने पर उनसे छुटकारा पाने के लिए।
2. ग्लान–ग्लान की परिचर्या के लिए।
3. ज्ञान–कोई आचार्य जो अपूर्व श्रुत के ज्ञाता हों, अनशन करना चाहते हों, उस श्रुत का व्यवच्छेद न हो जाए इसलिए उसे प्राप्त करने के लिए।
4. दर्शन–दर्शन शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए।
5. चारित्र–स्त्री और एषणा सम्बन्धी दोष निवारण के लिए।
6. विष्वग् भवन–आचार्य की मृत्यु हो जाने पर तथा गण में दूसरा शिष्य आचार्य योग्य न होने पर दूसरे गण की उपसम्पदा स्वीकार करने के लिए अथवा अनशन की विशोधि के लिए।
7. प्रेषित–तात्कालिक कोई कारण उत्पन्न होने पर आचार्य के द्वारा भेजे जाने पर।
8. जल प्रवाह, अग्नि या तेज हवा से वसति भग्न हो गई हो अथवा गिरने जैसी स्थिति में पहुँच गई हो।
9. संक्रामित–श्राद्धकुलों का अन्यत्र संक्रमण हो गया हो।
10. अवमान–परतीर्थिकों के आने से भोजन में कमी हो गई हो।
11. प्राणी–वसति जीव-जन्तुओं से अथवा कुंथु जीवों से संसक्त हो गई हो अथवा उसमें सर्प आदि आकर स्थित हो गए हों।
12. उत्थित–ग्राम उजड़ गया हो।
13. स्थण्डिल–स्थण्डिल भूमि का अभाव हो गया हो।

भगवती आराधना टीका के अनुसार वर्षा योग धारण कर लेने पर भी यदि दुर्भिक्ष पड़ जाये, महामारी फैल जाये, गाँव या प्रदेश में कारणवश उथल-पुथल हो जाये, गच्छ विनाश के संकेत मिल जाये तो देशान्तर में जा सकते हैं।[15]

## वर्षावास में विहार न करने के कारण

नव कल्प विहारी साधु-साध्वी का यह आचार है कि वर्षाकाल के चार मास में वे एक ही स्थान पर निवास करें। उस अवधि में एक गाँव से दूसरे गाँव विचरण न करें। आचारचूला में विहार निषेध के कारण बतलाते हुए कहा गया

है कि वर्षाकाल आने पर वर्षा होने से भूमि सजल हो जाती है, चारों ओर हरियाली छा जाती है, जीवों की उत्पत्ति बढ़ जाती है, बहुत से बीज अंकुरित हो जाते हैं। मार्ग के बीच में प्राणी, बीज, हरियाली, पानी और लीलन-फूलन आदि की बहुलता हो जाती है, बहुत से स्थानों पर कीचड़ जमा हो जाता है, जमीन गीली हो जाती है, मकड़ी आदि के जाले हो जाते हैं। वर्षा के कारण मार्ग रुक जाते हैं, मार्ग पर चला नहीं जाता, मार्ग सूझता नहीं है। जनता द्वारा आक्रान्त मार्ग भी अनन्याक्रान्त सदृश प्रतीत होता है अत: इन परिस्थितियों को देखकर मुनि वर्षाकाल में एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार नहीं करें, अपितु एक स्थान पर ही संयत होकर वर्षावास व्यतीत करें।[16]

बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार वर्षावास में गमन करने पर छह काय की विराधना होती है। वह इस प्रकार है–वर्षा के कारण भूमि आर्द्र और सजल हो जाती है तथा लोगों का आवागमन न होने के कारण सचित्त भी हो जाती है। उस पर चलने से पृथ्वीकाय और अप्काय की विराधना होती है। जगह-जगह पर हरियाली छा जाने एवं लीलन-फूलन आने से वनस्पतिकाय की विराधना होती है। इन्द्रगोप, अलसिया आदि बरसाती क्षुद्रजन्तुओं और प्राणियों की विशेष उत्पत्ति हो जाने के कारण पदाघात से उनकी विराधना हो सकती है। हवा के तीव्र वेग से वायुकाय और अप्काय के साथ तेउकाय की विराधना निश्चित होती है। इसी के साथ कीचड़ आदि के कारण पाँव फिसलने पर गिरने की सम्भावना रहती है, जिससे कोई भी अंग-भंग हो सकता है और शरीर एवं वस्त्र कीचड़ से भर सकते हैं। स्थाणु, कंटक, जलप्रवाह आदि मार्ग के बाधक बन सकते हैं। गिरिनदी के तटवर्ती मार्ग से जाने से अभिघात हो सकता है। भीगने के भय से वृक्ष के नीचे जाकर खड़े रहें तो, उस समय वायु के प्रबल वेग से वृक्ष टूट सकता है। श्वापद, स्तेन आदि संत्रस्त कर सकते हैं। ग्लान द्वारा गीले वस्त्र पहने जाने पर उसे अजीर्ण हो सकता है। इस प्रकार संयम विराधना और आत्मविराधना से बचने के लिए साधु-साध्वी को वर्षावास में एक स्थान पर रहने का निर्देश दिया गया है।[17]

बृहत्कल्प टीका में वर्षावास के समय एक स्थान पर स्थिर रहने का यह कारण भी बताया गया है कि उस समय तक प्राय: गृहस्थों के घरों के सब ओर के पार्श्व भाग चटाइयों से आच्छादित, स्तंभ पर बांस की कम्बिकाओं का

बन्धन, घर का उपरि भाग दर्भ से आच्छादित, दीवारें गोबर से लिप्त, द्वार कपाटों से संरक्षित, घर प्रमार्जित, अत्यन्त साफ-सुथरे और धूप आदि सुगंधित द्रव्यों से सुवासित हो जाते हैं, भूमि को खोदकर जलाशय और नालियाँ बनाई जाती हैं। गृहस्थ ये कार्य अपने प्रयोजन से करते हैं। इसलिए मुनियों को इन स्थानों में रुकना कल्पता है।[18]

विजयोदया टीका में लिखा गया है कि वर्षाकाल में स्थावर और जंगम सभी प्रकार के जीवों से यह पृथ्वी व्याप्त हो जाती है। उस समय भ्रमण करने पर महान असंयम होता है। वर्षा और शीत वायु से आत्मा की विराधना होती है। वापी आदि जलाशयों में गिरने का भय रहता है। जल आदि में छिपे हुए ठूंठ, कण्टक आदि से अथवा जल, कीचड़ आदि से कष्ट पहुँचता है।[19]

कहने का आशय यह है कि वर्षाकाल में विहार करने पर अनेक तरह की बाधाएँ उपस्थित होती हैं इसलिए वर्षाकाल के चार माह तक एक स्थान पर स्थिर रहकर वर्षा योग धारण करना चाहिए।

## वर्षावास के शास्त्रोक्त नियम

वर्षावासी मुनियों के द्वारा निम्नोक्त मर्यादाओं का पालन निश्चित रूप से किया जाना चाहिए।

**वसति ग्रहण सम्बन्धी**–दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि के मतानुसार वर्षावास स्थित साधु-साध्वी तीन उपाश्रय ग्रहण कर सकते हैं। इनमें से जो उपाश्रय प्रतिदिन उपयोग में आता हो और जीव संसक्त (सूक्ष्म जीव जन्तुओं की बहुलता वाला) हो तो उसकी बार-बार तथा असंसक्त हो तो दिन में तीन बार प्रतिलेखना करनी चाहिए। अन्य दो उपाश्रयों की प्रतिदिन प्रतिलेखना और तीसरे दिन पादप्रोंछन से प्रमार्जना करनी चाहिए।[20]

**वस्त्र अग्रहण सम्बन्धी**–कल्पसूत्र के अनुसार वर्षावासी साधु-साध्वियों को उस काल में वस्त्र या पात्रादि ग्रहण करना नहीं कल्पता है, अन्यथा प्रायश्चित्त आता है।[21]

**भ्रमण सम्बन्धी**– दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि के अनुसार वर्षाकाल की आराधनार्थ स्थिर हुए मुनियों को औषधि, ग्लान, वैद्य आदि कारणों से चार-पाँच योजन तक आना-जाना कल्पता है। वे इस मार्ग के बीच रह भी सकते हैं, किन्तु रात्रि नहीं बिता सकते। इसी प्रकार चारों दिशाओं में पाँच कोश तक

भिक्षाचर्या के लिए आ-जा सकते हैं।

हार्द यह है कि भिक्षादि कारणों के उपस्थित होने पर वर्षावासी मुनि पाँच कोश तक गमन कर सकता है इससे अधिक का निषेध है।[22]

**तपवहन सम्बन्धी–** निशीथभाष्य के निर्देशानुसार ऋतुबद्धकाल में प्राप्त तप प्रायश्चित्त का वहन वर्षाकाल में करना चाहिए, क्योंकि उस समय प्राणियों की बहुलता के कारण भिक्षाटन कठिन होता है तथा दीर्घकालिक प्रवास के कारण तप करने की अनुकूलता होती है।[23]

इस समय तप अनिवार्यता के निम्न कारण भी हैं–

1. शीतलता के कारण इन्द्रियाँ उद्दीप्त हो जाती हैं। उनके निरोध के लिए तप आवश्यक है।

2. पर्युषण तप से उत्तरगुण की अनुपालना और एकाग्रता की वृद्धि होती है। वर्षाकाल का आदि मंगल होता है। वार्षिक आलोचना की पूर्ति होती है। आलोचना की सम्पूर्ति के लिए सांवत्सरिक तेला, चातुर्मासिक बेला और पाक्षिक उपवास अवश्य करना चाहिए, क्योंकि तप को व्रत पुष्टिकारक कहा गया है।

वर्षाकालीन तप से बलवृद्धि होती है कारण कि वर्षाकाल स्निग्धता के कारण स्वभावतः शक्ति प्रदायक होता है फिर तप करने से आत्मबल और अधिक बढ़ जाता है।[24]

**आहार ग्रहण सम्बन्धी–**दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार वर्षावास स्थित नित्यभोजी साधुओं को गृहस्थ के घरों में आहार-पानी के लिए एक बार ही निष्क्रमण–प्रवेश करना कल्पता है यानी किसी भी गृहस्थ के घर एक बार आना-जाना कल्पता है। किन्तु आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी और ग्लान के वैयावृत्य के लिए अथवा बाल शिष्य के लिए एक से अधिक बार भी गृहस्थ के घर आ-जा सकते हैं।[25]

**पानक परिमाण सम्बन्धी–**वर्षावास में स्थित नित्यभोजी साधु सब प्रकार के पानी ग्रहण कर सकता है। उपवासी साधु तीन प्रकार के पानी ग्रहण कर सकता है–1. उत्स्वेदिम–आटे का धोवन। 2. संसेइम–उबले हुए केर आदि का धोवन। 3. चाउलोदक–चावल का धोवन। बेले की तपस्या वाला साधु निम्न तीन प्रकार के पानी ले सकता है–तिलोदक, तुषोदक, यवोदक। तेले की तपस्या

वाला साधु निम्नलिखित तीन प्रकार का पानी ले सकता है– 1. आयामक-अवस्रावण-ओसामन, 2. सौवीरक-कांजी, 3. शुद्धविकट उष्णोदक।

अट्ठम (तेला) से अधिक तप करने वाला साधु केवल गर्म जल ले सकता है।[26]

इस प्रकार वर्षाकल्पिक मुनियों के लिए इन दिनों विशिष्ट नियमों के परिपालन का विधान है।

**दिशा ग्रहण सम्बन्धी–**वर्षावास करने वाले साधु-साध्वियों को चारों दिशाओं एवं विदिशाओं में एक कोश सहित एक योजन क्षेत्र का अवग्रह (स्थान) ग्रहण करके रहना कल्पता है। इस क्षेत्र मर्यादा से बाहर 'यथालन्दकाल' ठहरना भी कल्प्य नहीं है।[27]

वर्षावास स्थित साधु-साध्वियों को किसी एक दिशा या विदिशा का निश्चय करके आहार-पानी की गवेषणा करनी चाहिए, क्योंकि वर्षाकाल में श्रमण प्राय: तपश्चर्या आदि में संलग्न रहने से दैहिक दुर्बलतावश कहीं मूर्च्छित हो जाएं या गिर जाएं तो सहवर्ती मुनि उस दिशा में उनकी शोध कर सकें।[28]

वर्षावास स्थित हृष्ट-पुष्ट एवं निरोग साधु-साध्वियों को कोई भी विगय ग्रहण करना नहीं कल्पता है। यदि आवश्यक हो तो आचार्यादि की अनुमति लेकर ग्रहण कर सकते हैं।[29]

वर्षावास स्थित साधु-साध्वियों का शरीर वर्षा जल से गीला हो गया हो तो जब तक न सूखे आहारादि ग्रहण करना नहीं कल्पता है।[30]

**दत्ति ग्रहण सम्बन्धी–** वर्षावास में रहने वाले एवं दत्तिओं की संख्या का नियम धारण करने वाले भिक्षु को आहार की पाँच दत्तियाँ और पानी की पाँच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है अथवा आहार की चार और पानी की पाँच अथवा आहार की पाँच और पानी की चार दत्ति ग्रहण करना कल्पता है। यदि एक दत्ति नमक की डली जितनी भी हो तो भी उस दिन उस आहार से निर्वाह करना चाहिए।[31]

**शय्या ग्रहण सम्बन्धी–** वर्षावास स्थित साधु-साध्वियों को आगम विधि के अनुसार शय्या और आसन अवश्य ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा वर्षावास की आराधना अच्छी तरह नहीं हो सकती।[32]

**मात्रक ग्रहण सम्बन्धी–** वर्षावास स्थित साधु-साध्वियों को तीन मात्रक ग्रहण करना चाहिए–1. मल विसर्जन हेतु 2. मूत्र विसर्जन हेतु 3. कफ विसर्जन हेतु।[33]

**उपधि रक्षा सम्बन्धी–** वर्षावास में रहने वाले साधु-साध्वियों को वस्त्र, पात्र, कंबली आदि किसी भी उपधि को धूप देना हो, आहार-स्थंडिल आदि किसी भी कारण से उपाश्रय के बाहर जाना हो, एकान्त स्थल पर कायोत्सर्ग आदि करना हो तो सहवर्ती मुनियों को सूचित करके जायें यह आगमिक नियम है।[34]

**स्थंडिल भूमि सम्बन्धी–** वर्षावास स्थित साधु-साध्वियों को मल-मूत्र का विसर्जन करने हेतु तीन भूमियों की प्रतिलेखना करनी चाहिए, किन्तु शेष आठ मास में तीन भूमियों की प्रतिलेखना करना आवश्यक नहीं है। इसके पीछे यह कारण है कि वर्षाऋतु में प्राय: त्रस प्राणी, हरी घास, बीज, फूलण और हरे अंकुर पैदा हो जाते हैं, अत: तीन भूमियों की नितान्त आवश्यकता रहती है।[35]

**चिकित्सा सम्बन्धी–** वर्षावास में स्थित साधु-साध्वियों को किसी प्रकार की चिकित्सा करवानी हो तो आचार्य आदि की अनुमति प्राप्त करके ही करवाएं। यदि अनुमति प्राप्त न हो तो नहीं करवाएं, क्योंकि आचार्य आदि आने वाली विघ्न-बाधाओं को स्वानुभव से जान लेते हैं।[36]

## वर्षावास का समय

सामान्यतया आषाढ़ से कार्तिक तक का समय वर्षा और वर्षा से उत्पन्न जीव-जीवाणुओं एवं अनेक प्रकार के तृण, घास का समय रहता है। इसीलिए चातुर्मास की अवधि आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्व रात्रि से आरम्भ होकर कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पश्चिम रात्रि तक मानी जाती है।

अपराजितसूरि के उल्लेखानुसार वर्षावास के समय एक सौ बीस दिनों तक एक स्थान पर रहना उत्सर्ग मार्ग है। विशेष कारण होने पर अधिक और कम दिन भी ठहर सकते हैं।[37] प्राचीन परम्परानुसार आषाढ़ शुक्ला दशमी से चातुर्मास की आराधना करने वाले कार्तिक की पूर्णमासी के पश्चात तीस दिन तक आगे भी सकारण एक स्थान पर ठहर सकते हैं यह दिगम्बराचार्य का अभिमत है। अधिक ठहरने के पीछे वर्षा की अधिकता, शास्त्राभ्यास, दैहिक अस्वस्थता अथवा आचार्य आदि का वैयावृत्य- प्रमुख कारण होने चाहिए।[38]

आचारांगसूत्र के मन्तव्यानुसार वर्षाकाल के चार माह बीत जाने पर विहार कर देना चाहिए, यह श्रमण का उत्सर्ग मार्ग है। यदि कार्तिक महीने में पुन: वर्षा हो जाए और मार्ग आवागमन के योग्य न रहे तो चातुर्मास के पश्चात वहाँ पन्द्रह दिन और रह सकते हैं।[39]

स्थानांगसूत्र की दृष्टि से वर्षाकाल के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद होते हैं। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के दिन से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक 70 दिन एक स्थान पर रहना जघन्य वर्षावास है। श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक चार महीनों तक एक स्थान पर रहना मध्यम वर्षावास है तथा आषाढ़ से लेकर मिगसर तक छह महीनों तक एक जगह पर रहना उत्कृष्ट वर्षावास है। उत्कृष्ट वर्षावास के छह मास काल का अभिप्राय यह है कि यदि आषाढ़ के प्रारम्भ से ही पानी बरसने लगे और मिगसर मास तक बरसता रहे तो छह मास का उत्कृष्ट वर्षावास होता है।[40]

स्थानांग टीका में कहा गया है कि प्रथम प्रावृट् (आषाढ़) में और वर्षाकल्पिक सामाचारी की स्थापना करने पर विहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि पर्युषणाकल्पपूर्वक निवास करने के बाद भाद्र शुक्ल पंचमी से कार्तिक तक साधारणत: विहार नहीं किया जा सकता, किन्तु पूर्ववर्ती पचास दिनों में उपयुक्त सामग्री के अभाव में विहार कर सकते हैं।[41]

बृहत्कल्पभाष्य में वर्षावास समाप्ति के पश्चात विहार के सम्बन्ध में यह दर्शाया गया है कि जब ईख बाड़ों के बाहर निकलने लगें, तुम्बियों में छोटे-छोटे तुम्बक लग जायें, बैल शक्तिशाली दिखने लगें, गाँवों का कीचड़ सूखने लगे, मार्गों का पानी अल्प हो जाए, जमीन की मिट्टि कड़ी हो जाये और जब पथिक परदेश गमन करने लगें तब श्रमण को भी वर्षावास की समाप्ति और अपने विहार करने का समय समझ लेना चाहिए।[42]

## वर्षावास हेतु स्थान कैसा हो?

अहिंसक मुनि का जीवन अनेकविध आचार-संहिताओं से युक्त होता है। वह नियमित चर्याओं का निर्बाध रूप से पालन कर सके, इसलिए उपाश्रय निर्दोष होना चाहिए।

आचारचूला में चातुर्मास योग्य स्थान का निर्देश करते हुए कहा गया है कि–1. जिस ग्राम, नगर, खेड़, कर्बट, मडंब, पट्टण, द्रोणमुख, आकर (खान), निगम, आश्रम, सन्निवेश और राजधानी में स्वाध्याय के लिए विस्तृत भूमि न हो, 2. ग्राम आदि के बाह्य या अन्तीय भाग में मल-मूत्र त्यागने के लिए योग्य भूमि न हो, 3. जहाँ पीठ (चौकी), फलक (पटिया) शय्या और संस्तारक की प्राप्ति सुलभ न हो, 4. जहाँ प्रासुक, निर्दोष और एषणीय आहार-पानी न

मिलता हो और 5. जहाँ बहुत से अन्य तीर्थिक साधु-संन्यासी पहले से रुके हुए हों और अन्य भी आने वाले हों, जिससे सभी मार्गों पर जनता की अत्यन्त भीड़ हो और साधु-साध्वी को भिक्षाटन, स्वाध्याय, शौच आदि आवश्यक कार्यों के लिए अपने स्थान से सुखपूर्वक निकलना और प्रवेश करना भी कठिन हो रहा हो, ऐसे गांव-नगर आदि में वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाने पर भी वर्षावास न करें।[43] इसके विपरीत जहाँ स्वाध्याय योग्य पर्याप्त भूमि हो, मल-मूत्र विसर्जन हेतु निर्जीव स्थल हो, पीठ-फलक-शय्या संस्तारक सुलभ हो, निर्दोष-एषणीय आहार की सुलभता हो, अन्य तीर्थिक साधु-संन्यासियों का जमघट न हो और भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि क्रियाएँ निर्विघ्न हो सकें, ऐसे नगर में ही वर्षावास करें।

कल्पसूत्र कल्पलता की मान्यतानुसार वर्षाकल्पिक क्षेत्र निम्न गुणों से युक्त होना चाहिए–जहाँ अधिक कीचड़ न हो, जीवों की बहुतायत रूप से उत्पत्ति न हो, शौच-स्थल निर्दोष हो, वसति शान्तिप्रद एवं स्वाध्याय योग्य हो, गोरस की अधिकता हो, जनसमूह भद्र हो, राजा धार्मिक प्रवृत्ति में लगा हुआ हो, भिक्षा सुलभ हो, श्रमण-ब्राह्मण का अपमान न होता हो आदि।[44]

## आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वर्षावास की प्रासंगिकता

वर्षावास की वैयक्तिक एवं सामाजिक उपादेयता पर चिन्तन करें तो इसके अनेक लाभ परिलक्षित होते हैं। वर्षावास में एक स्थान पर रहने से मुनि स्वाध्याय-सेवा आदि में विशेष समय दे सकता है। एक स्थान पर रहकर बड़ी तपस्या आदि करने में आसानी होती है। संघ समाज में विशेष धर्म प्रभावना तथा मुनि प्रवचन आदि कला में निपुण बनता है और उसकी योग्यता का लाभ अन्य समाज को भी मिलता है, जबकि वर्षाऋतु के कारण मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होने की तथा साधु के स्वास्थ्य एवं संयम हानि की संभावनाएँ भी रहती हैं।

यदि प्रबन्धन की दृष्टि से वर्षावास की उपयोगिता के विषय में चिन्तन किया जाए तो यह ज्ञान प्रबन्धन, समाज प्रबन्धन, कषाय प्रबन्धन आदि के क्षेत्र में बहुपयोगी है। वर्षावास के दरम्यान मुनि स्व-ज्ञान उदारतापूर्वक समाज को देता है तथा स्वयं विद्वद् मुनियों एवं अनुभवी साधकों से ज्ञानार्जन करता है। इस प्रकार ज्ञान प्रबन्धन होता है।

वर्षावास के अन्तर्गत मुनि समाज में संस्कारों का बीजारोपण कर उन्हें

आध्यात्मिक मार्ग प्रदान करते हैं। समाज में व्याप्त कुरीतियों को मिटाने में भी इनका विशेष योगदान हो सकता है। इस प्रकार समाज प्रबन्धन को भी वर्षावास के द्वारा साधा जा सकता है। तप-जप-स्वाध्याय आदि के द्वारा चित्त-नियन्त्रण के साथ इन्द्रिय एवं कषाय नियन्त्रण भी किया जा सकता है। इस प्रकार कषाय प्रबन्धन भी साधा जा सकता है। इसी तरह प्रबन्धन में भी इसकी भूमिका स्वयं सिद्ध है। क्योंकि इस दौरान साधक अपनी साधना में विशेष रूप से अग्रसर होते हैं और उसके बल से जीवन में उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।

वर्तमान जगत की दैनिक समस्याओं के सन्दर्भ में यदि वर्षावास की प्रासंगिकता देखी जाए तो सर्वप्रथम वर्तमान युवा पीढ़ी में संस्कारारोपण करते हुए मुनिगण भौतिक प्रभाव को कम करते हैं। विशेष तप-जप की साधना के द्वारा शरीर एवं आत्मा को निर्मल किया जा सकता है। जीवोत्पत्ति अधिक होने से प्राणभय आदि बना रहता है, अत: अधिक गमनागमन नहीं करने से प्राण नाश का भय नहीं रहता। वर्षाकाल में नमी युक्त वातावरण के कारण रोगोत्पत्ति की संभावना अधिक रहती है ऐसी स्थिति में कम से कम प्रवृत्ति एवं तपस्या आदि करने से शरीर स्वस्थ रहता है।

वर्तमान में बढ़ती पाश्चात्य संस्कृति एवं टी.वी. के प्रभाव को कम करने के लिए मुनियों का सान्निध्य समाज के लिए अत्यावश्यक है। अधिकतम व्यापारों में चातुर्मास का समय ऑफ सीजन अर्थात मंदी का समय होता है तथा महिलाओं के भी विशिष्ट कार्य इस समय नहीं होते हैं। इससे बिना काम के व्यस्त जीवन की समस्या का भी कुछ हद तक निवारण होता है।

## वर्षायोग धारण-समापन विधि

दिगम्बर परम्परानुसार वर्षायोग धारण (वर्षावास स्थापना) विधि इस प्रकार है–[45]

सर्वप्रथम विधिपूर्वक सामायिक दण्डक, कायोत्सर्ग और थोस्सामि बोलकर सिद्धभक्ति पढ़ते हैं। फिर पुन: सविधि सामायिकदण्डक, कायोत्सर्ग और थोस्सामि करके योगिभक्ति पढ़ते हैं। फिर पूर्व दिशा की ओर मुख करके ऋषभजिनस्तोत्र बोलकर पूर्ववत सामायिक दण्डक, कायोत्सर्ग एवं थोस्सामि कहकर लघुचैत्यभक्ति पढ़ते हैं। इसी प्रकार दक्षिण दिशा में संभवनाथ और अभिनन्दनस्वामी स्तोत्र, पश्चिम दिशा में सुमतिनाथ और पद्मप्रभु स्तोत्र, उत्तर

दिशा में सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभु स्तोत्र बोलकर पूर्ववत सामायिक दण्डक, कायोत्सर्ग, थोस्सामि व लघुचैत्यभक्ति पाठ बोलते हैं।

इस प्रकार चारों दिशाओं में तीर्थंकर प्रभु के स्तोत्र बोलते हुए लघुचैत्यभक्ति करते हैं।

वर्षायोग समापन के समय पूर्ववत सामायिक दण्डक, कायोत्सर्ग थोस्सामि कहकर पञ्चमहागुरु भक्ति पाठ पढ़ते हैं। पुनः पूर्ववत क्रिया-विधि करते हुए शान्ति भक्ति पाठ बोलते हैं। पुनः पूर्ववत सामायिक दण्डकादि बोलकर समाधिभक्ति कहते हैं। इस प्रकार वर्षायोग प्रारम्भ के समय सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, लघुचैत्यभक्ति एवं समापन के समय गुरुभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति 3+3 छह भक्तिपाठ किए जाते हैं।

यह विधि सभी साधुजन सामूहिक रूप से सम्पन्न करते हैं तथा आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्व रात्रि में वर्षायोग धारण एवं कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में वर्षायोग निष्ठापन (समापन) क्रिया की जाती है।

श्वेताम्बर परम्परा में वर्षावास स्थापना एवं समापन के दिन किसी विशेष प्रकार की विधि प्रक्रिया नहीं होती है, केवल उस दिन प्रतिक्रमण के अन्तर्गत पालनीय मर्यादाओं का संकेत या निर्देश करते हैं।

## तुलनात्मक अध्ययन

संन्यास धर्म का पालन करने वाले प्रायः सभी धर्मसंघों में साधु-साध्वियों के लिए वर्षाकाल में एक स्थान पर रहने का उत्सर्ग विधान बनाया गया है। कुछेक अपवादों को छोड़कर वे किसी भी स्थिति में वर्षावास में भ्रमण नहीं कर सकते हैं। यद्यपि परम्परागत शास्त्र एवं गुरु परम्परागत सामाचारी के कारण इस विषय में किंचित मतान्तर पाये जाते हैं।

जैसे श्वेताम्बर साहित्य में आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक और प्रवर्तिनी को वर्षावास के दिनों में एक निर्धारित संख्या में साधु-साध्वियों के साथ रहने का विधान किया गया है। ऐसा वर्णन दिगम्बर साहित्य में जानने को नहीं मिलता है। यद्यपि वर्षावास सम्बन्धी अनेक नियम जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में प्रायः समान हैं।

मूलाचार टीका में वर्षावास के कारणों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि मुनि वर्षाऋतु आरम्भ होने के एक माह पूर्व नगरवासियों की वास्तविक

स्थिति से परिचित होने के लिए रुकते हैं। वर्षाऋतु के दो महीने अहिंसा महाव्रत का पालन करने के उद्देश्य से रहते हैं तथा वर्षावसान के पश्चात एक महीना श्रावकों की शंका आदि का समाधान करने के लिए ठहरते हैं।[46] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये कारण औचित्यपूर्ण हैं।

बौद्धसंघीय भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए वर्षावास सम्बन्धी अनेक नियम प्राप्त होते हैं। मूलत: भिक्षुणियों को भिक्षुओं के साथ ही वर्षावास करने की अनुमति है। भिक्षुणियों के लिए निर्धारित अष्टगुरुधर्म नियम के अनुसार कोई भी भिक्षुणी भिक्षु रहित ग्राम या नगर में वर्षावास नहीं कर सकती है, यह अनतिक्रमणीय नियम है, जिसका उल्लंघन किसी भी स्थिति में करने का निषेध है।

बौद्ध परम्परा में इस नियम के पीछे मुख्य तीन प्रयोजन परिलक्षित होते हैं– 1. प्रवारणा, 2. उपोसथ और 3. शील सुरक्षा।

यहाँ भिक्षु एवं भिक्षुणी के लिए वर्षावास के तुरन्त बाद प्रवारणा अर्थात वर्षावास में हुए दृष्ट, श्रुत या परिशंकित अपराधों को संघ के समक्ष प्रकट करना अनिवार्य माना गया है। प्रवारणा के पश्चात ही उनकी शुद्धि मानी जाती है। अत: भिक्षुओं के साथ भिक्षुणियों को वर्षावास करना आवश्यक बतलाया गया है, ताकि वर्षावसान के पश्चात उन्हें प्रवारणा के लिए भिक्षु संघ की तलाश में इधर-उधर घूमना न पड़े।

बौद्ध संघ के नियमानुसार भिक्षुणियों को प्रति पन्द्रहवें दिन उपोसथ की तिथि एवं उपदेश श्रवण का समय ज्ञात करने हेतु भिक्षु संघ से पूछना होता है, अत: इस नियम की परिपूर्ति हेतु भी भिक्षुणी को अकेले वर्षावास करने का निषेध किया गया है।

भिक्षु के साथ भिक्षुणी का वर्षावास करने सम्बन्धी मुख्य कारण शील सुरक्षा भी माना गया है। इससे वे किसी भी स्थिति में निर्भय रह सकती हैं। साथ ही भिक्षु संघ की अनुमति के बिना वे स्वेच्छा से कोई भी कार्य नहीं कर सकती हैं।

दूसरे, वर्षावास स्थित भिक्षुणियों के लिए कहीं भी आने-जाने का उत्सर्गत: निषेध किया गया है, जबकि भिक्षुओं को कुछ परिस्थितियों में वर्षावास के मध्य भी आने-जाने की अनुमति दी गई है, जिससे भिक्षुणी संघ की समस्याओं का भी निराकरण संभव होता है। इस प्रकार विविध कारणों से भिक्षुणी संघ को भिक्षु संघ के साथ वर्षावास करने हेतु कहा गया है।[47]

## उपसंहार

वर्षाकाल में एक स्थान पर रहना वर्षावास कहलाता है। वर्षावास का प्रारम्भ चन्द्रमास से माना गया है और वह मास श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से शुरू होकर कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को समाप्त होता है। उत्सर्ग मार्ग यह है कि मुनि कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात मिगसर कृष्णा प्रतिपदा को विहार कर दें। किन्हीं विशेष कारणों के बिना चातुर्मास पश्चात एक दिन भी उस स्थान पर न रहें। वर्षावास की यह मर्यादा क्षेत्रजन्य मोह, सुविधा पूर्ण स्थान की मूर्च्छा, गृहस्थ राग, अतिपरिचयवश अवज्ञा आदि के निवारण हेतु स्थापित की गई है। कदाचित चातुर्मास काल के पूर्ण होने के पश्चात वृष्टि के कारण मार्ग में हरियाली हो, जीव जन्तुओं की उत्पत्ति बनी हुई हो, मार्ग अवरुद्ध हो तो मृगशीर्ष माह के पन्द्रह दिन तक भी एक स्थान पर रुक सकते हैं, क्योंकि मुनि जीवन के सभी नियमोपनियम जीव रक्षा के उद्देश्य से हैं। अत: जीव रक्षा के निमित्त चातुर्मास समाप्ति के पश्चात भी पाँच-दस या पन्द्रह दिन तक और ठहरा जा सकता है। प्राय: इतने दिनों में तो मार्ग साफ हो जाते हैं, इसके बाद वहाँ नहीं ठहरना चाहिए।

यदि वर्षावास सम्बन्धी विधि-नियमों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाये तो यह वर्णन सर्वप्रथम आचारचूला में परिलक्षित होता है। इस सूत्र में वर्षावास क्यों, वर्षावास कहाँ, वर्षावास काल आदि का सम्यक स्वरूप उल्लिखित है। इसके अनन्तर यह चर्चा सूत्रकृतांगसूत्र में दिखायी देती है। इसमें वर्षावास के जघन्य आदि प्रकार, वर्षावास में विहार करने के कारण आदि का प्रतिपादन है। तदनन्तर इस विषयक विवेचन दशाश्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, बृहत्कल्प भाष्यादि में उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों में वर्षावास में विहार न करने के कारण, वर्षावास के कृत्य, वर्षावास कब इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। आगमेतर साहित्य में यह निरूपण नहींवत है। दिगम्बर मान्य भगवती आराधना टीका में इसकी सामान्य चर्चा की गई है। इस तरह वर्षावास सम्बन्धी विधि-नियम आचारचूला, स्थानांग, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, बृहत्कल्पभाष्य आदि में स्पष्ट रूप से बताये गये हैं।

## सन्दर्भ-सूची


1. जिनभाषित, सन 2006, त्रैमासिक अंक, पृ. 30
2. बृहत्कल्पभाष्य, 1/36
3. पज्जोसमणाए अक्खराइ, होंति उ इमाइं गोण्णाइं।
   परियायव वत्थवणा, पज्जोसमणा य पागइया।।
   परिवसणा पज्जुसणा, पज्जोसमणा य वासावासो य।
   पढमसमोसरणं ति य, ठवणा जेट्ठोग्गहेगट्ठा।।
   (क) दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति, 53, 54 की चूर्णि
   (ख) निशीथ भाष्य, 3138-3139 की चूर्णि
   (ग) बृहत्कल्पभाष्य, 4242 की चूर्णि
4. कप्पइ निग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा एवं विहेणं विहारणेणं विहरमाणाणं आसाढपुण्णिमाए वासावासं वसित्तए।
   कल्पसूत्र, कल्पमंजरी टीका 17, पृ. 74
5. कल्पसूत्र निर्युक्ति, गा. 16 की चूर्णि
6. (क) बृहत्कल्पभाष्य, 4280-4284
   (ख) निशीथ भाष्य, 3153 की चूर्णि
7. समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ।
   दशाश्रुतस्कन्ध, 8 परि सू. 223
8. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति 68 की चूर्णि
9. श्री भिक्षु आगम विषय कोश, भाग-2, पृ. 348-49
10. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति, 55-56 की चूर्णि
11. वही, 87
12. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 5/2/100
13. वही, 5/2/99
14. बृहत्कल्पभाष्य, 2741, 2742
15. (क) भगवतीआराधना, गा. 423 की विजयोदया टीका, पृ. 334
   (ख) अनगारधर्मामृत-ज्ञानदीपिका, 9/80-81, पृ. 686
16. आचारचूला, मुनि सौभाग्यमलजी, 2/3/1/111
17. बृहत्कल्पभाष्य, 2736
18. बृहत्कल्पभाष्य, 583 की टीका
19. भगवतीआराधना, गा. 423 की विजयोदया टीका, पृ. 333,
20. दशाश्रुतस्कन्ध, 8 परि सू. 284 की चूर्णि।

21. कल्पसूत्र, 3/16, 17 की टीका
22. दशाश्रुतस्कन्ध, 8 परि सू. 286 की चूर्णि
23. निशीथभाष्य, 3202
24. (क) वही, 3215-3217
    (ख) व्यवहारभाष्य, 1340 की टीका
25. दशाश्रुतस्कन्ध, 8 परि सू. 239
26. वही, सू. 244-248
27. दशाश्रुतस्कन्ध, 8/8
28. वही, 8/74
29. वही, 8/16
30. वही, 8/49
31. वही, 8/35
32. वही, 8/67
33. वही, 8/69
34. वही, 8/66
35. वही, 8/68
36. वही, 8/63
37. भगवती आराधना, गा. 423 की टीका
38. वही, पृ. 334
39. आचारांगसूत्र, मुनि सौभाग्यमल जी 2/3/1/112
40. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 5/2/100
41. वही, पृ. 483
42. बृहत्कल्पभाष्य, 1539-40
43. आचारांगसूत्र, मुनि सौभाग्यमलजी, 2/3/1/112
44. कल्पसूत्र-कल्पलता, 3/1 तथा कल्पसमर्थनम् गा. 26
    उद्धृत-जिनभाषित, सन् 2006, अप्रैल, पृ. 31-32
45. श्रमणाचार, पृ. 286-307
46. मूलाचार, 10/18 की टीका
47. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पृ. 68-70

●

## अध्याय-13

# विहारचर्या सम्बन्धी विधि-नियम

विहारचर्या जैन साधुओं का आवश्यक कृत्य है। आगम साहित्य में शारीरिक शक्ति के अनुसार मास कल्प का पालन करते हुए विहार करने का स्पष्ट उल्लेख है। जैन आचार-संहिता के अनुसार मुनि को वर्षावास के चार माह तक एक स्थान पर रहना चाहिए, शेष काल में उनके लिए एक स्थान पर एक माह से अधिक रहना वर्जित माना गया है। इसी प्रकार साध्वी के लिए एक स्थान पर दो माह से अधिक रहना निषिद्ध बतलाया है यानी वर्षावास के अतिरिक्त शेषकाल में साधु एक मास तक और साध्वी दो मास तक एक स्थान पर रह सकती हैं। इसी अपेक्षा से साधु की विहारचर्या नवकल्पी और साध्वी की पंचकल्पी बतलायी गयी है।

## विहारचर्या का अर्थ निर्वचन

विहार का सामान्य अर्थ है पदयात्रा करना, देशाटन करना। वि+हार शब्द का अध्यात्ममूलक अर्थ है विविध प्रकार से कर्मरजों का हरण करने वाला।[1] अर्थात जिस प्रक्रिया के द्वारा विविध प्रकार के कर्मरज (पाप कर्म) दूर होते हैं वह विहार कहलाता है अथवा एक निश्चित अवधि के पश्चात एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करना विहार है। यहाँ 'विहार' शब्द के साथ 'चर्या' शब्द का संयोग है। दशवैकालिक चूर्णि के अनुसार मूलगुण एवं उत्तरगुण रूप चारित्र का समुदाय चर्या कहलाता है।[2] इस तरह 'विहारचर्या' इस संयुक्त पद के निम्न अर्थ होते हैं– 1. पद यात्रा करना, 2. जीवन की आवश्यक क्रियाएँ करना और 3. सम्यक रूप से समस्त प्रकार की यतिक्रियाएं करना आदि।

मूलाचार में अनियतवास को विहार कहा गया है। सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को निर्मल रखने के लिए सभी स्थानों पर सतत भ्रमण करते रहना विहारचर्या है।[3]

भगवती आराधना में विहार का निर्वचन करते हुए लिखा गया है कि मुनि

के द्वारा वसति, गाँव, नगर, गण, उपकरण और श्रावक समूह इन सभी के प्रति ममत्वरहित होकर रहना अनियत विहार है।[4]

दशवैकालिक चूर्णि के अनुसार सदैव एक स्थान पर नहीं रहना और शास्त्रविधि के अनुसार परिभ्रमण करते रहना अनियतवास कहलाता है।[5] इसी चूर्णि में अनिकेतवास, समुदान चर्या, अज्ञात कुल में भिक्षा ग्रहण, एकान्तवास, अल्प उपकरण रखना और क्रोध नहीं करना, इन्हें प्रशस्त विहारचर्या कहा गया है।[6]

## विहार के प्रकार

व्यवहारभाष्य में विहार के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं – 1. द्रव्य और 2. भाव।

1. **द्रव्यविहार–** आहार, उपधि आदि द्रव्यों की सम्प्राप्ति के लिए अगीतार्थ (सामान्य मुनि) और पार्श्वस्थ (शिथिलाचारी मुनि) के द्वारा पद-यात्रा या परिभ्रमण करना द्रव्य विहार है। उपयोगशून्य मुनि का गमनागमन भी द्रव्य विहार है। जो साधु-साध्वी किसी मनमुटाव के कारण गुरु से पृथक् विचरण करते हैं उनकी विहार यात्रा भी द्रव्य विहार है।

2. **भावविहार–** यह विहार दो प्रकार का होता है– (i) गीतार्थ साधुओं का विहार और (ii) गीतार्थ निश्रित साधुओं का विहार। इन दो के सिवाय तीसरे प्रकार का विहार नहीं होता है। भाव विहार के भी दो प्रकार हैं– (i) **असमाप्तकल्प**– जिस मुनि के पास पूर्ण सहयोग न हो, उसका विहार असमाप्तकल्प विहार है। (ii) **समाप्तकल्प–** यह विहार भी दो प्रकार का कहा गया है **जघन्य–** तीन गीतार्थ मुनियों का विहार और **उत्कृष्ट–** बत्तीस हजार मुनियों का एक साथ विहार समाप्तकल्प विहार कहलाता है।[7]

दिगम्बर के मूलाचार ग्रन्थ में विहार के दो भेद निम्न रूप से प्रतिपादित हैं– गृहीतार्थ और अगृहीतार्थ। जीवादि पदार्थों के ज्ञाता मुनि द्वारा देशांतर में गमन करते हुए चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है, वह गृहीतार्थ नाम का विहार कहलाता है तथा अल्पज्ञानी मुनि द्वारा चारित्र का पालन करते हुए परिभ्रमण करना अगृहीतार्थ विहार है।[8]

**गीतार्थ मुनि का स्वरूप–** बृहत्कल्पभाष्य के मतानुसार जिनकल्पिक, परिहार विशुद्धिक, प्रतिमा प्रतिपन्नक (12 प्रतिमाधारी) और यथालन्दिक (विशिष्ट साधना करने वाले) मुनि निश्चित रूप से गीतार्थ होते हैं तथा आचार्य

और उपाध्याय नियमत: गीतार्थ होते हैं। अत: ये स्वतंत्र विहार के अधिकारी कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक आदि पदस्थ मुनि या सामान्य साधु गीतार्थ हो भी सकते हैं और नहीं भी, इसलिए इन्हें अकारण स्वतंत्र विहार करने की अनुमति नहीं है।

गीतार्थ भी तीन प्रकार के वर्णित हैं-

(i) **जघन्य गीतार्थ-** आचार प्रकल्प अर्थात निशीथसूत्र का ज्ञाता मुनि।

(ii) **मध्यम गीतार्थ-** दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार आदि सूत्रों का ज्ञाता मुनि।

(iii) **उत्कृष्ट गीतार्थ-** चौदह पूर्व का ज्ञाता मुनि।

ये तीनों प्रकार के गीतार्थ गुरु की अनुमति से स्वतंत्र विचरण कर सकते हैं। वर्तमान काल की अपेक्षा से देखा जाए तो अभी उत्कृष्ट गीतार्थ का साक्षात अभाव है। क्योंकि इस समय किसी भी मुनि को चौदह पूर्व का ज्ञान नहीं है।[9]

## पादविहारी मुनि के प्रकार

जैन शास्त्रों में पदयात्रा करने वाले मुनि तीन प्रकार के बताये गये हैं-

1. **द्रोता-** एक गांव से दूसरे गांव में द्रुत गति से गमन करने की योग्यता रखने वाले मुनि। ये दो प्रकार के होते हैं- (i) **कारणिक-** अशिव दुर्भिक्ष, राजकलह आदि कारणों के समुपस्थित होने पर गमन करने वाले मुनि अथवा वस्त्र, पात्र, लेप आदि की प्राप्ति के लिए, गच्छ का उपकार करने के लिए तथा आचार्य आदि के आदेश से विशेष कारण उत्पन्न होने पर गमन करने वाले मुनि और (ii) **निष्कारणिक-** बिना किसी कारण के मात्र तीर्थंकरों की जन्मादि भूमियाँ एवं अतिशय क्षेत्री जिनालयों के दर्शन हेतु गमन करने वाले मुनि।

2. **आहिण्डक-** सतत भ्रमण करने वाला मुनि। इस कोटि के मुनि भी दो प्रकार के कहे गये हैं- (i) **उपदेश आहिण्डक-** शास्त्रों का सटीक अध्ययन कर, विभिन्न देशों के आचार, व्यवहार, भाषा आदि का ज्ञान करने के लिए देशाटन (अलग-अलग या दूर देश में विचरण) करने वाला मुनि और (ii) **अनुपदेश आहिण्डक-** कुतूहलवश देव-दर्शन हेतु भ्रमण करने वाला मुनि।

3. **विहारी-** नवकल्प के अनुसार विहार करने वाला मुनि। नवकल्प विहारी साधु दो प्रकार के होते हैं- (i) **गच्छगत-** गच्छ के साथ रहते हुए एवं शास्त्रोक्त नियम का पालन करते हुए वर्षावास के सिवाय एक मास के पश्चात

विहार करने वाले मुनि और (ii) **गच्छनिर्गत–** जिनकल्पिक, प्रतिमाधारी, यथालंदिक और परिहार विशुद्धि तप के धारक साधु गच्छ से विधिपूर्वक निर्गमन कर अपने-अपने आचार के अनुसार विचरण करते हैं। इनका विहार भी दो प्रकार का बतलाया गया है– (i) **गीतार्थ विहार–** बहुश्रुत मुनि का विहार और (ii) **गीतार्थ मिश्रविहार–** बहुश्रुत के साथ या उनकी निश्रा में विहार करने वाले मुनि।[10]

वर्तमान में गच्छनिर्गत (जिनकल्पिक आदि) विहारी के अतिरिक्त शेष सभी प्रकार के विहार प्रचलित हैं।

## विहार के अन्य प्रकार

विहार के अन्य दो प्रकार भी निर्दिष्ट हैं–

1. **स्थिरवास (नौ कल्पी विहार)–** जैन मुनि दो स्थितियों में एक जगह पर लम्बे समय तक रुक सकते हैं– (i) जंघाबल क्षीण होने पर अर्थात शारीरिक शक्ति से हीन अथवा वृद्धावस्था के आ जाने पर और (ii) शासन सेवा, गच्छ सेवा आदि की सम्भावनाएँ होने पर। इसके सिवाय प्राणघातक रोगोपचार हेतु एवं विशिष्ट ज्ञानार्जन हेतु भी एक स्थान पर ठहर सकते हैं। यह अपवाद मार्ग है। उत्सर्गत: साधु के लिए नवकल्पी विहार करने का प्रावधान है। वर्षावास के चार महीनों के बाद का विहार=एक कल्प, शेष आठ मास में प्रत्येक महीने के बाद का विहार = आठ कल्प, इस तरह साधु नवकल्पी विहार करते हुए चारित्र धर्म की परिपालना करें। साध्वी के लिए दो-दो मास के अन्तराल से विहार करने का नियम है। इस तरह साध्वी पंचकल्पी विहार करें।[11] ज्ञातव्य है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री की शारीरिक आदि परेशानियाँ अधिक होती हैं, एतदर्थ साध्वी का स्थिरकाल अपेक्षाकृत दुगुना रखा गया है।

दशवैकालिक चूलिका में यह भी कहा गया है कि जिस गाँव या स्थान में मुनि उत्कृष्ट अवधि तक रह चुका हो यानी वर्षावास के चार महीने और शेष काल का एक महीना ऐसे पांचमास एक साथ रह चुका हो वहाँ दो वर्ष के पहले न जायें और न रुकें।[12]

वर्तमान में नवकल्पी एवं पंचकल्पी विहार का नियम गौण होता जा रहा है। कुछ साधु-साध्वी मन्दिर निर्माण, जीर्णोद्धार आदि के निमित्त से तो कुछ गुरु मन्दिर, उपाश्रय आदि के प्रयोजन से और कुछ शीत-ग्रीष्म आदि की

प्रतिकूलताओं से बचने के लिए ऐसे कई सामान्य कारणों को लेकर विहार कल्प का खंडन करते हैं। निष्प्रयोजन एक स्थान में अधिक रहने पर चारित्र दोष की संभावनाएँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं, अत: गीतार्थ सामाचारी का अनुपालन करना चाहिए।

2. **अप्रतिबद्ध विहार–** जैन धर्म में अप्रतिबद्ध (किसी प्रकार की मनोकामना या प्रतिबंध से रहित) विहार को उत्कृष्ट कोटि का विहार बताया गया है। यह विहार चार प्रकार का होता है–[13]

(i) **द्रव्य–** 'अमुक गाँव, अमुक नगर में जाकर बहुत से श्रावकों को प्रतिबोध दूंगा' अथवा ऐसा कुछ उपाय करूं कि 'अमुक श्रावक लोग मुझे छोड़कर दूसरों के भक्त न बन जायें' इस प्रकार की भावना से रहित होकर विहार करना द्रव्यत: अप्रतिबद्ध विहार है।

(ii) **क्षेत्र–** जहाँ प्रतिकूलताएँ हों, उस प्रकार की वसति (उपाश्रय) को छोड़कर अनुकूलता वाली वसति में रहना चाहिए ऐसी भावना से रहित होकर विहार करना क्षेत्रत: अप्रतिबद्ध विहार है।

(iii) **काल–** इस शरद काल में विहार करूंगा तो प्राकृतिक सौन्दर्य देखने को मिलेगा, इस तरह का विचार न करते हुए विहार करना कालत: अप्रतिबद्ध विहार है।

(iv) **भाव–** यदि मैं अमुक क्षेत्र में जाऊंगा तो मुझे स्निग्ध, मधुर आदि आहार मिलेगा, शरीर पुष्ट बनेगा अथवा एक मास से अधिक कहीं भी नहीं रहूंगा तो लोग मुझे उद्यत विहारी कहेंगे इस प्रकार के भाव न रखते हुए विहार करना भावत: अप्रतिबद्ध विहार है।

मूलत: जैन श्रमण का विहार अप्रतिबद्ध होना चाहिए। जो पूर्वोक्त द्रव्यादि की प्रतिबद्धता (मनोकामना) से रहित होकर विहार करता है वही वास्तविक विहार कहलाता है। यदि जिनशासन की प्रभावना के निमित्त विहार करना हो तो वह भी अप्रतिबद्ध विहार ही कहा जायेगा।

## विहार की आवश्यकता क्यों?

बृहत्कल्पभाष्य में पदयात्रा की उपयोगिता के पाँच कारण बतलाये गये हैं जो निम्न हैं–[14]

1. **दर्शन विशुद्धि–** जब मुनि अतिशय प्रधान, अचिन्त्यप्रभावी तीर्थंकरों की जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान आदि से सम्बन्धित भूमियों में विचरण करता हुआ

अरिहन्त देवों की जन्म भूमि आदि को साक्षात देखता है तब नि:शंकता, उपबृंहणा, वात्सल्यता आदि गुण उत्पन्न होने से सम्यक दर्शन अत्यन्त विशुद्ध हो जाता है।

2. **स्थिरीकरण–** विचरणशील भव्य आचार्य को देखकर वहाँ स्थित संविग्न मुनियों में संवेग उत्पन्न होता है। आचार्य स्वयं अप्रमत्त और विशुद्ध लेश्या वाले होने से तत्रस्थ संविग्न मुनियों का स्थिरीकरण करता है।

3. **देशी भाषा कौशल–** मालवा, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशों की भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। वहाँ विचरण करने वाला मुनि उन-उन देशों की भाषाओं में निष्णात हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह विभिन्न देशी भाषाओं में निबद्ध ग्रन्थों के उच्चारण और अर्थ का व्याख्यान करने में कुशल हो जाता है। इससे तद्स्थानीय लोगों को उनकी भाषा में धर्म का उपदेश दे सकता है और उन्हें प्रतिबुद्ध कर प्रव्रजित भी कर सकता है। शिष्य गण ऐसा भी सोच सकते हैं कि ये आचार्य हमारी भाषा में बोलते हैं, अत: हमारे हैं। इस तरह वे आचार्य के प्रति प्रीति से बंध जाते हैं।

4. **अतिशय उपलब्धि–** भाष्यकार संघदासगणि कहते हैं कि विहार करने पर भ्रमणशील मुनियों की भिन्न-भिन्न विद्याओं के पारगामी आचार्यों और बहुश्रुत मुनियों से भेंट होती है। उसे तीन प्रकार के अतिशयों की उपलब्धि होती है– 1. सूत्रार्थ अतिशय 2. सामाचारी अतिशय और 3. विद्या-योग-मंत्र विषयक अतिशय। ये भावी आचार्य देशाटन कर रहे हैं यह सुनकर तथा उन्हें देखकर अन्यान्य आचार्यों के शिष्य भी सूत्रार्थ ग्रहण में पराक्रम करते हैं इस तरह सूत्रार्थ अतिशय की प्राप्ति होती है। भिन्न-भिन्न आचार्यों या मुनियों का परिचय होने से उनकी सामाचारी से अवगत हो जाता है। इस तरह सामाचारी अतिशय का लाभ होता है। अन्यदेशीय लोग उस पर किसी प्रकार का दुष्प्रयोग न कर दें, किन्हीं बाहरी शक्तियों से कोई साधु भ्रमित न हो जाएं इत्यादि कई प्रसंगों को लेकर वह मुनि विद्या-मंत्रादि का अभ्यासी बन जाता है। इस प्रकार विद्या-मंत्रादि अतिशय को उपलब्ध करता है।

5. **जनपद परीक्षा–** विहार करने से विविध प्रदेशों की सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान होता है। इसी के साथ देव दर्शन का लाभ प्राप्त करते हुए जनपदों की परीक्षा कर लेता है, जैसे लाट देश में वर्षा के पानी से और सिन्धु

देश में नदी के पानी से धान्य की उत्पत्ति होती है। द्रविड़ देश में तालाब के पानी से और उत्तरापथ में कूप के पानी से सिंचाई होती है। इस तरह और भी अन्य-अन्य प्रकार के ज्ञान द्वारा जनपद की परीक्षा लेता है। मथुरा देश में व्यापार के द्वारा जीविका चलाई जाती है। सिन्धु देश में दुर्भिक्ष होने पर मांस के द्वारा निर्वाह किया जाता है। तोसली और कोंकण देश के वासी पुष्प-फल भोगी होते हैं।

पाद विहारी मुनि विस्तीर्ण और संकीर्ण क्षेत्रों को जान लेता है। वह जनपद के आचार को जान लेता है। जैसे सिन्धु देश में मांसाहार अगर्हित माना जाता है। वह यह भी जान लेता है कि अमुक क्षेत्र स्वाध्याय और संयम साधना के लिए हितकारी है, अमुक क्षेत्र दानी श्रावकों से समाकुल है, अमुक क्षेत्र में भिक्षा सुलभकारी है तथा अमुक क्षेत्र वर्षाकाल और ऋतुबद्धकाल के योग्य है।[15]

इस तरह शास्त्रीय विहार करने से साध्वाचार के साथ-साथ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार– इन पंचाचारों का भी सम्यक परिपालन होता है। इससे अन्य प्रान्तीय वासियों को बोधिलाभ होने की भी संभावना रहती है। तद्देशीय भाषा में कुशल हो जाने पर धर्म प्रभावना में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

## विहारचर्या के लाभ

भगवती आराधना के मतानुसार अनेक देशों में परिभ्रमण करने से क्षुधा परीषह आदि का पालन होता है, मुनियों के भिन्न-भिन्न आचार का ज्ञान होता है और विविध भाषाओं में तात्त्विक सिद्धान्तों के प्रतिपादन का चातुर्य प्राप्त होता है। एक स्थान के प्रति ममत्व नहीं रहता। संविग्नतर साधु, प्रियधर्मतर साधु एवं अवद्यभीरुतर साधु– इन तीन प्रकार के मुनियों को देखकर सतत विहारचर्या करने वाले साधु के चित्त में भी अतिशय धर्मानुराग होता है और उसमें विशेष रूप से स्थिर धर्म को धारण करने वाला होता है।

अनियतवास से परोपकार होता है अर्थात विशिष्ट साधुओं को देखकर सामान्य साधु भी विशिष्ट बनते हैं। अनियत विहारी मुनियों के उत्कृष्ट होने से उन्हें देखकर अन्य मुनि भी प्रशस्त चारित्री, योगधारी एवं शुभ लेश्यावान होते हैं।[16]

मूलाचार के उल्लेखानुसार विहारशील श्रमण के परिणाम विशुद्ध होते हैं। वे उपशान्तकषायी, दैन्यभाव रहित एवं उपेक्षा बुद्धियुक्त होने से कष्टसहिष्णु होते

हैं। माध्यस्थ, निस्पृह एवं निभृत (कछुए की भांति इन्द्रियों को सुस्थिर रखने वाले) आदि गुणों से समन्वित तथा विषयादि काम भोगों से निर्लिप्त होते हैं। जैसे माता अपने पुत्रों के प्रति अनन्य वात्सल्य भाव रखती है वैसे ही श्रमण भी किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाते हुए, इस धरा पर विचरण करते हैं। वे पापभीरु होते हैं अत: विहारचर्या करते हुए भी उन्हें पाप कर्मों का बंध नहीं होता। इस तरह विहारशील श्रमण विशुद्ध दया सम्पन्न और सुविशुद्ध परिणाम युक्त होते हैं।[17]

संक्षेप में अनियत विहार से अनासक्ति का उद्भव होता है तथा आत्म साधना में निरन्तर वृद्धि होती है। इससे अधिकाधिक ज्ञानार्जन और जनकल्याण की भावना के कार्यान्वयन का अलभ्य अवसर प्राप्त होता है।

## विविध सन्दर्भों में विहारचर्या की प्रासंगिकता

जैन मुनि की आवश्यक चर्याओं में से एक है विहारचर्या। इसके पीछे वैयक्तिक एवं सामाजिक उत्कर्ष के अनेक नियम अन्तर्निहित हैं। प्रबंधन की दृष्टि से यदि विहार की उपयोगिता के विषय में चिंतन किया जाए तो यह व्यक्ति प्रबंधन, समाज प्रबंधन, ज्ञान प्रबंधन एवं अन्य कई क्षेत्रों में सहायक एवं विकास में निमित्तभूत हो सकता है। विहार के दौरान मुनि विविध प्रदेशों में भ्रमण करते हुए वहाँ की भाषा, वेश-भूषा, रहन-सहन, जनसमूह आदि का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ वहाँ के विशिष्ट ज्ञानीजनों से स्वयं ज्ञानार्जन करते हैं तथा धारणा ज्ञान से उस क्षेत्र को उपकृत करते हैं। नए-नए स्थानों का भ्रमण करने से वहाँ की जनता में धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न होती है और जिनवाणी का प्रचार-प्रसार होता है, जिससे समाज में भौतिकता एवं अध्यात्म मार्ग में संतुलन स्थापित होता है। विहारचर्या से शरीर भी संतुलित रहता है, मोटापा आदि कम होता है तथा शारीरिक रसायन भी नियंत्रित रहते हैं, जिससे शरीर प्रबंधन हो सकता है। वृषभ, ग्लान, गीतार्थ आदि मुनियों के संग रहने से उनके ज्ञान, अनुभव, आचार-विचार आदि का विविध दृष्टियों से व्यक्तिगत लाभ होता है। समाज को भी साधु वर्ग के प्रति अपने कर्तव्यों का भान होता है, जिससे भावी में होने वाले साधु-साध्वियों को बाधाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्थाओं में भी एक समन्वय स्थापित होता है।

नव्य जगत की समस्याओं के संदर्भ में विहार चर्या की प्रासंगिकता पर

विचार किया जाए तो वर्तमान में बढ़ते प्रदूषण (Pollution) की समस्या तथा बढ़ते रोगों पर नियंत्रण पाने के लिए व्यक्ति को मशीनों के उपयोग की एक सीमा निश्चित कर जमीन पर चलना ही होगा। जमीन में कई ऐसे प्राकृतिक तत्त्व हैं जो शरीर को रोग मुक्त बनाने में सहायक हो सकते हैं। बढ़ते क्षेत्रवाद, आपसी मन-मुटाव आदि समस्याओं के विषय में विहार मतभेदों को दूर करने में सहायक हो सकता है। जहाँ साधु-साध्वियों का विहार नहीं होता उन क्षेत्रों की जनता आध्यात्मिक क्षेत्रों में पिछड़ी रह जाती है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की स्पर्शना करने से उन क्षेत्रों की मानसिकता के अनुसार धर्म की प्ररूपणा की जा सकती है। इससे घटते सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों की समस्या का समाधान हो सकता है। विश्व की वर्तमान परिस्थितियों को देखकर तो यही लगता है कि घटते पशुधन, बढ़ते प्रदूषण एवं महंगाई के कारण अंत में पुन: पैदल चलने का ही समय आने वाला है। अत: प्राकृतिक अति दोहन को रोकने के लिए भी विहार आवश्यक है।

## विहारचर्या की ऐतिहासिक अवधारणा

विहार से जैन मुनियों की विशेष पहचान होती है। इस चर्या के द्वारा साधु-साध्वी समग्र विश्व को अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह जैसे दर्शन के द्वारा श्रेष्ठ जीवन जीने का संदेश देते हैं तथा स्वयं को सम या विषम स्थितियों में तटस्थ बनाये रखने के संस्कार दृढ़ करते हैं। यह आचार-विधि पूर्णत: प्रयोग आधारित है।

विहार कब, किस विधि पूर्वक करें एवं उसके प्रयोजन क्या हैं? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने पर मूलागमों में 'विहार' शब्द का प्रयोग विविध प्रसंगों में उपलब्ध होता है। आचारांगसूत्र में भगवान महावीर के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने को 'विहार' कहा गया है।[18] यहाँ विहार शब्द ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी साधना में सदैव प्रवृत्त रहने के अर्थ में प्रयुक्त है। इसे भाव विहार कह सकते हैं।[19] पदयात्रा करना द्रव्य विहार कहलाता है और आत्म स्वभाव में विचरण करना भाव विहार कहलाता है। आचारांगसूत्र में साधु-साध्वी को किन क्षेत्रों में विहार नहीं करना चाहिए इसका भी उल्लेख है।[20]

ज्ञाताधर्मकथा में विहार शब्द का प्रयोग 'प्रासुक विहार' अर्थात ठहरने

योग्य स्थान के सम्बन्ध में हुआ है।[21] इसी प्रकार अन्य आगम ग्रन्थों में भी 'विहार' शब्द का उल्लेख है किन्तु विहार किस क्रम या किस विधिपूर्वक करना चाहिए, तत्सम्बन्धी किसी प्रकार का निर्देश प्राचीन आगमों में प्राप्त नहीं होता है।

जब छेद सूत्रों का अवलोकन करते हैं तो बृहत्कल्पसूत्र[22] में विहार के निषिद्ध क्षेत्र, रात्रिकाल में विहार निषेध के कारण आदि का समुचित वर्णन तो प्राप्त हो जाता है किन्तु विहार सम्बन्धी नियमों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।

यदि इस संदर्भ में आगमिक व्याख्याओं का आलोड़न करें तो उनमें निश्चित रूप से विहार का विस्तृत स्वरूप उपलब्ध होता है। बृहत्कल्पभाष्य में विहार विधि, एकाकी विहार के दोष, विहार के कर्तव्य, विहार के लाभ, विहार के निषिद्ध स्थान आदि का सम्यक् प्रकार से निरूपण है।[23] व्यवहारभाष्य में विहार के प्रकार, अपवादत: आचार्यादि से अलग विहार करने वाले मुनियों के लक्षण, विहार में गीतार्थ मुनि के कृत्य आदि का वर्णन है।[24] निशीथभाष्य में नौ कल्पी विहारादि की चर्चा की गई है।[25] ओघनिर्युक्तिकार ने भी इस विषय पर सम्यक् प्रकाश डाला है।[26]

यदि इस संदर्भ में परवर्ती साहित्य का अवलोकन किया जाए तो पंचवस्तुक[27] और प्रवचनसारोद्धार[28] जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ मुख्य रूप से प्राप्त होते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने विहार के प्रयोजन, विहार न करने के अपवाद, नित्यवासी मुनियों के आचार आदि का वर्णन किया है। आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने अप्रतिबद्ध विहार आदि की चर्चा की है।

निष्कर्ष रूप में विहारचर्या तीर्थंकरोपदिष्ट एवं तीर्थंकर आचरित विधि है। इसकी मूल्यवत्ता आज भी यथावत रही हुई है। वर्तमान में हजारों साधु-साध्वी पद यात्रा करते हुए आत्म कल्याण एवं लोक कल्याण के प्रति कटिबद्ध है।

## विहारयोग्य मुनि के लक्षण

जैनाचार्यों ने विहार करने योग्य मुनि के लिए भी कुछ योग्यताएँ आवश्यक मानी हैं। जो शान्त हो, जिसके हाथ-पैर चलने में समर्थ हों, सभी देशों की स्थिति का ज्ञाता हो, सभी भाषाओं में निपुण हो, रस, स्पर्श एवं स्थान में लुब्ध न हो, कलाओं का जानकार हो, विद्या पारंगत हो, संयम पालन में दृढ़

हो, युवा मनस्वी हो, अपेक्षा रहित हो, शीतादि परीषहों को सहन करने वाला हो, जिसके पास संयम यात्रा का निर्वाह करने हेतु अपेक्षित उपकरण हो एवं गुर्वाज्ञा परायण हो वह सदैव विहार करने के लिए योग्य होता है। इन गुणों से सर्वथा रहित साधु विहार के लिए अयोग्य होता है।[29]

यहाँ विहार के संदर्भ में मुनि के लिए जो आवश्यक लक्षण बतलाये गये हैं संभवतः वे समुदाय ज्येष्ठ साधु की अपेक्षा से हैं क्योंकि मुख्य साधु सर्वगुणसम्पन्न हों, तो सहवर्ती मुनियों की यात्रा निर्बाध होती है। यदि मुख्य (ज्येष्ठ) साधु अपेक्षित गुणों से युक्त न हों, तो समुदाय में किसी तरह की समस्या उत्पन्न हो सकती है। यदि ज्येष्ठ साधु का क्षयोपशम न्यून हो तो सहवर्ती अन्य साधु निश्चित रूप से योग्य होने चाहिए।

## एकल विहार के योग्य कौन?

श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांगसूत्र में एकलविहारी मुनि के आठ मानदण्ड उल्लिखित हैं–

1. श्रद्धावान 2. सत्यवान 3. मेधावी 4. बहुश्रुतत्व 5. शक्तिमान (तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल– इन पांच में स्वयं को तोलने वाला), 6. अल्पाधिकरण-अकलहत्व 7. धृतिमान और 8. वीर्यसम्पन्नता– ये आठ योग्यताएँ एकाकी विहार हेतु अनिवार्य हैं।[30]

कदाचित ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाये कि सामान्य श्रमण को संयमनिष्ठ साधुओं का योग प्राप्त न हो, तब वह संयमहीन के साथ न रहकर एकाकी रह सकता है। इसी मत का समर्थन करते हुए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि यदि अपने से अधिक गुणी अथवा समान गुण वाले साधु का योग न मिले तो पापकर्मों का वर्जन करते हुए एवं काम भोगों में अनासक्त रहकर अकेला ही विचरण करे।[31]

यह आपवादिक नियम सामान्य श्रमण के लिए समझना चाहिए, क्योंकि एकाकी विहार प्रत्येक मुनि के लिए विहित नहीं है। जिसका ज्ञान समृद्ध हो, शारीरिक संहनन सुदृढ़ हो, सत्त्व बलादि गुणों से परिपूर्ण हो वह भी आचार्य की अनुमति प्राप्त करके ही एकल विहारी प्रतिमा स्वीकार कर सकता है।

दिगम्बर आम्नाय के प्रसिद्ध मूलाचार आदि ग्रन्थों के निर्देशानुसार जो दीर्घकाल से दीक्षित है, प्रकृष्ट ज्ञान, उत्तम संहनन एवं प्रशस्त भावना से युक्त

है, बारह प्रकार की तपाराधना से भावित है, बारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञाता है, उस काल-क्षेत्र के अनुकूल आगम सूत्रों का विज्ञाता है, प्रायश्चित्त आदि ग्रन्थों का भी सम्यक वेत्ता है, दैहिक एवं आत्मिक बल से संयुक्त है, धैर्य आदि गुणों में विशिष्ट है- ऐसे मुनि को एकल विहार करने की जिनाज्ञा है। अन्य सामान्य मुनियों के लिए और विशेषत: इस पंचम काल में एकाकी विहार करने का विधान नहीं है।[32]

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में सामान्य साधु को एकाकी विहार का निषेध है, किन्तु जिनकल्पी एवं तादृश गुणों से युक्त तथा उपर्युक्त मानदण्ड से सम्पन्न भिक्षु एकाकी विहार कर सकता है।

## विहार हेतु शुभ मुहूर्त्तादि का विचार

गणिविद्या एवं आचारदिनकर आदि के अनुसार विहार के लिए प्रशस्त-अप्रशस्त नक्षत्रादि इस प्रकार जानने चाहिए-[33]

**वार-** विहार के लिए सोमवार, बुधवार, गुरुवार एवं शुक्रवार उत्तम हैं।

**तिथि-** दोनों पक्ष की तृतीया, पंचमी, सप्तमी, एकादशी एवं त्रयोदशी प्रशस्त कही गई हैं तथा चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, द्वादशी, चतुर्दशी, अमावस्या एवं पूर्णिमा- ये तिथियां निषिद्ध बतलाई गई हैं।

**नक्षत्र-** अश्विनी, पुष्य, रेवती, मृगशीर्ष, मूला, पुनर्वसु, हस्त, ज्येष्ठा, अनुराधा- ये नौ नक्षत्र यात्रा हेतु उत्तम हैं। इन नक्षत्रों में मासकल्प आदि के लिए एक स्थान पर रहना भी योग्य है।

विशाखा, तीनों उत्तरा, आर्द्रा, भरणी, मघा, आश्लेषा एवं कृतिका नक्षत्र यात्रा हेतु अधम माने गए हैं अर्थात इन नक्षत्रों में विहार नहीं करना चाहिए। शेष नक्षत्र विहार के लिए मध्यम हैं।

**समय-** जैनाचार्यों के मत से ध्रुव एवं मिश्र नक्षत्रों के होने पर पूर्वाह्न में, क्रूर नक्षत्रों के होने पर पूर्व रात्रि में, तीक्ष्ण नक्षत्रों के होने पर मध्यरात्रि में एवं चर नक्षत्रों के होने पर रात्रि के अन्तिम भाग में यात्रा न करें। दिन शुभ होने पर दिवस की यात्रा और नक्षत्र शुभ होने पर रात्रि की यात्रा शुभ होती है।

**दिशा-** ज्योतिष शास्त्र में पूर्व आदि चार दिशाओं के भिन्न-भिन्न नक्षत्र हैं, उन्हें दिग्द्वार नक्षत्र कहते हैं। निर्धारित दिशा नक्षत्रों में विहार करना शुभ फलदायी है। दिग्द्वार विषयक उत्तर के नक्षत्रों में पूर्व यात्रा, पूर्व के नक्षत्रों में उत्तर

की यात्रा, दक्षिण के नक्षत्रों में पश्चिम की यात्रा और पश्चिम के नक्षत्रों में दक्षिण की यात्रा करना मध्यम हैं। इसके विपरीत स्थिति में यात्रा करना अशुभ है। धनिष्ठा से लेकर सात-सात नक्षत्र क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम द्वार के हैं, अतः जो नक्षत्र जिस दिशा के हैं उन नक्षत्रों में उस-उस दिशा की ओर प्रस्थान करना शुभदायक है।

**दिशा शूल–** गुरुवार को दक्षिण दिशा में, शनिवार और सोमवार को पूर्व दिशा में, शुक्रवार और रविवार को पश्चिम दिशा में, बुधवार एवं मंगलवार को उत्तर दिशा में, मंगलवार को वायव्य कोण में, शनिवार और बुधवार को ईशान कोण में, शुक्रवार और रविवार को नैऋत्य कोण में एवं गुरुवार और सोमवार को आग्नेय कोण में प्रस्थान न करें। यदि दिशाशूल में प्रस्थान करना पड़े तो प्रत्येक वार में क्रमशः श्रीखण्ड (चन्दन), दही, घृत, तेल, पिष्ट, सर्पि और खल का उपभोग कर यात्रार्थ जाएं, क्योंकि ये वस्तुएँ अशुभत्व का छेदन करती हैं।

**नक्षत्रशूल–** आषाढ़ एवं श्रावण नक्षत्र के दिन पूर्व दिशा में, धनिष्ठा एवं विशाखा नक्षत्र के दिन दक्षिण दिशा में, पुष्य एवं मूला नक्षत्र के दिन पश्चिम दिशा में तथा हस्त नक्षत्र के दिन उत्तर दिशा में विहार न करें। ये नक्षत्र तत्संबंधी दिशाओं के समय के लिए शूल के समान कहे गये हैं।

**योगिनी–** पूर्व दिशा से प्रारंभ करके आठों दिशाओं में दो-दो तिथियाँ योगिनी संज्ञिका होती हैं। जैसे पूर्व दिशा में प्रयाण करते समय प्रतिपदा एवं नवमी योगिनी संज्ञिका तिथियाँ हैं। प्रस्थान के समय दिशानुसार योगिनी तिथियों का वर्जन करें।

**काल राहु–** विहार के समय राहु का विचार करना भी आवश्यक है। जैन ज्योतिष के अभिमतानुसार सूर्योदय से लेकर रात्रि पर्यन्त पूर्वादिक दिशाओं में भ्रमण करता हुआ राहु यात्रा के समय सामने या दाहिनी ओर आता हो, तो उस दिन का त्याग करें। सामान्यतया यात्रा के समय राहु दाहिनी ओर तथा पीछे की तरफ, योगिनी बायीं ओर तथा पीछे की तरफ एवं चन्द्रमा सम्मुख होना चाहिए।

ज्ञातव्य है कि चन्द्रमा मेष आदि बारह राशियों में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर के अनुक्रम में विचरण करता है। यात्रा के समय चंद्रमा यदि सम्मुख हो, तो श्रेष्ठ फलदायी होता है।

**स्वर–** दायां सूर्य स्वर कहलाता है और बायां चन्द्र स्वर कहलाता है। चन्द्रस्वर चल रहा हो, तब प्रस्थान करना चाहिए। सूर्य स्वर में कभी भी यात्रार्थ नहीं जाना चाहिए।

**मास–** आचारदिनकर के अनुसार वर्षा और शरद ऋतु को छोड़कर शेष चार ऋतुएं विहार हेतु उत्तम हैं। उनमें भी आकाश मेघरहित हो, सुभिक्षकाल हो, राज्य में शान्ति हो, मार्ग निष्कंटक हो, उस समय विहार करना सबसे श्रेष्ठ है।

## विहार की आगमिक विधि

सामान्यतया जैन मुनि को अप्रतिबद्ध (किसी प्रकार की मनोकामना से रहित) होकर विहार करना चाहिए, यद्यपि आगमिक व्याख्या साहित्य में विहार सम्बन्धी कुछ निर्देश प्राप्त होते हैं। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख आता है कि यदि आचार्य का विहार हो तो प्रशस्त तिथि, प्रशस्त करण और आचार्य के अनुकूल नक्षत्र इतनी बातें अवश्य देखनी चाहिए। जिस दिन शुभ मुहूर्त्त आता हो उस दिन सबसे पहले गीतार्थ साधु आचार्य की उत्कृष्ट उपधि को लेकर शकुन देखता हुआ निकले। तत्पश्चात आचार्य प्रस्थान करें।[34]

आचार्य और उपाध्याय के अतिरिक्त अन्य पदधारी साधु गीतार्थ भी हों, तब भी उन्हें आचार्य के साथ ही विहार करना कल्पता है। किन्तु व्यवहारभाष्य में इसकी आपवादिक विधि दी गई हैं। इसमें निर्देश है कि यदि निम्न कारण हो तो अगीतार्थ दो साधु भी विहार कर सकते हैं–[35]

1. अशिव– क्षुद्रदेवताकृत उपद्रव हो, आहारादि की प्राप्ति नहीं हो रही हो या राजा क्रोधित हो।
2. संदेशन– आचार्य द्वारा भेजा गया हो।
3. ज्ञान– दर्शन वर्धक शास्त्राभ्यास हेतु जाना हो।
4. गुरु की अनुज्ञा से किसी साध्वी को दूसरे क्षेत्र में ले जाना हो।
5. किसी दीक्षार्थी को स्थिर करना हो तथा किसी साधु का ज्ञातिवर्ग वन्दापनीय हो और उसकी वन्दना के निमित्त जाना हो, तो दो साधु विहार कर सकते हैं।

यदि कारणवश दो साधु विहार करते हैं तो वे दोनों भिक्षा आदि के लिए एक साथ जायें, वसति से निष्क्रमण या पुन: प्रवेश भी एक साथ करें, शय्यातर से अनुमति भी एक साथ लें।

व्यवहारभाष्य के अनुसार यदि मुनि निम्नोक्त गुणों से सम्पन्न हों, तब भी किसी विशिष्ट प्रयोजन के उपस्थित होने पर दो साधु विहार कर सकते हैं।[36]

1. कृतकरण– विहार में अभ्यस्त हों।
2. स्थविर– श्रुत और दीक्षा पर्याय से स्थविर हों।
3. सूत्रार्थ विशारद– सूत्रार्थ में निपुण हों।
4. श्रुतरहस्य– सूत्र के रहस्यों को अनेक बार सुना हुआ हों।
5. समर्थ– कदाचित मार्ग में किसी एक का अवसान हो जाये तो उसके मृत शरीर और समस्त उपधि को वहन करने में समर्थ हों।

## विहार में गीतार्थ मुनि के कर्तव्य

जैन साहित्य का अध्ययन करने से यह सुस्पष्ट होता है कि विहार में गीतार्थ मुनि का होना परमावश्यक है। पद यात्रा के दौरान गीतार्थ श्रेष्ठ भूमिका का निर्वहन करते हैं। विहार करने वाले आबाल-वृद्ध मुनियों के संरक्षण का समग्र उत्तरदायित्व उन पर होता है। इस दृष्टि से विहार में चलने का एक क्रम भी निर्धारित किया गया है। बृहत्कल्प के भाष्यकार कहते हैं–

मार्ग में चलते समय सबसे आगे अगीतार्थ मुनि चलें, मध्य में समर्थ गीतार्थ चलें तथा पीछे गीतार्थ मुनि चलें।[37]

मूलपाठ में अगीतार्थ मुनि के लिए– मृग परिषद् मुनि, समर्थ गीतार्थ के लिए – वृषभ मुनि, श्रेष्ठ गीतार्थ के लिए– सिंह परिषद् मुनि, इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। यहाँ इन शास्त्रीय नामों का निर्देश करते हुए कुछ आवश्यक चर्चा करेंगे।

कुछ आचार्यों का मत है– वृषभ मुनि सबसे पीछे चलें, क्योंकि अगीतार्थ–गीतार्थ या बाल-वृद्ध साधुओं में जो कोई परिश्रान्त हो जायें अथवा भूख-प्यास से पीड़ित हो जायें तो वे उनकी रक्षा कर सकते हैं। इसलिए वृषभ मुनि पीछे चलें अथवा बाल-बृद्ध मुनियों के आगे, पीछे और पार्श्व में चलें।

आचार्य के दोनों ओर नियमतः वृषभ मुनि चलने चाहिए। अगीतार्थ मुनियों के मध्य भी नियमतः एक वृषभ साधु चलना चाहिए।

मार्ग में वृषभ मुनि की आवश्यकता इन कारणों को लेकर स्वीकारी गयी है कि वे अपनी शक्ति को कभी छुपाते नहीं है। मृगपरिषद् या सिंहपरिषद् का

कोई सदस्य मुनि जब, जहां असहिष्णु हो जाये, तो उसके अनुरूप तुरन्त उपकार करते हैं, कष्ट दूर करने का प्रयास करते हैं। क्षुधा से पीड़ित होने पर आहार और तृषा से व्याकुल होने पर पानी लाकर देते हैं। मार्ग में थकने पर उनकी विश्रामणा करते हैं। यदि कोई साधु स्वयं के उपकरणों को लेकर चलने में असमर्थ हो जाये या शरीर से असक्षम हो जाये तो उसके उपकरणों को वृषभ मुनि लेकर चलते हैं। इस प्रकार वृषभ मुनि स्वयं की शक्ति का गोपन न करते हुए मृग परिषद्, सिंह परिषद् और वृषभ परिषद्– तीनों प्रकार के मुनियों का उपकार करते हैं। इसी के साथ चोर आदि का भय होने पर वृषभ मुनि स्वर भेद और वर्ण भेद करने वाली गुटिका के द्वारा स्वर और वर्ण भेद करके या वेश बदलकर या आरक्षक होकर साधु-साध्वियों की सुरक्षा करते हैं।

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक समुदाय एवं गच्छ में वृषभ मुनि अवश्य होने चाहिए।

**निष्पत्ति**– वर्तमान में गीतार्थ मुनियों की संख्या नगण्य होती जा रही है। ऐसी स्थिति में विहारस्थ साधु-साध्वियों का संरक्षण किस प्रकार किया जा सकता है यह विचारणीय है। सामान्य रूप से पद-यात्रा का क्रम निम्न प्रकार से रखा जाये तो कुछ सीमा तक सुरक्षा सम्भव है–

सबसे पहले अगीतार्थ मुनि चलें, फिर आचार्य चलें, फिर बलशाली युवा साधु चलें अथवा गीतार्थ हो तो बलिष्ठ साधु गुरु के आगे एवं उनके पार्श्व में चले और गीतार्थ सबसे पीछे चले।

असमर्थ या असहिष्णु मुनि आगे चले तो उनकी सार-संभाल सम्यक प्रकार से की जा सकती है अन्यथा पीछे रहने पर चक्कर आदि आ जाये तो उन्हें कौन संभालेगा? आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। वाहनों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस कारण दुर्घटनाएँ भी बढ़ रही हैं। ऐसी स्थिति में विहार मर्यादा का विशुद्ध पालन दुर्भर-सा हो गया है तब भी अगीतार्थ मुनि आगे चलें और गीतार्थ या बलिष्ठ मुनि पीछे चलें तो दुर्घटनाओं से बचा जा सकता है। वे पृष्ठ भाग में चलते हुए सामने की स्थिति का पूर्ण ख्याल रख सकते हैं।

## साम्भोगिक (एक गच्छवासी) मुनि के विहार संबंधी कृत्य

ओघनिर्युक्ति में कहा गया है कि यदि विहार करते हुए मुनि को अपने गच्छवासी (सांभोगिक) साधु मिल जाये तो सबसे पहले स्वयं के उपकरण आदि सांभोगिक (एक स्थान पर रुके हुए गच्छवासी साधु) के हाथ में देकर छोटे-बड़े के क्रम से वन्दना करें।

1. फिर आने का उद्देश्य स्पष्ट करें 2. दोनों परस्पर सुखपृच्छा करें 3. विहारस्थ मुनि विहार कर रहे हों तो स्थित मुनि पहुँचाने जाएं 4. यदि वहाँ रूग्ण मुनि हो तो स्वयं को सेवा के लिए प्रस्तुत करें और 5. यदि ग्लान के लिए औषध आदि की संयोजना करने वाला कोई न हो, तो स्वयं उसकी गवेषणा करें। तत्पश्चात उसकी विधि बतलाकर विहार करें।[38]

## गमनयोग में अपेक्षित सावधानियाँ

यह संसार अनन्तानन्त जीवों का पिण्ड है। इसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं बड़े से बड़े सभी प्रकार के जीव रहते हैं, अत: हमारी हलन-चलन जैसी प्रवृत्तियों से जीव हिंसा की पूर्ण संभावना रहती है। इस प्रसंग में गौतम गणधर ने भगवान महावीर से प्रश्न किया है कि किसी भी प्रवृत्ति में जीव हिंसा होती है तब क्या करें? कैसे सोयें, कैसे बैठें, कैसे चलें, कैसे बोलें? इसके प्रत्युत्तर में भगवान महावीर ने कहा 'यतनापूर्वक चलो, यतनापूर्वक बैठो, यतनापूर्वक समस्त प्रवृत्ति करो इससे पापकर्म का बन्धन नहीं होगा।'

जो साधक यतनापूर्वक प्रवृत्ति करते हुए सभी प्राणियों को समान भाव से देखता है, उसके नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्वकर्म नष्ट हो जाते हैं। श्रमण की प्रत्येक क्रिया उपयोगयुक्त होती है, अत: गमनक्रिया को भी गमनयोग कहा गया है। तदुपरान्त गमनक्रिया के समय निम्न सावधानियां आवश्यक हैं इसके परिणाम स्वरूप बन्धन रूप क्रिया निर्जराफल रूप बनती है।[39]

विहार करते समय युग परिमाण भूमि को देखते हुए चलें। तृण, घास, बीज, आदि पर न चलें। सरजस्क पैरों से गोबर, कीचड़ आदि पर न चलें। धुंवर, वर्षा आदि गिरते समय न चलें। आंधी, महावात वायु, तेज हवादि के समय विहार न करें। बातचीत करते हुए, हँसते हुए, इधर-उधर झांकते हुए न चलें। हिलते हुए पत्थर, ईंट, तख्ते आदि पर पैर रखकर न चले। पाद विहार से श्रान्त हो जायें, तब भी सचित्त भूमि पर न बैठें, स्थान का प्रमार्जन किए बिना

न बैठें। गलीचे, दरी आदि पर न बैठें, गृहस्थ के घर न बैठें। जिस मार्ग पर बैलगाड़ी, गज सवारी, रथ, गाय, घोड़े, ऊँट, मनुष्य आदि का सदा आवागमन रहता हो, सूर्यादि का पर्याप्त प्रकाश गिरता हो तथा हलादि चलाये जा चुके हों, उस मार्ग में पद यात्रा करें।[40]

## एकाकी विचरण के दोष

तीर्थंकर उपदिष्ट आगम ग्रन्थों में जिनकल्पी मुनि को छोड़कर शेष साधुओं के लिए एकाकी विचरण करने का निषेध किया गया है। गीतार्थ (बहुश्रुत) मुनि के लिए भी एकाकी विचरण निषिद्ध बताया गया है। भाष्यकार संघदासगणि कहते हैं कि यदि गीतार्थ मुनि भी अकेला विहार करता है तो वह चारित्र से च्युत होकर पार्श्वस्थ (शिथिलाचारी) बन जाता है, सद्बुद्धि से विकल हो जाता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र- इन तीन स्थानों का त्याग कर देता है क्योंकि 1. षड्काय विराधना से चारित्र की 2. प्रचुर आहार के भक्षण से ग्लान युक्त होकर आत्मा की 3. अयतना पूर्वक मल-मूत्रादि का विसर्जन करने से प्रवचन की अवहेलना होती है।[41]

यहाँ जानने योग्य है कि गीतार्थ जैसा श्रुतज्ञानी मुनि भी यदि अकेला विहार करे तो चारित्र मार्ग से च्युत होकर अनेक दोषों से घिर सकता है तब सामान्य मुनि अकेला विचरण कैसे कर सकता है? यह सर्वथा सामाचारी विरुद्ध है। अत: किसी भी मुनि को निष्प्रयोजन अकेला नहीं रहना चाहिए। यदि अगीतार्थ मुनि अकेला विहार करता है तो निम्न दोषों की संभावनाएं बनती हैं-

1. वह नये ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकता है, क्योंकि उसे ज्ञान देने वाला कोई नहीं होता 2. सूत्र और अर्थ विषयक शंका होने पर उसके पास पृच्छा का अवकाश नहीं होता 3. सूत्र और अर्थ का परावर्तन करते समय अशुद्धि के लिए सचेत करने वाला कोई नहीं होता 4. अन्य मुनियों को परावर्तन करते हुए न देखकर स्वयं का उत्साह भी मन्द हो जाता है 5. एकाकी अगीतार्थ मुनि को चरक आदि अन्य तीर्थिक सन्यासी अपनी कुयुक्तियों के द्वारा भ्रमित कर सकते हैं 6. एकाकी होने के कारण वह साधर्मिक मुनियों के प्रति वात्सल्य तथा उनका उपबृंहण, स्थिरीकरण आदि नहीं कर सकता 7. उसके मन में जिन वचनादि के प्रति शंका हो जाये तो उसका समुचित समाधान न मिल पाने के कारण दर्शनाचार से भ्रष्ट हो जाता है 8. एकाकी होने के कारण स्त्री-राग संबंधी दोष

भी उत्पन्न हो सकते हैं 9. वह अपने अपराधों की विशुद्धि भी नहीं कर सकता है, क्योंकि अपराध विशोधि प्रायश्चित्त द्वारा ही सम्भव है और वह अकेला किससे प्रायश्चित्त ग्रहण करे? 10. सूत्र पाठों के परावर्त्तनादि के बिना स्वाध्याय की उद्यमशीलता मंद हो जाती है 11. गुरु की आज्ञा से मुक्त होने के कारण उसका चारित्र दूषित हो जाता है या चारित्र से गिर जाता है 12. एकाकी मुनि विनय, वैयावृत्य आदि श्रामण्य जीवन की प्रवृत्तियों से अत्यन्त दूर हो जाता है 13. गृहस्थ संसर्ग के कारण उनकी जीवनचर्या से अधिक परिचित हो जाता है और 14. परिणामत: उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र में मलिनता आ जाती है। इस प्रकार अगीतार्थ मुनि को किसी भी स्थिति में अकेले विहार नहीं करना चाहिए।[42]

मूलाचार में एकाकी विहार के दोषों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि एकाकी विहार करने पर उसके गुरु का तिरस्कार होता है जैसे इस चारित्रहीन मुनि को किसने मूंड दिया है, ऐसा लोग कहने लगते हैं। इससे श्रुत परम्परा का विच्छेद होता है और जिनशासन में मलिनता आती है। एकल विहारी मुनि में मूर्खता, विह्वलता, कुशीलता और पार्श्वस्थ रूप दुर्गुण प्रवेश कर जाते हैं। ऐसा मुनि काँटे से, ठूँठ से, मिथ्यादृष्टियों से, क्रोधी, श्वान, बैल, सर्पादि से, अन्यान्य हिंसक पशुओं से, म्लेच्छ जातीय लोगों से, विष से तथा अजीर्ण आदि अनेक आत्मघाती विपत्तियों से ग्रसित हो जाता है।[43]

इसी क्रम में यह भी कहा गया है कि एकल विहारी मुनि के द्वारा जिनाज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था, मिथ्यात्व सेवन, आत्मनाश और संयम विराधना– ये पाँच दोष उत्पन्न होते हैं। स्पष्ट है कि जो मुनि स्वच्छंद होकर एकाकी विचरण करते हैं वे सर्वप्रथम तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा का उल्लंघन कर पाप करते हैं। उन्हें देखकर अन्य भी कई मुनि इस तरह का आचरण करने लग जाते हैं। इससे अनवस्था दोष की उत्पत्ति होती है। जनसम्पर्क से सम्यक्त्वनाश होता है, उससे मिथ्यात्व के संस्कार प्रगाढ़ बनते हैं। परिणामत: आत्मा का हनन और संयम की विराधना भी होती है। इस प्रकार अन्य दोष भी संभवित है। अत: जिनकल्पी, विशिष्ट शक्ति एवं गुणों से युक्त मुनि के अतिरिक्त सामान्य, अल्पसामर्थ्यवान मुनियों को एकाकी विहार नहीं करना चाहिए।[44]

## गीतार्थ मुनि द्वारा एकाकी विहार के हेतु

पूर्व चर्चा के अनुसार गीतार्थ मुनि आचार्य के साथ विहार करें, नवकल्पी मर्यादा से युक्त विहार करें, एकाकी विहार न करें, परन्तु ओघनिर्युक्ति में गीतार्थ मुनि के लिए विहार करने सम्बन्धी कुछ आपवादिक कारण भी बताये गये हैं। संभवतया इन कारणों में गीतार्थ मुनि एकाकी विचरण भी कर सकता है। वे कारण निम्न हैं-[45]

1. यदि अर्हत तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षा भूमि, केवलज्ञान भूमि, निर्वाण भूमि, चमत्कारिक प्रतिमाओं, प्राचीन स्तूपों आदि देखने की इच्छा हो 2. संखडी (प्रीतिभोज) के लिए जाना हो 3. स्थान परिवर्तन हेतु आवश्यक रूप से जाना हो और 4. अनुकूल भोजन और उपधि की प्राप्ति करनी हो 5. दर्शनीय स्थलों को देखने हेतु जाना हो तो गीतार्थ मुनि एकाकी विहार कर सकता है।

## विहार क्षेत्र की मर्यादा

जैन साधु की जीवनचर्या इतनी कठोर होती है कि वह स्वच्छंदता पूर्वक जहां-तहां परिभ्रमण भी नहीं कर सकता है। जैन साहित्य में मुनि की विहार सम्बन्धी सीमाएँ भी निर्धारित की गयी हैं।

बृहत्कल्पसूत्र में कहा गया है कि साधु-साध्वी पूर्व दिशा में अंगदेश (जिसकी राजधानी चम्पानगरी है) से मगधदेश (जिसकी राजधानी राजगृह है) तक, पश्चिम दिशा में स्थूणादेश तक, उत्तर दिशा में वत्सदेश (जिसकी राजधानी कौशाम्बी है) तक और दक्षिण दिशा में कुणालदेश (जिसकी राजधानी श्रावस्ती है) तक विचरण कर सकते हैं। वे इससे बाहर नहीं जा सकते। यदि उससे आगे जाना भी हो तो जहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृष्टि होती हो वहां जा सकते हैं।[46]

उक्त क्षेत्रीय सीमाओं में विचरण करने का प्रयोजन यह है कि इन्हीं क्षेत्रों में तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा आदि कल्याणक होते हैं, भव्यजीव प्रतिबोध को प्राप्त होते हैं और तीर्थंकरों से धर्मश्रमण कर अपना संशय दूर करते हैं।

इन प्रान्तों में साधु-साध्वियों को भक्त-पान एवं उपधि भी सुलभता से प्राप्त होती है और यहाँ के निवासी साधु-साध्वियों के आचार-विचार से परिचित होते हैं, अत: इन क्षेत्रों में ही विहार करना चाहिए।[47] इन्हें आर्यक्षेत्र भी कहा गया है। प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार साढ़े पच्चीस आर्यदेश निम्न हैं-[48]

| जनपद (प्रदेश) | नगर (राजधानी) | जनपद (प्रदेश) | नगर (राजधानी) |
|---|---|---|---|
| 1. मगध | राजगृह | 2. अंग | चम्पा |
| 3. बंग | ताम्रलिप्ति | 4. कलिंग | कांचनपुर (भुवनेश्वर) |
| 5. काशी | वाराणसी (बनारस) | 6. कौशल | साकेत |
| 7. कुरू | हस्तिनापुर | 8. कुशार्त्त | सौरीपुर |
| 9. पांचाल | काम्पिल्य | 10. जांगल | अहिच्छत्रा |
| 11. सौराष्ट्र | द्वारका | 12. विदेह | मिथिला |
| 13. वत्स | कौशाम्बी | 14. शांडिल्य | नन्दिपुर |
| 15. मलय | भद्दिलपुर | 16. मत्स्य | वैराट |
| 17. अच्छ | वरुणा | 18. दशार्ण | मृत्तिकावती |
| 19. चेदी | शुक्तिमती | 20. सिन्धु-सौवीर | वीतभय |
| 21. शूरसेन | मथुरा | 22. भंगी | पावापुरी |
| 23. वर्त्त | मासपुरी | 24. कुणाला | श्रावस्ती |
| 25. लाढ़/लाट | कोटिवर्ष | 26. केकयार्द्ध | श्वेताम्बिका |

ध्यातव्य है कि इन क्षेत्रों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव उत्पन्न होते हैं, इसीलिए इन्हें आर्यक्षेत्र की संज्ञा प्राप्त है।

**प्रसंगवश अनार्य देश के नाम ये हैं–** 1. शक 2. यवन 3. शबर 4. बर्बर 5. काय 6. मुरुण्डदेश 7. उड्डदेश 8. गौडदेश 9. पक्वणगदेश 10. अरबदेश 11. हूणदेश 12. रोमदेश 13. पारसदेश 14. खसदेश 15. खासिकदेश 16. द्रुंबिलकदेश 17. लकुशदेश 18. बोक्कश देश 19. भिल्लदेश 20. पुलींद्रदेश 21. कुंचदेश 22. भ्रमरदेश 23. भयादेश 24. कोपायदेश 25. चीनदेश 26. चंचुकदेश 27. मोलवदेश 28. मालवदेश 29. कुलार्द्धदेश 30. कैकेय देश 31. किरातदेश 32. हयमुख देश 33. खरमुखदेश 34. गजमुखदेश 35. तुरंगमुखदेश 36. मिंढकमुखदेश 37. हयकर्णदेश 38. मुहयकर्ण देश 39. गजकर्णदेश। इनके अतिरिक्त भी अन्य बहुत से अनार्य देश हैं।[49]

**निष्पत्ति–** प्राचीन मान्यता के अनुसार जिन साढ़े पच्चीस देश को आर्यक्षेत्र की संज्ञा प्राप्त है। आज इन क्षेत्रों में आहार-निहार एवं विहार संबंधी

चर्या का निर्दोष पालन करना दुर्भर होता जा रहा है। जैन श्रावक गिनती मात्र रह गये हैं। फिलहाल साधु-साध्वी के विचरण के लिए राजस्थान, गुजरात, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, मालवा, कर्नाटक, तमिलनाडु आदि प्रान्त अनुकूल कहे जा सकते हैं। मूलतः जहाँ संयमगुणों की वृद्धि हो एवं जिनशासन की प्रभावना हो वहीं विचरण करना चाहिए। कालगत प्रभाव से आर्य-अनार्य स्वभावी और अनार्य-आर्य स्वभावी बन सकते हैं।

## विहार हेतु कुछ निषिद्ध स्थान

जैन साहित्य में विहार हेतु कुछ निषिद्ध स्थान भी बतलाये गये हैं, जहाँ मुनि को विचरण नहीं करना चाहिए।[50] बृहत्कल्पनिर्युक्ति के अनुसार वे निषिद्ध स्थान निम्नोक्त हैं–

1. जिन राज्यों में रहने वाले लोगों में पूर्वजों से परम्परागत वैर चल रहा हो।
2. जिन दो राज्यों में परस्पर वैर उत्पन्न हो गया हो।
3. जहाँ के राजादि लोग दूसरे राज्यों के ग्राम-नगरादि को जलाने की योजना बनाते हों।
4. जहाँ के मंत्री, सेनापति आदि प्रधान पुरुष राजा से विरक्त हो रहे हों, उसे पदच्युत करने के षडयन्त्र में संलग्न हों।
5. जहाँ का राजा मर गया हो या हटा दिया गया हो।
6. जहाँ पर दो राजाओं के राज्य में परस्पर गमनागमन प्रतिषिद्ध हो।[51]

इस प्रकार के अराजक या विरुद्धराज्य में विचरण करने से अधिकारी वर्ग साधु को चोर, गुप्तचर या षड्यन्त्रकारी जानकर वध, बन्धन आदि नाना प्रकार के दुःख दे सकते हैं। इससे जिनेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन भी होता है। यदि विशेष कारणों से उक्त प्रकार के राज्यादि में जाना-आना भी पड़े तो पहले सीमावर्ती 'आरक्षक' से राज्य के भीतर जाने की स्वीकृति माँगे। यदि वह स्वीकृति देने में अपनी असमर्थता बतलाये तो क्रमशः नगर-सेठ, सेनापति, मंत्री, राजा के पास संदेश भेजकर अनुमति माँगे, तत्पश्चात उस राज्य में प्रवेश करें। पुनः लौटते समय भी उक्त क्रम से ही स्वीकृति प्राप्त कर बाहर आयें। यह औत्सर्गिक नियम है। अपवादतः भिक्षु निम्न कारणों में निषिद्ध स्थानों पर भी गमनागमन कर सकता है[52]–

1. यदि किसी साधु के माता-पिता दीक्षा के लिए उद्यत हों तो उन्हें दीक्षा देने के लिए।
2. यदि माता-पिता पुत्र वियोग के शोक से विह्वल हों तो उन्हें सान्त्वना देने के लिए।
3. भक्तपान प्रत्याख्यान (समाधिमरण) का इच्छुक साधु अपने गुरु या गीतार्थ के पास आलोचना ग्रहण करने के लिए।
4. रोगी साधु के वैयावृत्य के लिए।
5. वादियों द्वारा शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करने पर शासन-प्रभावना के लिए।
6. आचार्य का अपहरण कर लिए जाने पर उनको मुक्त कराने के लिए तथा इसी प्रकार के अन्य कारण उपस्थित होने पर उक्त प्रकार से स्वीकृति लेकर जा-आ सकते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि विरुद्धादि राज्यों में बार-बार नहीं जाना चाहिए। अपवादत: जाना पड़े तो बार-बार नहीं जाना चाहिए, क्योंकि आवश्यक कार्य से एक-दो बार जाना तो शक्य हो सकता है, किन्तु बार-बार गमन करना आपत्तिजनक होता है।

वर्तमान सन्दर्भ में कहें तो जैसे भारत में विचरण करने वाले साधु-साध्वियों को पाकिस्तान में नहीं जाना चाहिए, किन्तु नेपाल, भूटान आदि भिन्न देशों में अनुमतिपूर्वक आ-जा सकते हैं।

## रात्रि में विहार या गमनागमन निषेध के कारण

बृहत्कल्पसूत्र में इस विषय का सोद्देश्य वर्णन है कि साधु-साध्वी को रात्रि में विहार क्यों नहीं करना चाहिए। इसके निम्न प्रयोजन बताये गये हैं–[53]

1. रात्रि में गमन करने से मार्ग पर चलने वाले जीव दृष्टिगोचर नहीं होते अत: ईर्यासमिति का पालन नहीं हो सकता है और उसका पालन न होने से जीवों की विराधना होती है।
2. इसके अतिरिक्त पैरों में कांटे आदि लगने से, ठोकर खाकर गिरने से या गड्ढे आदि में गिरने से आत्म विराधना भी होती है।

3. साँप आदि के द्वारा डसने की या शेर-चीते आदि के द्वारा भक्षण करने की भी सम्भावना रहती है, इसलिए रात्रि में विहार नहीं करना चाहिए।

जैनाचार्यों ने भिक्षु के लिए रात्रि में आहारार्थ जाने का भी निषेध किया है, क्योंकि रात्रि में गोचरी हेतु गमनागमन करने पर षट्कायिक जीवों की विराधना होती है, उनकी विराधना से संयम की विराधना होती है और संयम की विराधना से आत्म विराधना होती है। इसके अतिरिक्त रात में आते-जाते हुए चोर समझकर पकड़े जा सकते हैं, गृहस्थ के घर जाने पर वहाँ अनेक प्रकार की आशंकाएँ हो सकती हैं। अपवादत: यदि चलते हुए मार्ग विस्मृत हो जाये या मार्ग अधिक लम्बा निकल जाये आदि कारणों से स्थविरकल्पी भिक्षु सूर्यास्त के बाद भी योग्य स्थान पर पहुँच सकता है और ठहरने के लिए मकान एवं जीव रक्षादि कारणों से पाट-संस्तारक आदि रात्रि में एवं विकाल में ग्रहण कर सकता है।[54]

सूर्यास्त से पूर्व मकान मिल जाए परन्तु आवश्यक पाट आदि गृहस्थ की दुकान से रात्रि के एक दो घंटे बाद भी मिलना सम्भव हो तो वह रात्रि में ग्रहण किया जा सकता है। परिस्थिति विशेष में ही इस अपवाद मार्ग का विधान है।

पूर्वाचार्यों का चिन्तन अत्यन्त सूक्ष्म रहा है कि उन्होंने रात्रि या सन्ध्या में मल-मूत्र विसर्जन के स्थान पर भी अकेले मुनि को जाने का निषेध किया है। किसी साधु को मल-मूत्र विसर्जन के लिए जाना आवश्यक हो तो वह रात्रि में एक या दो साधुओं के साथ ही उपाश्रय से बाहर जाये।[55]

एकाकी गमन करने पर निम्न दोषों की संभावनाएँ बनती हैं– यदि आने में विलम्ब हो तो अनेक आशंकाएं पैदा हो सकती हैं 1. प्रबल मोह के उदय से या स्त्री उपसर्ग से पराजित होकर अकेले भिक्षु का ब्रह्मचर्य खंडित हो सकता है 2. सर्प आदि जानवर काट खाये, मूर्च्छा आ जाये या कोई टक्कर लग जाये तो वह कहीं गिर सकता है 3. अकेला देखकर ग्राम रक्षक आदि पकड़ सकते हैं एवं मारपीट कर सकते हैं 4. स्वयं भी कहीं भाग सकता है 5. आयु समाप्त हो जाए तो उसके शान्त होने की दीर्घ समय तक किसी को जानकारी भी नहीं हो पाती है– इत्यादि कारणों से रात्रि में अकेले भिक्षु को उपाश्रय की सीमा से बाहर नहीं जाना चाहिए। मल-मूत्र आदि शरीर के स्वाभाविक वेग हैं, इन्हें रोकना प्राणघातक बन सकता है। मात्र इस दृष्टि से ही रात्रि में बाहर जाने का विधान है।

भाष्यकार ने इसके कुछ अपवाद भी बतलाये हैं जैसे यदि साधु भयभीत होने वाला न हो एवं उपर्युक्त दोषों की सम्भावना न हों तो सहवर्ती साधुओं को सूचित करके सावधानी रखते हुए अकेला भी जाया जा सकता है। दो साधुओं में एक बीमार है अथवा तीन साधुओं में एक बीमार है और एक को उसकी सेवा में बैठना आवश्यक है तो उसे सूचित करके अकेला भी जा सकता है। इसके अतिरिक्त अभिग्रह, प्रतिमा आदि धारण करने वाले मुनि भी कठोर साधना के निमित्त रात्रि में एकाकी बाहर जा सकते हैं। साध्वी के लिए तो दिन में भी अकेले जाने का विधान नहीं है। वे रात्रिकाल में तीन या चार साध्वी के साथ बाहर जा सकती हैं। इसका कारण केवल भयभीत होने की प्रकृति ही समझना चाहिए। साध्वी को किसी प्रकार के अपवाद में भी रात्रि में अकेले जाने की आज्ञा नहीं है। अत: कोई विशेष परिस्थिति हो तो श्राविका या श्रावक को साथ में लेकर जायें, किन्तु अकेले न जायें।[56]

**निष्पत्ति–** उक्त विवेचन का सार यही है कि साधु हो या साध्वी उन्हें रात्रि में उपाश्रय से बाहर नहीं जाना चाहिए। रात्रि में विहारादि भी नहीं करना चाहिए। यदि शरीर सम्बन्धी मल-मूत्रादि के त्याग का प्रश्न हो तो साधु दो या तीन मुनियों के साथ और साध्वी तीन या चार साध्वियों के साथ ही बाहर जायें यही उत्सर्ग मार्ग है। अन्य किसी विशेष परिस्थिति में साधु-साध्वी उच्चार-मात्रक में मल विसर्जन कर प्रात:काल भी परठ सकते हैं और उसका यथायोग्य प्रायश्चित्त ग्रहण कर दोष मुक्त बन सकते हैं।

वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में उक्त नियमों के परिपालन की संभावनाएं न्यूनतर होती जा रही हैं। अब निर्दोष स्थंडिल भूमि मिल पाना मुश्किल हो गया है। शहरों में तो लगभग संडास, बाथरूम का ही उपयोग करना पड़ता है। ग्रामीण क्षेत्रों में विचरण करने पर शास्त्रीय नियमों का पालन किया जा सकता है और करना भी चाहिए। यही उत्कृष्ट मार्ग है।

## वर्षाकाल में विहार का निषेध क्यों?

जैन भिक्षु को हेमन्त और ग्रीष्म इन ऋतुबद्ध आठ मासों में ही विहार करने की आज्ञा है। वर्षाऋतु में विहार करने का सर्वथा निषेध किया गया है। इसके कुछ प्रयोजन निम्न हैं–[57]

1. वर्षाकाल में पानी बरसने से भूमि सर्वत्रहरित तृणांकुरादि से व्याप्त हो

जाती है 2. भूमि- घास में रहने वाले छोटे जन्तुओं से, भूमि में रहने वाले केंचुआ, गिजाई आदि जीवों से तथा अन्य छोटे-बड़े त्रस जीवों से व्याप्त हो जाती है, अत: सावधानीपूर्वक विहार करने पर भी उनकी विराधना सम्भव है 3. पानी के बरसने से मार्ग में पड़ने वाले नदी-नाले भी अधिक जल-राशि से प्रवाहित रहते हैं अत: साधु-साध्वियों को उनको पार करने में बाधा हो सकती है और 4. विहार करते समय यदि पानी बरसे तो उनके वस्त्र एवं उपधि के भीगने की भी सम्भावना रहती है, जिससे अप्काय जीवों की विराधना होती है। अत: साधु-साध्वी को वर्षाकाल में चार मास तक एक स्थान पर रहना चाहिए।

शेष काल में विहार करते रहने से संयम धर्म की अभिवृद्धि, धर्म प्रभावना, ब्रह्मचर्य समाधि एवं स्वास्थ्य लाभ होता है तथा जिनाज्ञा का परिपालन होता है। अत: वर्षाकाल के सिवाय भिक्षु को एक स्थान पर नहीं रुकना चाहिए।

## तुलनात्मक विवेचन

यदि विहार संबंधी विधि-नियमों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि बृहत्कल्पसूत्र, ओघनिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथभाष्य, पंचवस्तुक आदि में जैन मुनि की विहारचर्या के भिन्न-भिन्न पक्षों पर विचार किया गया है। किन्हीं ग्रन्थों में विहार के प्रकार चर्चित हैं तो किन्हीं में विहार के प्रयोजन तो किसी में विहार सम्बन्धी विधि-विधान बताये गये हैं। विहार सम्बन्धी विधि-विधान एवं तद्विषयक मर्यादाएँ जैन परम्परा के साधु-साध्वियों के लिए एक समान हैं।

मूलाचार में दिगम्बर भिक्षु-भिक्षुणियों के यात्रा सम्बन्धी नियम प्राय: श्वेताम्बर परम्परा के सदृश ही बतलाये गये हैं, जैसे 1. वर्षावास के अतिरिक्त शेष आठ महीनों में इतस्तत: उत्सर्ग रूप से परिभ्रमण करें, अकारण एक स्थान पर न रहें 2. शान्तचित्त से यात्रा करें 3. जिस मार्ग पर बैलगाड़ी, यान, पालकी, हाथी, घोड़े आदि का सदैव आवागमन हो, ऐसे अचित्त भूमि पर ही विहार आदि करें और 4. जीव-जन्तु युक्त मार्ग पर कदापि गमन न करें इत्यादि विविध नियम श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समान ही हैं।[58]

बौद्ध संघ में भी भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए यात्रा सम्बन्धी कुछ नियम अवश्य बनाए गए हैं जो जैन धर्म से किंचित समानता रखते हैं तथा किंचित भिन्न हैं। पातिमोक्ख, चुलवग्ग आदि के अनुसार बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी के लिए

भ्रमण करना अनिवार्य है। भिक्षु एकाकी विचरण कर सकता है, जबकि भिक्षुणी के लिए एकाकी यात्रा करने का निषेध है। उसे किसी गृहस्थ पुरुष या दास आदि के साथ घूमने, अरण्यादि शून्य स्थानों में रहने, अशान्त या अधिक शोरगुल युक्त स्थानों में रहने का भी निषेध किया गया है, उक्त नियमों का पालन न करने पर उसे मानत्त का दण्ड दिया जाता है।

सामान्यत: बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी को यात्राकाल में किसी वाहन का प्रयोग करना निषिद्ध है, परन्तु रोगी आदि के लिए वाहन सेवन की अनुमति दी गई है। वे शिविका और पालकी का उपयोग कर सकती हैं। जैन परम्परा में भी अस्वस्थ साधु-साध्वी पालकी, ह्विल-चेयर आदि का उपयोग करने लगे हैं परन्तु मूलागमों में इस तरह का कोई विधान नहीं है। आपवादिक स्थितियों में भी किसी तरह के वाहन प्रयोग की अनुमति दी गई हो, पढ़ने में नहीं आया है। जबकि बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ अपवाद स्वरूप वाहन का उपयोग कर सकती हैं।[59]

## उपसंहार

विहारचर्या मुनि जीवन का एक अनिवार्य अंग है। इसके माध्यम से वह व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दक्षता को प्राप्त करता है। मुनि के लिए आहार, स्वाध्याय, ध्यान आदि जितना आवश्यक है, विहार भी उतना ही आवश्यक माना गया है। मुनि मुख्य रूप से स्थानांतर आदि के निमित्त से विहारचर्या करते हैं। वर्षाकाल में जैन मुनि विशेष जीवोत्पत्ति और उनकी हिंसा की संभावनाओं के कारण चार मास तक एक ही जगह पर स्थिरावास करते हैं तथा शेष आठ मास में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की स्पर्शना करते हैं। प्रश्न हो सकता है कि मुनि यदि ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय में स्थिर होकर आत्म साधना में रमण कर रहा हो, उस स्थिति में वह विहार क्यों करे? इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि एक स्थान पर अधिक समय तक रहने से मुनि के मन में उस स्थान के प्रति राग उत्पन्न हो सकता है। विविध प्रकार की भाषाओं, क्षेत्रों एवं कलाओं के ज्ञान से वंचित रह सकता है। विविध तीर्थ भूमियों की स्पर्शना नहीं होगी तथा भिन्न-भिन्न देश के लोगों से सम्पर्क नहीं बनेगा जिससे मुनि व्यावहारिक क्षेत्र में तो पीछे रहेगा ही, साथ ही धर्म का प्रचार-प्रसार भी नहीं कर पाएगा। अत: विहार चर्या को मुनि के लिए परमावश्यक बताया गया है।

यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विहार चर्या की प्रासंगिकता पर विचार किया

जाए तो इस युग के भौतिक विकास को देखकर कई लोग इसे मात्र रूढ़िवादिता तथा अप्रासंगिक मानते हैं। उनके अनुसार वर्तमान युग तेज गति से चलने वाले वाहनों का युग है, फिर कष्टों को सहन करते हुए पाद भ्रमण क्यों? वाहनों का प्रयोग कर अधिक से अधिक क्षेत्रों में धर्म का प्रचार-प्रसार क्यों नहीं किया जा सकता है? इस धीमी कछुए की गति से समाज का उद्धार कैसे होगा? इस तर्क को देने वाले उपभोक्तावादी लोग साधु जीवन का मूल उद्देश्य ही नहीं समझते और इसी कारण वे बिना आधार के तर्क प्रस्तुत करते हैं। पंचमहाव्रतधारी मुनि के लिए यह सब त्याज्य है। वे तो अपनी साधना करते हुए जितना संभव होता है उतना लोक-कल्याण करते हैं। मात्र लौकिक उपकार ही मुनि जीवन का लक्ष्य नहीं है।

यदि यात्राकाल में विशाल अथवा अल्प जल युक्त जलमार्ग को पार करना हो तो विशेष कारण उपस्थित होने पर मुनि नाव का प्रयोग अपवाद रूप में कर सकते हैं। बृहत्कल्पसूत्र (4/32) के अनुसार गंगा, यमुना, सरयू, माही आदि महानदियों को मुनि एक बार पार कर सकते हैं। अल्प जल युक्त नदियों को दो-तीन बार पार करने का आपवादिक विधान है। आचारांगसूत्र में नाव कैसी हो, मुनि कहाँ बैठें आदि कई नियमों की चर्चा है। इसी प्रकार वर्तमान में शारीरिक व्याधि Accident, operation आदि स्थितियों में आपवादिक रूप से वाहन आदि का प्रयोग किया जाता हैं। इसमें गुर्वाज्ञा पूर्वक कार्य करना चाहिए।

वर्तमान में बढ़ रही दुर्घटनाओं, लूटमार, अपहरण, शीलभंग आदि परिस्थितियों में विहार करना एक चिंतनीय विषय है? इस पर श्रावक वर्ग को ध्यान केंद्रित करना अत्यावश्यक है।

## सन्दर्भ-सूची


1. *विविध पगारेहिं रयं, हरती जम्हा विहारो उ। व्यवहारभाष्य, 995*
2. *चरिया चरित्तमेव मुलूत्तरगुण समुदायो। दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 370*
3. *विहारोऽनियतवासो दर्शनादिनिर्मलीकरणं निमित्तं सर्वदेशविचरणम्।*
   *मूलाचार, 9/771 की टीका*
4. *भगवती आराधना, 155*
5. *अणिययवासो वा जतो ण णिच्चमेगत्थ वसियव्वं किन्तु विहरितव्वं।*
   *दशवैकालिक चूर्णि, चूलिका, 2/5*

6. अणिएयवासो समुदाणचरिया, अण्णायउंछं पतिरिक्कयाय।
अप्पोवधी कलहविवज्जणा य, विहारचरिया इसिणं पसत्था॥
दशवैकालिक चूलिका, 2/5
7. व्यवहारभाष्य, 995-997, 1010,1011
8. मूलाचार, 4/148 की टीका
9. बृहत्कल्पभाष्य, 691-693
10. वही, 5823-5825 वृत्ति
11. निशीथभाष्य, संपा. अमरमुनि, 1054
12. दशवैकालिक चूलिका, 2/11
13. प्रवचनसारोद्धार-सानुवाद, गा. 772
14. बृहत्कल्पभाष्य, 1226-1230, 1234-1235
15. वही, 1239-1240
16. भगवती आराधना, 148, 147, 146, 144
17. मूलाचार, 9/806, 800, 802
18. आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, नौवाँ अध्ययन
19. वही, 2/3/1
20. वही, 2/3/1/64-68
21. ज्ञाताधर्मकथा, 1/5/70
22. बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, 1/37,44
23. बृहत्कल्पभाष्य, 1545-1546, 2901-2904
24. व्यवहारभाष्य, 1025-1026, 1740-1741
25. निशीथभाष्य, 1045
26. ओघनिर्युक्ति, गा. 119-120
27. पंचवस्तुक, गा. 900-901
28. प्रवचनसारोद्धार, गा. 772
29. आचारदिनकर, पृ. 129
30. स्थानांगसूत्र, 8/1
31. दशवैकालिकसूत्र, चूलिका, गा. 2/10
32. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 297

33. (क) गणिविद्या प्रकीर्णक, गा. 4-7, 12-14
    (ख) आचारदिनकर, पृ. 130-131
34. बृहत्कल्पभाष्य, 1545, 1546
35. व्यवहारभाष्य, 1025-1026
36. व्यवहारभाष्य, 1740-1741
37. बृहत्कल्पभाष्य, 2901-2904, 3097
38. ओघनिर्युक्ति, गा. 68
39. मूलाचार, 10/1015-1017
40. वही, 5/304-305
41. बृहत्कल्पभाष्य, 694-698
42. वही, 699-701
43. गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो, तित्थस्स मइलणा।
    भिंमलकुसील पासत्थदा, य उस्सार कप्पम्मि॥
    कंटय खण्णुय पडिणिय, साणगोणादिसप्पमेच्छेहिं।
    पावइ आदविवत्ती, विसेण व विसूइया चेव॥

    मूलाचार, 4/151-152 की टीका
44. आणा अणत्थाविय, मिच्छत्ताराहणादणासो य।
    संजय विराहणाविय, एदे दुणिकाइया ठाणा॥

    वही, 4/154
45. ओघनिर्युक्ति, गा. 119-120
46. बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/48
47. बृहत्कल्पभाष्य, 3266-3270, भा. 2, पृ. 93
48. (क) प्रज्ञापनासूत्र, 1/102
    (ख) बृहत्कल्पभाष्य, 3263 की वृत्ति
    (ग) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र 446
49. (क) आचारदिनकर, पृ. 130
    (ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र 445
50. बृहत्कल्पसूत्र, मधुकर मुनि, 1/37
51. वही, पृ. 144

52. वही, पृ. 145
53. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा अद्धाणगमणं एत्तए।
बृहत्कल्पसूत्र, 1/44
54. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेत्तए। वही, 1/42
55. वही, 1/46
56. वही, 1/47
57. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासासु चारए।
कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमन्तगिम्हासु चारइ॥
बृहत्कल्पसूत्र, 1/35-36
58. मूलाचार, 4/101
59. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पृ. 65-66

●

## अध्याय-14

# स्थंडिल गमन सम्बन्धी विधि-नियम

पाँच समितियाँ साधुचर्या की निर्दोष परिपालना का अभिन्न अंग है। इस आचार विधि के माध्यम से उच्चार-प्रस्रवण परिष्ठापन नामक पाँचवीं समिति का विधियुक्त पालन किया जाता है। समितियाँ पंच महाव्रत का रक्षण एवं सर्वविरतिधर मुनियों का माता के समान पोषण करती है। इसलिए स्थंडिल एक शास्त्रोक्त चर्या है तथा इसका सम्बन्ध शरीर की आवश्यक क्रियाओं से है।

## स्थंडिल के विभिन्न अर्थ

'थंडिल' इस प्राकृत शब्द का संस्कृत रूपान्तरण 'स्थंडिल' है। स्थंडिल का शास्त्रीय अर्थ है–शुद्ध भूमि, जन्तु रहित प्रदेश, निर्जीवस्थान आदि।[1] उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार जो भूमि जीव-जन्तुओं के उपद्रवों से एवं चींटी-चूहें आदि बिलों से रहित हो, किसी मालिक के अधीनस्थ न हो, उपाश्रय से न्यूनतम सौ हाथ दूर हो, एकान्त में हो वह स्थंडिल भूमि कहलाती है। इसे मलोत्सर्ग भूमि, उत्सर्ग भूमि एवं परिष्ठापन भूमि भी कहते हैं।

## स्थंडिल भूमि के प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र के मतानुसार स्थंडिल भूमि निम्न दस लक्षणों से युक्त होनी चाहिए–[2]

1. **अनापात असंलोक –** अनापात-जहाँ स्वपक्ष और परपक्ष का आगमन न हो, असंलोक-जहाँ वृक्षादि से ढूँके होने के कारण किसी की दृष्टि न पड़ती हो अर्थात जहाँ लोगों का आवागमन न हो और दूर से भी कोई दिखता न हो वह अनापात-असंलोक नामक स्थंडिल भूमि कहलाती है।
2. **औपघातिक–** जहाँ मल विसर्जन करने से लोक निन्दा, लोक उपहास एवं जीव वध आदि की सम्भावनाएँ न हों वह अनौपघातिक स्थंडिल भूमि है।

3. **सम–** जो कंकड़, पत्थर, गड्ढे, कांटे आदि विषमताओं से रहित हो, वह सम भूमि है।
4. **ठोस–** बिल आदि से रहित स्थान ठोस कहलाता है। स्थंडिल भूमि पोली, कोमल या छिद्रयुक्त न होकर कठोर होनी चाहिए।
5. **अचिरकालकृत–** जो भूमि किसी ऋतु विशेष के लिए अचित्त बनायी गयी हो, वह अल्पकालिक भूमि अचिरकालकृत कहलाती है।
6. **विस्तीर्ण–** जो स्थान लम्बा, चौड़ा अर्थात विस्तारवाला हो वह विस्तीर्ण स्थंडिल कहा जाता है।
7. **दूरावगाढ़–** जो स्थान अन्दर में गहराई तक अचित्त हो, वह दूरावगाढ़ स्थंडिल भूमि है।
8. **अनासन्न–** जो स्थान मन्दिर, बगीचा, मकान आदि से दूर हो वह अनासन्न स्थंडिल भूमि है।
9. **बिलवर्जित–** जहाँ चूहे, सांप, चीटियाँ आदि के बिल न हो, वह बिलवर्जित स्थंडिल भूमि कही जाती है।
10. **त्रस–** प्राण बीज रहित-जो भूमि स्थावर (पृथ्वीकायादि) और जंगम (त्रस) जीव जन्तुओं से रहित हो, वह त्रस-प्राण बीज रहित स्थंडिल कहलाता है।

संक्षेपत: जो स्थान उक्त दस प्रकार के गुणों से समन्वित हो तथा विषम, संकीर्ण, आसन्न, औपघातिक आदि दोषों से रहित हो वही मल-मूत्र आदि के विसर्जन हेतु उचित कहा गया है।

## स्थंडिल भूमि के 1024 विकल्प कैसे?

जैनागमों में स्थंडिल भूमि दस प्रकार की बताई गई है किन्तु पंचवस्तुक के अनुसार इन दशविध भूमि के एक संयोगी, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी यावत् दस संयोगी भांगे करने से कुल 1024 भांगे (विकल्प) बनते हैं।[3] स्थंडिल के 1024 विकल्प बनाने की विधि इस प्रकार है–

सर्वप्रथम जितने संयोगी भांगे करने हों, उतनी संख्या क्रमश: लिख लें। फिर उसके नीच पश्चानुपूर्वी से वही संख्या लिखें। फिर निम्न पंक्ति की पहली संख्या से उसके ऊपर की संख्या को गुणा करें जो गुणनफल आये, उसे नीचे लिखें। फिर नीचे की दूसरी संख्या से उस गुणनफल में भाग दें। जो भागफल

आये उसे ऊपर की दूसरी संख्या से गुणा करके गुणनफल नीचे लिखें। फिर उसे नीचे की तीसरी संख्या से भाग दें तथा जो भागफल आये उसे ऊपर की तीसरी संख्या से गुणा करके नीचे लिखें। इस तरह अनुक्रम से करते जायें। इस विधि के द्वारा जितने संयोगी भांगे बनाने हों, वह संख्या आ जाती है।[4]

## संयोगी भांगे का कोष्ठक

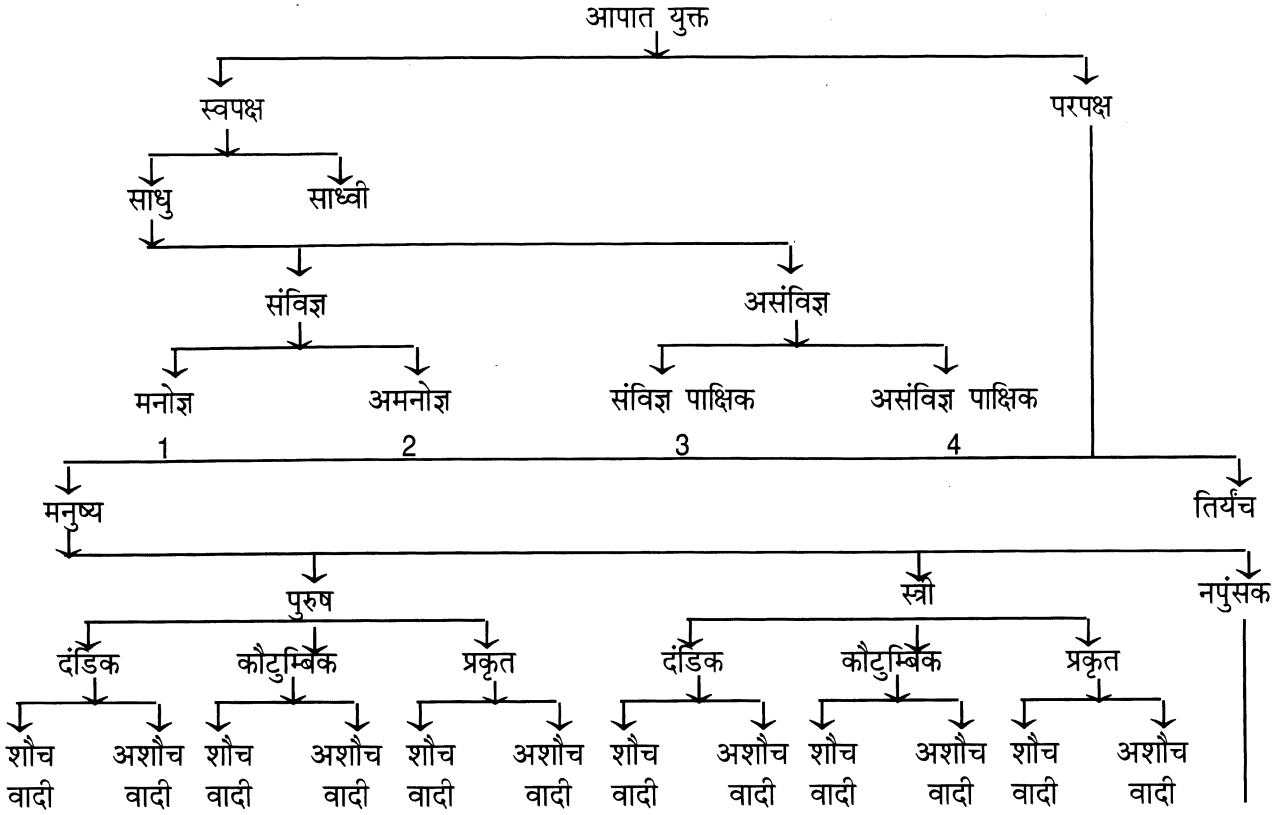
| संयोगी | 1 | 2 | 3 | 4 | 5 | 6 | 7 | 8 | 9 | 10 |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पश्चानुक्रम | 10 | 9 | 8 | 7 | 6 | 5 | 4 | 3 | 2 | 1 |
| गुणनफल या भांगा | 1 | 10 | 45 | 120 | 210 | 252 | 210 | 120 | 45 | 10 |

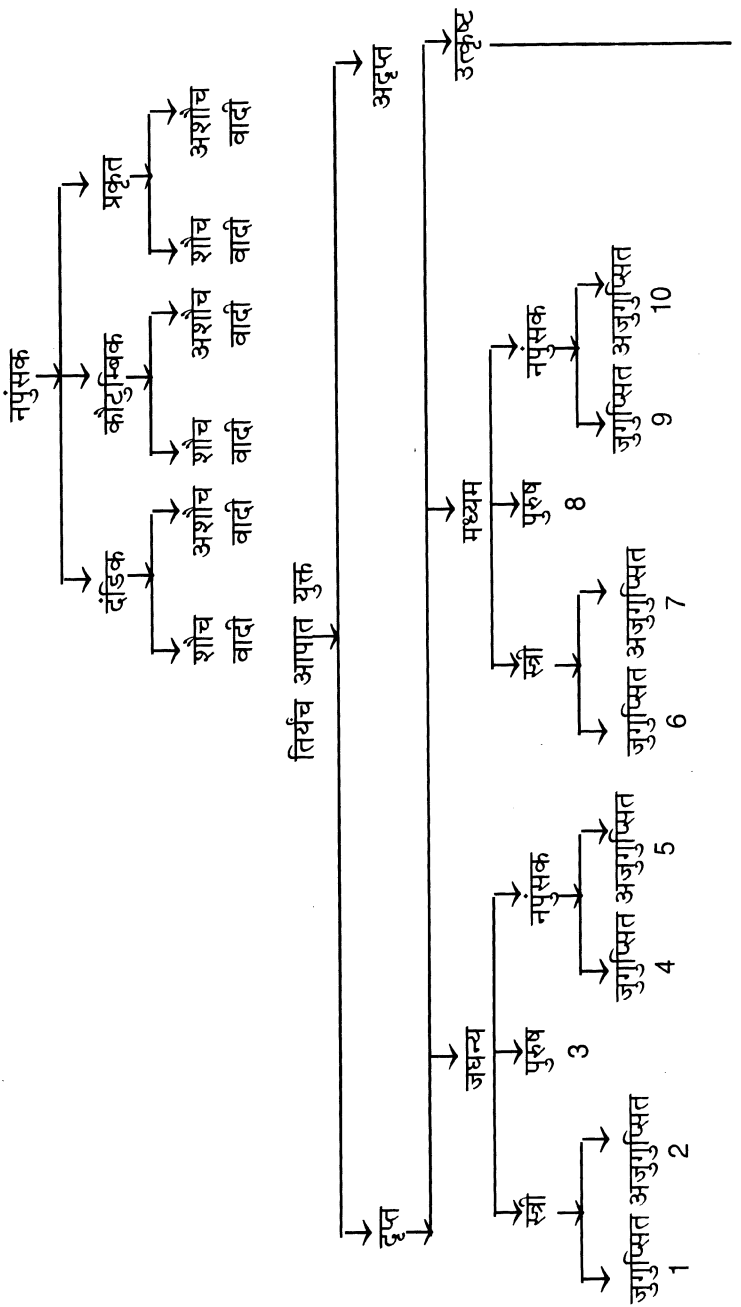
स्पष्ट यह है कि यहाँ नीचे की पंक्ति के 1 अंक को ऊपर के 10 के साथ गुणा करके नीचे रखें। फिर 2 से 10 में भाग देकर जो भागफल आये, उसे 2 के नीचे के अंक 9 से गुणा कर गुणनफल 45 को उसके नीचे रखें। इस प्रकार नीचे की संख्या से पूर्व के गुणनफल को भाग देना और भागफल से ऊपर की संख्या का गुणा करना–इस तरह किसी भी संख्या के संयोगी भांगे बनाये जा सकते हैं।

## 1024 भांगे का कोष्ठक

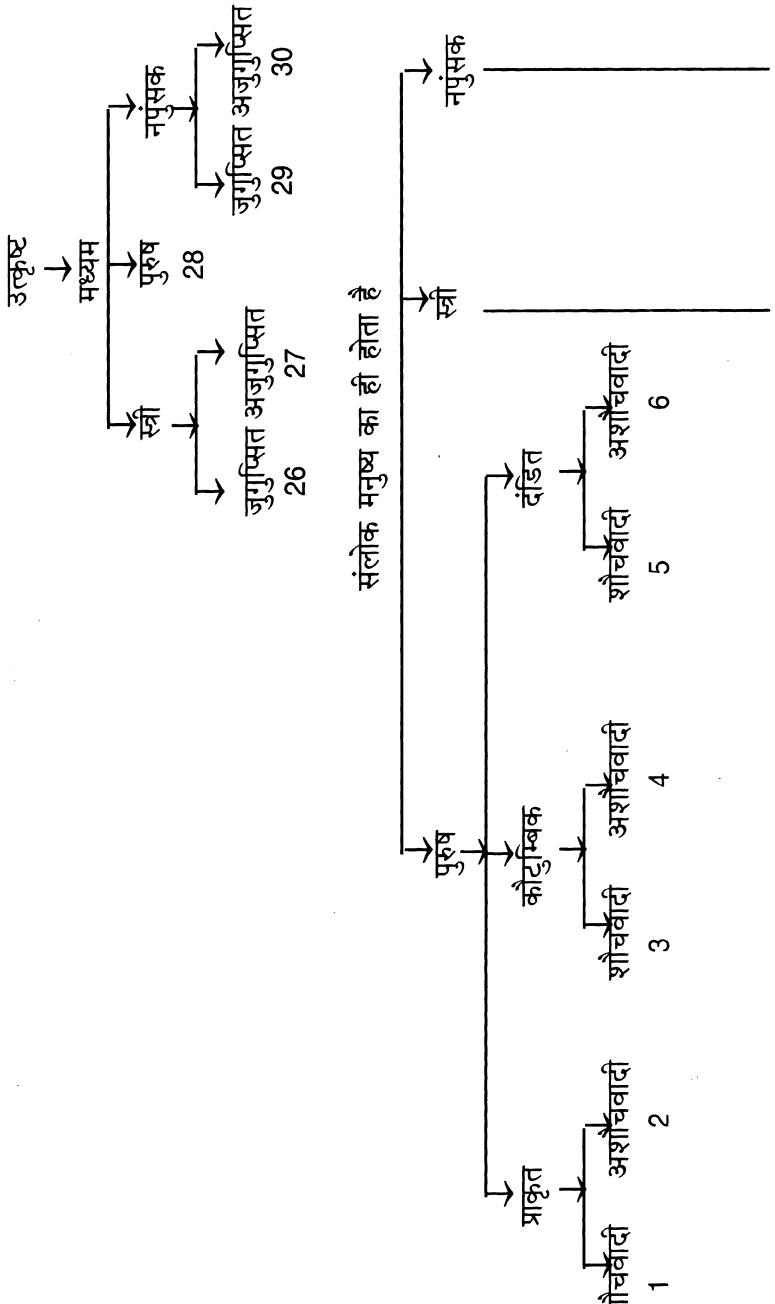
| | |
|---|---|
| 1 संयोगी | 10 |
| 2 संयोगी | 45 |
| 3 संयोगी | 120 |
| 4 संयोगी | 210 |
| 5 संयोगी | 252 |
| 6 संयोगी | 210 |
| 7 संयोगी | 120 |
| 8 संयोगी | 45 |
| 9 संयोगी | 10 |
| 10 संयोगी | 1 |
| | 1024 भांगा |

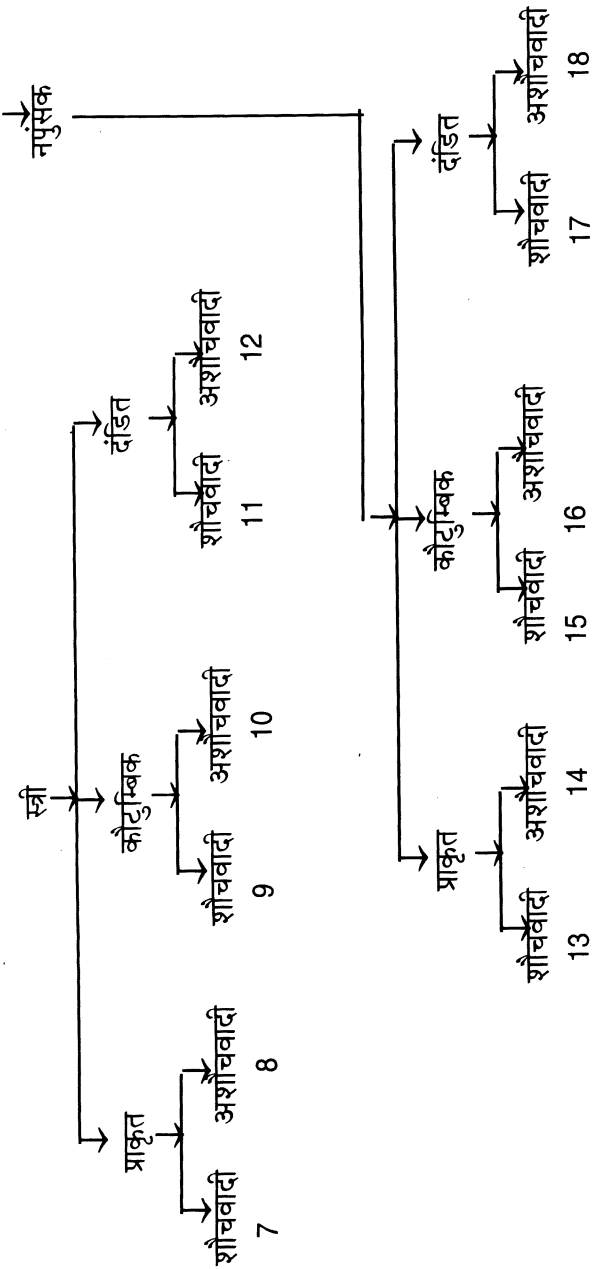
इनमें 1023 भांगे अशुद्ध स्थंडिल भूमि से सम्बन्धित हैं और 1 भांगा शुद्ध स्थंडिल का है।


आपात युक्त
स्वपक्ष
परपक्ष
साधु
साध्वी
संविज्ञ
असंविज्ञ
मनोज्ञ
अमनोज्ञ
संविज्ञ पाक्षिक
असंविज्ञ पाक्षिक
1
2
3
4
मनुष्य
तिर्यंच
पुरुष
स्त्री
नपुंसक
दंडिक
कौटुम्बिक
प्रकृत
दंडिक
कौटुम्बिक
प्रकृत
शौच वादी
अशौच वादी
शौच वादी
अशौच वादी
शौच वादी
अशौच वादी
शौच वादी
अशौच वादी
शौच वादी
अशौच वादी
शौच वादी
अशौच वादी


उत्कृष्ट
अदृप्त
मध्यम
नपुंसक
पुरुष
स्त्री
जुगुप्सित अजुगुप्सित
9 10
8
जुगुप्सित अजुगुप्सित
6 7
दृप्त
तिर्यंच आपात युक्त
जघन्य
नपुंसक
पुरुष
स्त्री
जुगुप्सित अजुगुप्सित
4 5
3
जुगुप्सित अजुगुप्सित
1 2
नपुंसक
कौट्टम्बिक
दंडिक
प्रकृत
अशौच शौच वादी वादी
अशौच शौच वादी वादी
अशौच शौच वादी वादी

उत्कृष्ट
मध्यम
स्त्री
जुगुप्सित अजुगुप्सित
11
12
पुरुष
13
नपुंसक
जुगुप्सित अजुगुप्सित
14
15
अदृप्त
जघन्य
स्त्री
जुगुप्सित अजुगुप्सित
16
17
पुरुष
18
नपुंसक
जुगुप्सित अजुगुप्सित
19
20
मध्यम
स्त्री
जुगुप्सित अजुगुप्सित
21
22
पुरुष
23
नपुंसक
जुगुप्सित अजुगुप्सित
24
25
उत्कृष्ट


संलोक मनुष्य का ही होता है
पुरुष
प्राकृत
शौचवादी
अशौचवादी
1
2
कौटुम्बिक
शौचवादी
अशौचवादी
3
4
दंडित
शौचवादी
अशौचवादी
5
6
स्त्री
नपुंसक
उत्कृष्ट
मध्यम
स्त्री
पुरुष
नपुंसक
जुगुप्सित अजुगुप्सित
26
27
28
जुगुप्सित अजुगुप्सित
29
30


नपुंसक
स्त्री
दंडित
अशौचवादी
शौचवादी
12
11
कौटुम्बिक
अशौचवादी
शौचवादी
10
9
प्राकृत
अशौचवादी
शौचवादी
8
7
दंडित
अशौचवादी
शौचवादी
18
17
कौटुम्बिक
अशौचवादी
शौचवादी
16
15
प्राकृत
अशौचवादी
शौचवादी
14
13

## स्थंडिल भूमि के अन्य प्रकार

पूर्व वर्णन से यह स्पष्ट है कि स्थंडिल भूमि दस प्रकार की प्रतिपादित है और उनके 1024 उपभेद बनाये जा सकते हैं किन्तु इनमें 'अनापात-असंलोक' नाम वाला एक प्रकार ही शुद्ध माना गया है। शेष भूमियाँ अशुद्ध मानी गई हैं।

'अनापात-असंलोक' नामक भूमि भी स्वपक्ष और परपक्ष, मनुष्य और तिर्यंच की दृष्टि से अनेक प्रकार की बतायी गयी है। मुख्यतया 'अनापात-असंलोक' नाम की स्थंडिल भूमि चार प्रकार की निरूपित है।[5]

1. अनापात असंलोक–जहाँ लोगों का आवागमन न हो और वे दूर से भी न दिखाई देते हों (शुद्ध भूमि भेद रहित)।
2. अनापात संलोक–जहाँ लोगों का आवागमन न हो, किन्तु वे दूर से दिखते हों (अशुद्ध भूमि-संलोक के भेद, प्रभेद तथा दोषों से युक्त)।
3. आपात असंलोक–जहाँ लोगों का आवागमन हो, किन्तु वे दूर से न दिखते हों (अशुद्ध भूमि-आपात के भेद, प्रभेद तथा दोषों से युक्त)।
4. आपात-संलोक–जहाँ लोगों का आवागमन भी हो और वे दूर से दिखते भी हों (अशुद्ध भूमि-आपात और संलोक के भेद, प्रभेद तथा दोषों से युक्त)।

पूर्वोक्त चतुर्विध विकल्पों में पहला विकल्प शुद्ध है, शेष तीनों अशुद्ध हैं। इनमें से चौथा विकल्प अशुद्धतम माना गया है। इस विकल्प की व्याख्या करने से अन्य भांगों के गुण-दोष सुगमता से ज्ञात हो जाते हैं। इसलिए यहाँ चतुर्थ विकल्प का विवेचन किया जा रहा है–

चतुर्थ भंग (विकल्प) आपात-संलोक नाम का है। आपात का अर्थ है–गमनागमन वाला और संलोक का अर्थ है–दूर से आते जाते हुए दिखाई देने वाला।

## आपात स्वपक्ष युक्त स्थंडिल भूमि

1. आपात स्थंडिल भूमि दो प्रकार की प्रज्ञप्त है[6]–
   1. स्वपक्ष–संयमी वर्ग के आपात वाली (गमनागमन वाली) भूमि।
   2. परपक्ष–गृहस्थ वर्ग के आपात वाली (गमनागमन वाली) भूमि।
2. मुनि वर्ग के आपात वाली स्थंडिल भूमि भी दो प्रकार की निरूपित है–
   1. संयत–साधु के आपात (गमनागमन) वाली भूमि।

2. संयति–साध्वी के आपात (गमनागमन) वाली भूमि।

3. संयत–संयति के आपातवाली स्थंडिल भूमि भी दो प्रकार की प्रज्ञप्त है–
   1. संविज्ञ– यथाविधि साधु सामाचारी के पालक साधु-साध्वी के आपात (आवागमन) वाली भूमि।
   2. असंविज्ञ– शिथिलाचारी साधु-साध्वी के आपात (आवागमन) वाली भूमि।

4. संविज्ञ साधु भी दो प्रकार के होते हैं– 1. मनोज्ञ – समान सामाचारी वाले साधु। 2. अमनोज्ञ-भिन्न सामाचारी वाले साधु।

5. असंविज्ञ साधु भी दो तरह के वर्णित हैं–1. संविज्ञ पाक्षिक–स्वयं के दोषों को देखने वाले तथा विशुद्ध सामाचारी की प्ररुपणा करने वाले। 2. असंविज्ञ पाक्षिक–चारित्रनिष्ठ साधुओं की निन्दा करने वाले। इस तरह स्वपक्ष वाले लोगों के आवागमन वाली स्थंडिल भूमि कई प्रकार की होती है।

## आपात परपक्ष युक्त स्थंडिल भूमि

जहाँ परपक्ष वाले (सर्वविरति चारित्र का पालन न करने वाले गृहस्थ) लोगों का आवागमन हो, वह आपात स्थंडिल भूमि मुख्यत: दो प्रकार की कही गई है–1. मनुष्य के आपात (आवागमन) वाली और 2. तिर्यञ्च जीवों के आपात (आवागमन) वाली।[7]

पूर्वोक्त दोनों ही स्थंडिल भूमि तीन-तीन भेदवाली हैं–1. पुरुष के आवागमन वाली भूमि 2. नपुंसक के आवागमन वाली भूमि 3. स्त्री के आवागमन वाली भूमि।

### 1. मनुष्य के आपात (गमनागमन) वाली भूमि

#### पुरुष आपात वाली स्थंडिल भूमि–

- पुरुष तीन प्रकार के होते हैं–1. राजकुल से सम्बन्धित, 2. सेठ-साहूकार और 2. सामान्य जन।
- उक्त तीनों प्रकार के पुरुष शौचवादी और अशौचवादी के भेद से दो-दो प्रकार के हैं–इस तरह पुरुष के गमनागमन वाली स्थंडिल भूमि छह प्रकार की होती है।

- पुरुष की तरह स्त्री की आपात वाली भूमि और नपुंसक की आपातवाली भूमि छह-छह प्रकार की होती है।

यहाँ ध्यातव्य है कि जिस भूमि में जिस तरह के लोगों का विशेष आगमन होता है वह भूमि उपचारत: उस-उस नाम से व्यवहृत होती है, जैसे- नपुंसक जीवों का जहाँ विशेष आवागमन हो वह नपुंसक आपातवाली स्थंडिल भूमि के नाम से कही जाती है।

## 2. तिर्यञ्च के आपात (गमनागमन) वाली भूमि

तिर्यञ्च जीव दो प्रकार के होते हैं–1. दृप्त–हिंसक प्रवृत्ति वाले 2. अदृप्त-शान्त स्वभाव वाले।[8]

पूर्वोक्त दोनों प्रकार के तिर्यञ्च जीव जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट तीन-तीन प्रकार के हैं। तिर्यञ्च के जघन्य-मध्यम आदि भेद मूल्य की अपेक्षा से हैं।

1. अल्प मूल्य वाले भेड़, बकरी आदि जघन्य पशु हैं।
2. कुछ अधिक मूल्य वाले भैंस, गाय आदि मध्यम पशु हैं।
3. विशेष मूल्य वाले हाथी आदि उत्कृष्ट श्रेणी के पशु हैं।

इस प्रकार पुरुष संज्ञा वाले तिर्यञ्च पशु के आपात (आवागमन) वाली स्थंडिल भूमि छह प्रकार की होती है। इसी तरह स्त्री संज्ञक तिर्यञ्च पशु और नपुंसक संज्ञक तिर्यञ्च पशु के आपातवाली स्थंडिल भूमि भी छह-छह विभाग वाली होती है। पूर्वोक्त छह-छह प्रकार की स्थंडिल भूमियाँ निन्दनीय एवं अनिन्दनीय के भेद से दो-दो प्रकार की बतायी गयी हैं। अस्तु तिर्यञ्च जीवों के आवागमन वाली भूमियाँ 12+12+12 = 36 प्रकार की होती हैं।

## संलोक युक्त स्थंडिल भूमि

जहाँ लोग आते-जाते दिखाई दें वह संलोक स्थंडिल भूमि कहलाती है। यह भूमि मनुष्य सम्बन्धी ही होती है। मनुष्य तीन प्रकार के हैं 1. पुरुष, 2. स्त्री, 3. नपुंसक।

इन तीनों प्रकार के मनुष्य तीन-तीन भेद वाले हैं–1. सामान्य जन 2. सेठ-साहूकार तथा 3. राजपुरुष। इनमें से प्रत्येक मनुष्य दो-दो भेद वाले हैं– 1. शौचवादी और 2. अशौचवादी।[9]

इस तरह पुरुष संलोक (पुरुषों के द्वारा दिखायी दी जाने) वाली, स्त्री संलोक वाली एवं नपुंसक संलोक वाली स्थंडिल भूमि 6 + 6 + 6 = 18 प्रकार की होती है।

उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि अनापात असंलोक नाम की स्थंडिल भूमि के चारों विकल्पों में से चौथे विकल्प में आपात एवं संलोक, तीसरे विकल्प में आपात और दूसरे विकल्प में संलोक के भेद-प्रभेद का समावेश होता है तथा इन तीनों भाँगों से युक्त स्थंडिल भूमि अशुद्ध कही गई है। इन भूमियों में स्थण्डिल के लिए जाने पर अनेकविध दोषों की संभावनाएँ रहती हैं। अतएव मल-मूत्र आदि के विसर्जन हेतु अनापात-असंलोक नामक पहला विकल्प ही शुद्ध एवं ग्राह्य है।

## अशुद्ध स्थंडिल भूमि के दोष

### स्वपक्ष आपात (आवागमन) वाली स्थंडिल भूमि में लगने वाले दोष

टीकाकार आचार्य हरिभद्र के मतानुसार जहाँ स्वपक्ष के संविग्न और मनोज्ञ साधु आते हों उसी स्थंडिल भूमि में जाना चाहिए, अन्य भूमि में जाने से अग्रलिखित दोष संभव हैं[10]–

1. स्वपक्ष–संयत-संविज्ञ-अमनोज्ञ साधुओं के आवागमन वाली स्थंडिल भूमि में जाने से कलह आदि की सम्भावना रहती है। भिन्न-भिन्न आचार्यों की भिन्न-भिन्न सामाचारी होती है। जिस स्थंडिल भूमि में अमनोज्ञ साधु आते-जाते हैं वहाँ यदि नवदीक्षित साधु चला जाये और अमनोज्ञ मुनियों की विपरीत सामाचारी देख लें तो उन्हें असत्य प्रमाणित करने से परस्पर कलह हो सकता है अथवा एक-दूसरे की भिन्न-भिन्न सामाचारी देखकर परस्पर में 'तुम गलत आचरण करते हो' ऐसा कहने में आ जाये तो संघर्ष की स्थिति पैदा हो सकती है।

2. असंविज्ञ (शिथिलाचारी) मुनियों के आवागमन वाली स्थंडिल भूमि में तो कदापि नहीं जाना चाहिए, क्योंकि वे मल शुद्धि के लिए प्रचुर जल का उपयोग करते हैं। उन्हें अधिक जल का उपयोग करते हुए देखकर परीषहों से खिन्न बने हुए शौचवादी, नवदीक्षित आदि साधु के मन में ऐसा भाव आ सकता है कि ये भी साधु हैं और हम भी साधु हैं पर इनका जीवन अच्छा है, अत: इनके साथ रहना चाहिए। ऐसा सोचते हुए अनुकूल अवसर मिलने पर असंविग्न साधुओं के पास जा सकते हैं।

3. जहाँ साध्वीजी का आवागमन हो वहाँ तो मुनि को जाना ही नहीं चाहिए, क्योंकि रागवृद्धि, विषय उत्तेजना, मोहोदय आदि दोषोत्पत्ति की संभावनाएं रहती हैं।

## परपक्ष आपातवाली स्थंडिल भूमि में लगने वाले दोष

जिस स्थंडिल भूमि में परपक्ष के पुरुष आते हों यदि उस भूमि पर जाना पड़े तो मुनि को प्रचुर जल लेकर जाना चाहिए, अन्यथा पानी कम हो, अस्वच्छ हो या बिल्कुल न हो तो शासन की निन्दा होती है। जैसे 'ये साधु गन्दे हैं, ये कितने अपवित्र हैं, इन अपवित्र मुनियों को आहार-पानी देने से क्या लाभ होगा?' ऐसा सोचकर स्वयं के घर में भिक्षा के लिए भी निषेध कर सकते हैं। धर्माभिमुख बना हुआ नवागन्तुक व्यक्ति धर्म के परिणामों से च्युत हो सकता है, मुनि धर्म के प्रति अरुचि हो सकती है। इस तरह पुरुष आपात वाली भूमि में जाने से कई दोष उत्पन्न होते हैं।

स्त्री एवं नपुंसक जीवों के गमनागमन वाली स्थंडिल भूमि में जाने से मुनि, गृहस्थ या दोनों के विषय में सन्देह पैदा हो सकता है। जैसे यह साधु किसी स्त्री को भ्रमित करना चाहता है अथवा जहाँ हम और हमारे स्वजनवर्ग (स्त्रीवर्ग) मलविसर्जन के लिए जाते हैं वहाँ किसी स्त्री को चाहते होंगे अथवा किसी स्त्री को आने का संकेत किया होगा। इस कारण ये साधु स्त्री की आपात वाली भूमि में जाते हैं। स्त्री एवं नपुंसक के विषय में सन्देह होता है कि ये दोनों दुराचरण करना चाहते हैं। इसके सिवाय परस्पर में एक-दूसरे को देखकर वेदोदय होने से मैथुन सेवन की सम्भावना भी रहती है। यदि साधु को स्त्री या नपुंसक के साथ मैथुन सेवन करते हुए किसी गृहस्थ द्वारा देख लिया जाए तो वह मनुष्य राजादि से कहकर उन्हें दण्डित करवा सकता है, इससे शासन की भारी हीलना होती है तथा साधु स्वयं भी अपमानित होने से दीक्षा त्याग या आत्महत्या आदि कर सकता है।[11]

## तिर्यंच जीवों के आपातवाली स्थंडिल भूमि में लगने वाले दोष

हिंसक पशुओं के आवागमन वाली स्थंडिल भूमि में जाने से पशु सींग आदि से मुनि को हानि पहुँचा सकते हैं, सींगादि द्वारा प्रहार होने से मुनि को मूर्च्छा आ सकती है या मृत्यु भी हो सकती है। घेटा आदि निन्दनीय तिर्यञ्च वाली भूमि में जाने से लोगों के मन में मुनि के प्रति दुराचार करने का सन्देह उत्पन्न होता है। कदाचित आवेग प्रबल हो जाये तो मैथुन सेवन का प्रसंग भी बन सकता है। उपर्युक्त दोष तिर्यञ्च आपात स्थंडिल वाली भूमि के सम्बन्ध में कहे गये हैं। इसी प्रकार के दोष मनुष्य संलोक वाली स्थंडिल भूमि से सम्बन्धित भी

जानने चाहिए। तिर्यञ्च के संलोक वाली स्थंडिल भूमि में जाने से पूर्वोक्त एक भी दोष नहीं लगता है।[12]

## संलोक वाली स्थंडिल भूमि में लगने वाले दोष

संलोक वाली (जहाँ से आते-जाते हुए मनुष्य दिखायी दें ऐसी) स्थंडिल भूमि में गमन करने पर कदाचित स्व-पर या उभय प्रेरित मैथुन की सम्भावना न भी हो, किन्तु लोकापवाद का अवकाश अवश्य रहता है। जैसे कुछ लोग कह सकते हैं कि जिस दिशा में युवतियाँ जाती हैं उसी दिशा में ये मुनि लोग स्थंडिल के लिए जाते हैं। ऐसा लगता है कि ये किसी स्त्री को चाहते हैं अथवा संकेत किया हुआ है, अत: ये यहाँ आये हैं तथा नपुंसक मनुष्य या नारी स्वभाववश अथवा वायु विकार के कारण विकृत लिंग को देखकर भोगेच्छा से साधु को उपद्रवित कर सकते हैं। इसलिए स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक तीनों की संलोक स्थंडिल भूमि में जाना वर्जित है।[13]

इस प्रकार चौथे विकल्प में आपात एवं संलोक के दोष, तीसरे विकल्प में आपात के दोष तथा दूसरे विकल्प में संलोक के दोष होने से तीनों वैकल्पिक स्थंडिल अशुद्ध हैं, मात्र प्रथम विकल्प वाले दोनों स्थंडिल (आपात व संलोक) दोष रहित होने से शुद्ध है इसलिए मुनि को शुद्ध विकल्प युक्त स्थंडिल में ही गमन करना चाहिए।[14]

## औपघातिक स्थंडिल भूमि के दोष

मुनि को अनौपघातिक (हिंसा रहित) स्थंडिल भूमि में जाना चाहिए। औपघातिक (हिंसा युक्त) भूमि में जाने से तीन प्रकार के दोष लगते हैं।

औपघातिक स्थंडिल भूमि तीन प्रकार की कही गई है– 1. आत्मौपघातिक भूमि–उद्यान आदि आत्मोपघाती भूमि है। उद्यानादि में मलोत्सर्ग करने से उसका मालिक आदि साधु को मार सकता है। उससे स्वयं का घात भी हो सकता है।

2. प्रवचनोपघातिक भूमि– विष्ठायुक्त स्थान आदि प्रवचनोपघातिक स्थंडिल भूमि कहलाती है। इस भूमि में मलोत्सर्ग करने से लोग कह सकते हैं कि 'ये साधु कितने गन्दे हैं' इस प्रकार शासन का उपघात होता है।

3. संयमोपघातिक भूमि–कोयले आदि बनाने योग्य अग्नि स्थान संयमोपघातिक स्थंडिल भूमि है। इन स्थानों पर मलोत्सर्ग करने से कोयलों का निर्माण करने वाले लोग उस स्थान को छोड़कर अन्य जीवाकुल भूमि में अग्नि

जलाकर कोयले आदि बना सकते हैं। इससे जो जीव हिंसा होती है उस दोष का भागी साधु बनता है तथा जीव हिंसा होने से संयम का उपघात (हनन) होता है, अत: मलोत्सर्ग हेतु औपघातिक स्थानों का सर्वथा परिहार करना चाहिए।[15]

## विषम भूमि के दोष

श्रमणाचार का सम्यक निरूपण करने वाले पंचवस्तुक ग्रन्थ में कहा गया है कि यदि मुनि मलोत्सर्ग हेतु विषम भूमि पर बैठता है और कदाचित शारीरिक असन्तुलन होने से घबरा जाये या गिरने का भय उत्पन्न हो जाये तो आत्मविराधना हो सकती है। साथ ही लघुनीति-बड़ीनीति का नीचे की ओर प्रवाह होने से छहकाय की विराधना होती है। छहकाय की विराधना से संयम विराधना भी होती है इसलिए समभूमि में मलोत्सर्ग करना चाहिए।[16]

## शुषिर (पोली) भूमि के दोष

आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि घास आदि से ढँकी हुई खोखली (पोली) भूमि पर मलोत्सर्ग करने से नीचे रहे हुए सर्प, बिच्छू आदि जीवों के कारण आत्मोपघात होता है तथा मलोत्सर्ग से खोखले स्थान में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का नाश होता है। इससे संयम की विराधना होती है तदर्थ स्थंडिल के लिए ठोस भूमि पर बैठना चाहिए।[17]

## चिरकालकृत भूमि के दोष

जो भूमियाँ जिस ऋतु आदि में जलाकर निर्जीव-अचित्त की गई हों, वे भूमियाँ उस ऋतु के समाप्ति तक अचित्त रहती हैं तत्पश्चात सचित्त हो जाती हैं। जैसे हेमन्त ऋतु में अचित्त की गई भूमि हेमन्त ऋतु में ही अचित्त रहती है, अन्य ऋतुओं में सचित्त हो जाती हैं।

जिस भूमि पर वर्षावास तक एक पूरा गाँव बसा हो, वह स्थान बारह वर्ष पर्यन्त अचित्त रहता है, उसके बाद सचित्त हो जाता है। इस तरह सचित्त भूमि पर मलोत्सर्ग करने से जीव हिंसा आदि का दोष लगता है।[18]

## अविस्तीर्ण भूमि के दोष

पंचवस्तुक ग्रन्थ में विस्तीर्ण भूमि जघन्य आदि के भेद से तीन प्रकार की कही गई है- जो भूमि चारों दिशाओं में एक हाथ तक अचित्त हो वह जघन्य स्थंडिल भूमि है। जो स्थान बारह योजन की परिधि तक अचित्त हो, वह उत्कृष्ट

स्थंडिल भूमि है। इसमें यह भी कहा गया है कि जहाँ चक्रवर्ती की सेना छावनी डालकर रहती है वह उत्कृष्ट स्थंडिल भूमि होती है। एक हाथ से लेकर बारह योजन तक के बीच की भूमि मध्यम स्थंडिल भूमि है। उपर्युक्त भूमियों के अतिरिक्त भूमि में मलोत्सर्ग करने से जीव हिंसा, संयम विराधना आदि दोष लगते हैं।

## अदूरावगाढ़ भूमि के दोष

जो भूमि चार अंगुल से अधिक नीचे तक अचित्त (निर्जीव) बन गई हो, वह उत्कृष्ट दूरावगाढ़ स्थंडिल भूमि है। पंचवस्तुक टीका के अनुसार चार अंगुल तक अचित्त बनी हुई भूमि पर मलोत्सर्ग किया जा सकता है और इससे अधिक गहराई तक अचित्त बनी हुई भूमि पर मूत्र त्याग किया जा सकता है। चार अंगुल से न्यून अचित्त भूमि पर मलोत्सर्ग करने से जीव वध, संयम विराधना आदि दोष लगते हैं।[19]

## आसन्न भूमि के दोष

आसन्न (निकटस्थ) भूमि दो प्रकार की कही गई है–1. द्रव्यासन्न और 2. भावासन्न।

1. द्रव्यासन्न–गृह, मार्ग, मन्दिर, उद्यान आदि के निकट मलोत्सर्ग करना द्रव्य आसन्न है। द्रव्यासन्न भूमि पर मलोत्सर्ग करने से उद्यान आदि के मालिक साधु पर क्रुद्ध होकर उनकी ताड़ना-तर्जना कर सकता है और इससे आत्मविराधना की संभावना रहती है तथा गृहादि का मालिक कर्मचारी के द्वारा वहाँ से मल हटवाये और उस स्थान को पानी से स्वच्छ करवाये तो जीव हिंसा होने से संयम विराधना होती है।

2. भावासन्न–मलोत्सर्ग (बड़ीनीति) की तीव्र शंका हो तब तक उपाश्रय में बैठे रहना और शंका निवारण के लिए बाहर नहीं जाना भावासन्न है। भावासन्न रूप से मलोत्सर्ग करने पर आत्म विराधना, प्रवचन विराधना और संयम विराधना होती है। मल की तीव्र शंका होने के पश्चात स्थंडिल भूमि तक पहुँचना मुश्किल हो जाता है ऐसी स्थिति में मकान आदि के निकट मल विसर्जन करें तो शासन की हीलना होने से प्रवचन (जिनवाणी) की विराधना होती है। मलोत्सर्ग (बड़ीनीति) को रोकने पर रोगादि उत्पत्ति की संभावना भी निश्चित रूप से रहती है इससे आत्म विराधना भी होती है। अतः अनासन्न (वसति से

दूर एकान्त) भूमि पर मलोत्सर्ग करना चाहिए और मल की शंका होने पर उसका तुरन्त निवारण करना चाहिए।[20]

## बिलवाली भूमि के दोष

पंचवस्तुक के अनुसार बिल युक्त स्थान में मलोत्सर्ग करने पर, पानी आदि बिल में चला जाए तो चींटी आदि सूक्ष्म जीवों की विराधना होती है। यदि बिल में रहने वाले सर्प, बिच्छू आदि काट लें तो आत्म-विराधना भी संभव होती है। बिल आदि में पाँवादि घुसने की भी शक्यता रहती है। अत: बिल वर्जित स्थान पर मलोत्सर्ग करना चाहिए।

## जीवयुक्त भूमि के दोष

जीवयुक्त (त्रसजीव एवं बीज युक्त) भूमि पर मलोत्सर्ग करने से हिंसा के कारण संयम विराधना होती है। सर्पादि के काटने से तथा बीज चुभने वाले हों तो पाँव में घुसने से साधु के गिरने की संभावना भी रहती है इससे प्राणोत्सर्ग हो सकता है।[21]

समाहार रूप में कहा जा सकता है कि एक संयोगी विकल्पों में जो दोष लगते हैं, द्विक संयोगी, त्रिकसंयोगी आदि विकल्पों में उनकी अपेक्षा विशेष दोष लगते हैं, क्योंकि अन्य-अन्य संयोगों के दोष भी उनमें जुड़ जाते हैं।

## विविध सन्दर्भों में स्थंडिल विधि की उपयोगिता

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि स्थंडिल विधि की प्रासंगिकता पर चिन्तन किया जाए तो आज के भौतिक परिवेश में यह एक अनुपयुक्त क्रिया प्रतिभासित होती है, परन्तु यदि इसके पीछे के रहस्यों एवं विधि नियमों का ज्ञान किया जाए तो यहाँ जैन धर्म की सूक्ष्म दृष्टि का भी परिबोध होता है। स्थंडिल भूमि के 1024 भाँगों में मात्र एक भांगा शुद्ध माना गया है। इससे स्पष्ट होता है कि साधु-साध्वी स्थंडिल के लिए अत्यन्त सावधानीपूर्वक ऐसी भूमि में जाते हैं, जिससे सामान्य जन में हिलना और धर्मनिन्दा न हो। बाह्य भूमि में जाने से घर में दूषित परमाणु नहीं फैलते तथा तीसरे प्रहर में जाने से सूर्य की धूप से शरीर को विशेष शक्ति प्राप्त होती है। शौचालय की सफाई हेतु जल की अधिक आवश्यकता पड़ती है जो मुनि के लिए संभव नहीं है। परन्तु वर्तमान में शुद्ध स्थंडिल भूमि की प्राप्ति भी एक समस्या है।

यदि प्रबन्धन की दृष्टि से इसका मूल्य आंके तो मुनि जीवन में इसकी

उपयोगिता अधिक प्रतिभासित होती है। इससे जल प्रबन्धन, समय प्रबन्धन आदि हो सकता है। जैसे स्थंडिल भूमि के लिए दूर जाना हो तब मुनि आहार पर नियन्त्रण रखेगा और अधिक या गरिष्ठ आहार आदि नहीं करेगा, जिस कारण उसे बार-बार बाहर जाना पड़े तथा इससे उसके संयम, स्वाध्याय आदि में भी हानि नहीं होगी। स्थंडिल भूमि में जाने से एक लोटे पानी में काम हो सकता है वहीं शौचालय की सफाई आदि में एक बाल्टी से अधिक पानी चाहिए। वर्तमान में जल का दुरुपयोग एवं किल्लत को देखते हुए भविष्य की यह एक गहन समस्या हो सकती है।

नव्ययुग की समस्याओं के समाधान में यदि स्थंडिल की उपयोगिता पर विचार किया जाए तो आज बन्द कमरों एवं विलायती शौचालयों आदि के उपयोग के कारण मनुष्य की पाचन शक्ति गड़बड़ा गई है, क्योंकि बाहर के खुले वातावरण में जाने से मल क्रिया जितनी अच्छे से होती थी वह नहीं हो पाती तथा जो प्राकृतिक ऊर्जा वायुमण्डल से प्राप्त होती थी वह नहीं मिल पाती। कई बार नाली आदि जाम होने से जो वातावरण दूषित होता है वह कई रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है। बाहर जाने से इस समस्या का निवारण नि:सन्देह हो सकता है परन्तु उसमें विवेक रखना अत्यावश्यक है।

## स्थंडिल गमन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

देहधारी प्राणियों के लिए मल-मूत्र आदि का विसर्जन अनिवार्य है। यह दैहिक अशुद्धि के विसर्जन की धार्मिक विधि है। श्रमणों के लिए स्थंडिल गमन की इस विधि के माध्यम से मुनि जीवन की कठोर चर्या का आदर्श उपस्थित होता है। दिन का तीसरा प्रहर मुनि के आहार-निहार का कहा गया है। इस शास्त्रीय नियम से मध्याह्न की तपतपती रेतीली या पथरीली सड़क पर नंगे पैर चलना और ऊपर से ग्रीष्म ताप को झेलना साधारण बात नहीं है। इस तरह की कठोर चर्या का पालन आत्मबली व्यक्ति ही कर सकता है। इस प्रकार स्थंडिल गमन संयम साधना का एक विशिष्ट पक्ष है।

यदि इस विधि की प्राचीनता के सम्बन्ध में मनन किया जाए तो ज्ञात होता है कि आचारांग,[22] सूत्रकृतांग,[23] ज्ञाताधर्मकथा[24] आदि मूलागमों में 'थंडिल' शब्द का उल्लेख स्पष्टत: है। इससे सूचित होता है कि स्थंडिल गमन एक आगम सम्मत क्रिया है। ध्यातव्य है कि इन ग्रन्थों में 'स्थंडिल' शब्द का प्रयोग अशुद्ध आहार

परिष्ठापित करने योग्य स्थान के अर्थ में हुआ है, जबकि वर्तमान में 'स्थंडिल' शब्द मल-मूत्रादि विसर्जित करने के अर्थ में रूढ़ है। यथार्थतः किसी भी प्रकार की अशुद्ध वस्तु का परिष्ठापन स्थंडिल भूमि में ही करना चाहिए।

अंतकृतदशासूत्र में 'स्थंडिल' शब्द गजसुकुमाल मुनि की साधना भूमि के सन्दर्भ में व्यवहृत है। उन्होंने बारहवीं भिक्षु प्रतिमा की उत्कृष्ट साधना श्मशान भूमि में की थी।[25]

इसके अनन्तर उत्तराध्ययनसूत्र में स्थंडिल की दस भूमियों का निरूपण किया गया है।[26] व्यापक अर्थों में स्थंडिल का वास्तविक स्वरूप इसी सूत्र में उपलब्ध होता है। इससे यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि स्थंडिल गमन एक शास्त्रीय आचार है।

जहाँ तक आगमिक व्याख्याओं का सवाल है वहाँ ओघनिर्युक्ति[27], बृहत्कल्पभाष्य[28] आदि में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। ओघनिर्युक्ति में स्थंडिल के प्रकार, स्थंडिल गमन विधि आदि का स्पष्ट वर्णन है। परवर्ती पंचवस्तुक[29], प्रवचनसारोद्धार[30], यतिदिनचर्या[31] आदि में भी यह चर्चा मिलती है। इनमें पंचवस्तुक ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखता है क्योंकि आचार्य हरिभद्रसूरि ने स्थंडिल के 1024 विकल्प, स्थंडिल के दोष, स्थंडिल गमन योग्य काल इत्यादि का विशद निरूपण किया है। इसमें स्थंडिल गमन एवं स्थंडिल भूमि से सम्बन्धित विधियों का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। यतिदिनचर्या में स्थंडिल गमन हेतु उपाश्रय से बहिर्गमन करने, उपाश्रय में प्रवेश करने तथा मलोत्सर्ग सम्बन्धी दोषों की आलोचना करने की विधियों का सम्यक वर्णन है।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध है कि मुनि को स्थंडिल (मलोत्सर्ग) हेतु निर्जीव एवं एकान्त भूमि में जाना चाहिए, जिससे अहिंसाव्रत का परिपोषण होता है। मलोत्सर्ग या अशुचि द्रव्यों का परिष्ठापन जीव-जन्तु रहित भूमि पर करना यही जिनाज्ञा है।

## स्थंडिल गमन (मलोत्सर्ग) का काल

जैन शास्त्रों में मल विसर्जन क्रिया को 'संज्ञा' शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। संज्ञा दो प्रकार की बतायी है–1. काल संज्ञा और 2. अकाल संज्ञा।[32]

दिन की तीसरी पौरुषी में मल विसर्जन करना काल संज्ञा है और दिन के शेष समय में मलोत्सर्ग करना अकाल संज्ञा है। काल संज्ञा मलोत्सर्ग का उचित

काल है और अकाल संज्ञा मलोत्सर्ग का अनुचित काल है।

यह भी ज्ञातव्य है कि दिन की तीसरी पौरुषी (दिन का आधा भाग व्यतीत हो जाने के बाद) में भी भोजन के पश्चात मलोत्सर्ग करना चाहिए, क्योंकि यही मूल विधि है। इस कारण भोजन के बाद होने वाली मल-मूत्र उत्सर्ग की इच्छा उत्कृष्ट काल संज्ञा है और भोजन के पूर्व होने वाली तत्सम्बन्धी इच्छा अनुत्कृष्ट काल संज्ञा है।

दिन की तीसरी पौरुषी के समय मलोत्सर्ग करना उचित काल है। अकाल समय में संज्ञा (मलोत्सर्ग) करने से स्वाध्यायादि की हानि होती है क्योंकि दिन का पहला, दूसरा एवं चौथा प्रहर स्वाध्याय-ध्यान आदि के लिए नियुक्त किया गया है, जबकि दिन का तीसरा प्रहर आहार एवं शरीर सम्बन्धी कार्यों के लिए ही निर्धारित है। इसलिए शेष समय को अकाल संज्ञा कहा है।

**अकालसंज्ञा विधि**–यदि किसी मुनि को भोजन के पूर्व यानी दिन की पहली या दूसरी पौरुषी में मलोत्सर्ग के लिए जाना पड़े तो उसकी निम्न विधि है–[33]

सर्वप्रथम पात्र को झोली में रखें। फिर गवेषणापूर्वक एक व्यक्ति की आवश्यकता से कुछ अधिक पानी घरों से लेकर आयें। फिर जल बहरते समय किसी प्रकार का दोष लगा हो तो गुरु के समक्ष उसकी आलोचना करें। उसके बाद गुरु से अनुमति लेकर और अन्य साधुओं को कहकर या पूछकर स्थंडिल के लिए गमन करें।

**विशेष**–गीतार्थ परम्परानुसार आहारपात्र को झोली में रखकर एवं जलपात्र को झोली के बिना लाने-ले जाने का विधान है। ऊपर में पात्र को झोली में रखकर पानी लाने का जो निर्देश दिया गया है वह अपवाद रूप है। यह निर्देश स्वाध्यायकाल में मलोत्सर्ग करने वाले साधु के लिए दिया गया है। पंचवस्तुक टीका में इसका प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि यदि अकाल वेला में स्थंडिल जाने वाला साधु बिना झोली के पानी लाता है तो सामाचारी का भंग होता है, क्योंकि झोली रहित पात्र देखकर लोग समझ सकते हैं कि ये साधु स्थंडिल के लिए पानी ले रहे हैं, इससे छाछ की आँच वाला या अन्य पानी नहीं भी मिलता है। झोली युक्त पात्र में पानी आदि बहरने पर दूसरा लाभ यह होता है कि एक गाँव से दूसरे गाँव की ओर जाते हुए श्रावक को किसी साधु के दर्शन

हो जाये तो उसके मन में यह विचार उठ सकता है कि मेरे पास निर्दोष आहार आदि है अत: सुपात्रदान देकर अवश्य लाभ लेना चाहिए और वह शुद्ध जल आदि दे भी सकता है। साथ ही किसी को इस तरह सन्देह नहीं होता कि ये मुनि स्थंडिल के लिए पानी ले रहे हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने यह भी उल्लेख किया है कि जैन मुनि को स्थंडिल आदि के लिए गंध रहित, स्वच्छ छाछ की आँच आदि का पानी अथवा तीन उबाले आया हुआ गर्म पानी लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में ये निर्देश भी दिये गये हैं कि

1. जिस दिशा में स्थंडिल भूमि की ओर जाना है, उस दिशा से पानी ग्रहण न करें, अन्यथा सामाचारी भंग होती है तथा ये साधुजन छाछ की आँच आदि मलिन जल से शुद्धि करते हैं, ऐसी निन्दा होती है।

2. अकाल वेला में संज्ञा का निवारण करना हो तो अन्य साधुओं से पूछकर जल ग्रहण के लिए जायें, अन्यथा जिनाज्ञा की अवहेलना होती है। अन्य साधुओं से पूछे बिना जाने पर वह स्वयं की आवश्यकता जितना ही जल लायेगा, उस समय किसी अन्य साधु को शंका हो जाये और वह जलगृहीता साधु के साथ स्थंडिल चला जाये तो एक की शुद्धि हो सके उतने जल से दो की शुद्धि करने पर शासन की निन्दा होती है, क्योंकि अल्प पानी का उपयोग करते हुए देखकर लोग कह सकते हैं कि 'ये साधु गंदे हैं।' इस कारण अन्य साधुओं की आवश्यकता को जानकर पानी लाना चाहिए।

3. यदि दो साधु स्थंडिल भूमि में जाने वाले हों तो तीन की शुद्धि जितना पानी लेकर जायें। यदि अधिक साधु स्थंडिल के लिए जाने वाले हों तो अधिक जल ग्रहण करें।

4. जो मुनि अकाल वेला में पानी लेकर आये वह उपाश्रय के बाहर स्वयं के दोनों पैरों की प्रमार्जना करे। फिर स्थंडिल के लिए जाते समय प्रतिलेखित डंडे को हाथ में ग्रहण कर 'आवस्सहि' शब्द कहते हुए उपाश्रय से बाहर निकले, अन्यथा सामाचारी का भंग होता है। इस प्रकार अकाल वेला में संज्ञा करने वाले साधु को उक्त निर्देशों का पूरा ख्याल रखना चाहिए।[34]

**कालसंज्ञा विधि**–शास्त्र निर्दिष्ट विधि के अनुसार (दिन के तीसरे प्रहर में) स्थंडिल हेतु गमन करने वाला मुनि सर्वप्रथम पात्र को धोयें, फिर संघाटक

को एक स्वयं का और एक संघाटक का ऐसे दो पात्र दें। फिर तीन जनों की शुद्धि हो सके, उतना पानी मात्रक में लेकर दो-दो साधु स्थंडिल के लिए जायें। उनमें से एक साधु दोनों के पात्रों की रक्षा करे और दूसरा-दूसरे साधु के साथ स्थंडिल जायें। सभी साधु स्थंडिल से आ जायें, तब जो शेष रहे हों, वे स्थंडिल के लिए प्रस्थान करें और जो साधु काल संज्ञा से निवृत्त होकर आये हैं, वे पात्रों की सुरक्षा करें। स्थंडिल भूमि से आने के पश्चात मात्रक को तीन कल्प (तीन बार शुद्ध विधि) से धोयें।[35]

## स्थंडिल गमन विधि

विधिमार्गप्रपा एवं पंचवस्तुक के आधार पर स्थंडिल गमन की विधि इस प्रकार है–[36]

**उत्सर्ग विधि**–जिस मुनि को स्थंडिल के लिए जाना हो, वे 'निसीहि' शब्द के उच्चारणपूर्वक वसति से बाहर निकलें। फिर ईर्या समिति का शोधन करते हुए स्थंडिल भूमि तक पहुँचें। वे मार्ग में समश्रेणी (बराबर) में न चलें, शीघ्र गति से न चलें, विकथा करते हुए न चलें। स्थंडिल भूमि के निकट पहुँचने के बाद सर्वप्रथम 'अनापात-असंलोक' गुण वाली स्थंडिल भूमि में जायें, यदि पूर्वोक्त गुणवाली भूमि न मिले तो दूसरी भूमि में जायें।

**अपवाद विधि**–आचार्य हरिभद्रसूरि ने मल विसर्जन हेतु आपवादिक भूमियों का निर्देशन करते हुए कहा है[37]– यदि 'अनापात असंलोक' गुणवाली भूमि न मिले तो अमनोज्ञ संविग्न आपातवाली भूमि में जायें। यदि वह भूमि अनुपलब्ध हो तो असंविग्न आपातवाली भूमि में जायें। यदि वह भूमि भी न मिल पायें तो जहाँ केवल गृहस्थ दिखाई देते हों उस भूमि में जायें। इन तीन प्रकार की भूमियों में मलोत्सर्ग करने पर अग्रलिखित विधि करनी चाहिए– 1. प्रत्येक साधु को पृथक-पृथक मात्रक रखने चाहिए 2. अपान और पाँवों का प्रक्षालन करना चाहिए और 3. पानी अधिक लेकर जाना चाहिए।

जहाँ गृहस्थ दिखाई दे उस प्रकार की भूमि न मिले तो अशौचवादी पुरुष आपातवाली भूमि में जायें, यदि यह भूमि न मिले तो शौचवादी पुरुष आपातवाली भूमि में जायें। इसके अभाव में स्त्री-नपुंसक दिखाई दें उस (संलोक वाली) भूमि में जायें। उक्त दोनों प्रकार की भूमियों में मलोत्सर्ग करने पर इन नियमों का ध्यान रखना चाहिए– 1. उल्टामुख करके बैठें 2. अपान एवं पाँवों

का प्रक्षालन करें और 3. अधिक जल का उपयोग करें।

यदि स्त्री-नपुंसक संलोकवाली भूमि प्राप्त न हो तो तिर्यञ्च सम्बन्धी पुरुष, नपुंसक और स्त्री आपातवाली भूमि में जायें। उसमें भी जुगुप्सित और दप्तचित्त आपातवाली भूमि में न जायें। इसके अभाव में स्त्री-नपुंसक के आपातवाली भूमि में जायें। स्त्री और नपुंसक के दंडिक, कौटुम्बिक और साधारण–ये तीन भेद हैं। इनमें भी अशौचवादी स्त्री-नपुंसक आपातवाली भूमि में जायें। इसके अभाव में शौचवादी स्त्री-नपुंसक आपातवाली भूमि में जायें। इन पूर्वोक्त भूमियों में स्थंडिल के लिए जाते समय खांसी आदि की आवाज करते-करते अथवा परस्पर बोलते-बोलते जायें ताकि अन्य लोगों को शंका न हो तथा व्याकुल चित्तपूर्वक शीघ्रता से जायें। इसमें अपान प्रक्षालन एवं अधिक जलग्रहण की विधि भी पूर्ववत करें। ये मलोत्सर्ग की आपवादिक भूमियाँ हैं।

## स्थंडिल भूमि के आवश्यक कृत्य

आचार्य हरिभद्रसूरि ने मलोत्सर्ग करने से पूर्व कुछ आवश्यक कृत्यों का विवेचन किया है। वे निम्नोक्त हैं[38]–

**दिशावलोकन–** पंचवस्तुक के अनुसार मल-विसर्जन करने के स्थान पर खड़े होकर चारों दिशाओं का अवलोकन करे कि कोई आ तो नहीं रहा है? अथवा कोई देख तो नहीं रहा है? उसके बाद मलोत्सर्ग के लिए बैठें।

**दिशा विचार–** मल विसर्जन करते समय पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर पीठ करके नहीं बैठे, क्योंकि लोक में इन दिशाओं को पूज्य माना गया है। रात्रि में दक्षिण दिशा की ओर पीठ करके नहीं बैठे, क्योंकि 'रात्रि में दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की तरफ निशाचर (राक्षस) आदि जाते हैं' ऐसी लोकवाणी है अत: दक्षिण दिशा की ओर पीठ करने से लोक विरोध होता है। किसी ने कहा है कि जो मनुष्य दिन में उत्तर दिशा की तरफ और रात्रि में दक्षिण दिशा की तरफ मुख करके मल-मूत्र का विसर्जन करता है उसकी आयुष्य में वृद्धि होती है।

जिस दिशा की ओर से पवन आ रहा हो, उस दिशा की ओर भी पीठ करके नहीं बैठें। इस नियम का पालन न करने पर नाक में (विष्ठा की गंध जाने से) मस्सा हो सकता है।

जिस दिशा की ओर गाँव हो उस तरफ भी पीठ करके नहीं बैठें, अन्यथा लोक निन्दा होती है।

**छाया**—जिस मुनि के पेट में कृमि हो, मल ढ़ीला लगता हो तो वह वृक्षादि की छाया में मल का विसर्जन करें। यदि छाया न हो तो धूप में भी मलोत्सर्ग किया जा सकता है परन्तु यह विवेक रखना आवश्यक है कि मलोत्सर्ग उस विधिपूर्वक करें कि स्वयं की छाया मल के ऊपर गिर सकें अथवा स्वयं की छाया उस मल के ऊपर गिरती रहे–उस प्रकार से एक मुहूर्त्त तक वहाँ खड़ा भी रहे, क्योंकि कृमि आदि के जीव एक मुहूर्त्त तक जीवित रहते हैं।

**प्रमार्जन**—आचार्य हरिभद्रसूरि इस सम्बन्ध में यह भी कहते हैं कि मल विसर्जन के लिए बैठने से पूर्व ऊर्ध्व, अधो और तिरछी दिशाओं का निरीक्षण करें। 'वृक्ष और पर्वत है या नहीं' इस अपेक्षा से ऊपर की ओर देखें, 'खड्डा-बिल आदि में जीव हैं या नहीं' इस अपेक्षा से नीचे की ओर देखें, 'विश्राम करने के लिए कोई व्यक्ति बैठा हुआ है या नहीं' इस अपेक्षा से तिरछी दिशा की ओर देखें। यदि वहाँ कोई गृहस्थ दिखाई न दें तो स्वयं के पाँवों का प्रमार्जन करें। उसके बाद 'अणुजाणह जस्सावग्गहो' –इस परिमित स्थान का उपयोग करने की अनुमति दीजिये, इतना कहकर उस भूमि के स्वामी से अनुमति ग्रहण करें। फिर संडाशक आदि की प्रमार्जना करें और उस भूमि का तीन बार निरीक्षण करें।

**डगल ग्रहण**—उसके बाद उकडूँ आसन में बैठकर पत्थर आदि छोटे-छोटे टुकड़े लें। उन टुकड़ों को जमीन पर धीरे से ठोकें ताकि उसमें कोई सूक्ष्म जीव रहा हो तो निकल जाये। जिसको मल (झाड़ा) ढीला होता हो वह तीन डगल लें और अन्य साधु दो डगल लें। जिसको मस्सा या भगंदर हुआ हो वह डगल न लें।

**विसर्जन क्रिया**—मल विसर्जन के लिए बैठते समय दंड और रजोहरण–इन दो उपकरणों को बायें पाँव की साथल पर रखें। मात्रक को दायें हाथ में लें। डगल (पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों) को बायें हाथ में रखें। मल विसर्जन की क्रिया हो जाने पर जहाँ बैठे हों वहाँ अथवा अन्य स्थान में जाकर अपान स्थान को पोछें। फिर वहाँ से कुछ दूर हटकर, तीन चुल्लू पानी से अपान का प्रक्षालन करें।

इस प्रकार स्थंडिल भूमि में दिशा, पवन, गाँव, सूर्य, डगल, प्रमार्जन आदि नियमों का ध्यान रखते हुए मलोत्सर्ग करें। यही शास्त्रीय विधि है।

## स्थंडिल भूमि से लौटने के बाद की विधि

मलोत्सर्ग क्रिया पूर्ण करने के पश्चात मुनि पुन: वसति की ओर लौटें। स्थंडिल भूमि से लौटते हुए एवं गाँव में प्रवेश करते समय ऋतुबद्ध (शेष आठ मास का) काल हो तो रजोहरण द्वारा और वर्षाकाल हो तो पाद लेखनिका (कीचड़ दूर करने की काष्ठ पट्टी) द्वारा पाँवों का प्रमार्जन करें, क्योंकि स्थंडिल में से (सचित्त भूमि में से) अस्थंडिल भूमि (अचित्त भूमि) में प्रवेश करते समय सचित्त-अचित्त मिट्टी का मिश्रण होने से जीववध आदि की संभावना रहती है। अत: जीव विराधना से बचने के लिए पाँवों का प्रमार्जन करें।

फिर उपाश्रय के द्वार पर आकर तीन बार 'निसीहि' कहते हुए प्रवेश करें। फिर गमनागमन आदि में लगे हुए दोषों की आलोचना करने के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। उसके बाद दिन की तीसरी पौरुषी पूर्ण न हुई हो तो पूर्ण होने तक स्वाध्याय करें। यदि चौथा प्रहर प्रारम्भ हो गया हो तो प्रतिलेखना करें।[39]

## चौबीस मांडला की विधि

यदि किसी मुनि को मलोत्सर्ग हेतु रात्रि में बाहर जाना पड़े तो उसे दिन में ही चौबीस स्थानों की प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए। यह दैहिक क्रिया है। इसकी शंका कभी भी हो सकती है, अत: प्रत्येक मुनि को सूर्य की रोशनी में ही चौबीस स्थानों का निरीक्षण करके रखना चाहिए। ये चौबीस स्थान समर्थ-असमर्थ एवं सह्य-असह्य की स्थिति में दूर-मध्य-निकट की अपेक्षा से है। यदि कोई मुनि मल-मूत्र सहन करने में समर्थ हो तो दूर भूमि तक जाये और सहन करने में असमर्थ हो तो मध्य या निकट प्रदेश में मलोत्सर्ग करें। वर्तमान में चौबीस स्थानों की प्रतिलेखना शास्त्रीय विधियुत नहीं की जाती हैं। इस क्रिया के प्रतीकात्मक रूप में अन्य विधि की जाती है वह इस प्रकार है–[40]

सर्वप्रथम स्थापनाचार्य के सम्मुख खड़े होकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! थंडिला पडिलेहुं' 'इच्छं'** कहकर खड़े रहें। फिर जघन्य से भी उपाश्रय से सौ हाथ तक की भूमि में दूर-मध्य-निकट ऐसे चौबीस स्थानों की प्रतिलेखना दण्डासन द्वारा करें। इनमें छह प्रतिलेखना शय्या के दोनों ओर करें, छह प्रतिलेखना उपाश्रय द्वार के मध्य भाग में करें, छह प्रतिलेखना उपाश्रय द्वार के बाह्य भाग में करें और छह प्रतिलेखना

पूर्व प्रतिलेखित सौ हाथ तक की भूमि के सम्मुख करें। आजकल पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण इन चार दिशाओं की ओर मांडला पाठ बोलते हुए छह-छह बार रजोहरण घुमाया जाता है।

इस क्रिया के द्वारा चौबीस स्थानों का प्रतिलेखन किया ऐसा मान लेते हैं। मूलत: चौबीस स्थानों की प्रतिलेखना मण्डलाकार के रूप में की जानी चाहिए।

चौबीस स्थंडिल भूमियों की प्रतिलेखना के रूप में बोले जाने वाला पाठ निम्न है–

**निम्न छह मांडला पाठ संथारा (शयन) के समीप की भूमि को प्रतिलेखित करने के रूप में बोलें–**

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. | आघाडे **(अपवाद की स्थिति के समय)** | आसन्ने **(समीप में)** | उच्चारे **(मलोत्सर्ग के निमित्त)** | पासवणे **(मूत्रोत्सर्ग के निमित्त)** | अणहियासे **(असह्य होने पर)** |
| 2. | आघाडे | आसन्ने | | पासवणे | अणहियासे |
| 3. | आघाडे | मज्झे | उच्चारे | पासवणे | अणहियासे |
| 4. | आघाडे | मज्झे | | पासवणे | अणहियासे |
| 5. | आघाडे | दूरे | उच्चारे | पासवणे | अणहियासे |
| 6. | आघाडे | दूरे | | पासवणे | अणहियासे |

**निम्न छह मांडला पाठ उपाश्रय के अन्दर के भाग को प्रतिलेखित करने के निमित्त बोलें–**

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. | आघाडे | आसन्ने | उच्चारे | पासवणे | अहियासे (सह्य होने पर) |
| 2. | आघाडे | आसन्ने | | पासवणे | अहियासे |
| 3. | आघाडे | मज्झे | उच्चारे | पासवणे | अहियासे |
| 4. | आघाडे | मज्झे | | पासवणे | अहियासे |
| 5. | आघाडे | दूरे | उच्चारे | पासवणे | अहियासे |
| 6. | आघाडे | दूरे | | पासवणे | अहियासे |

**निम्न छह मांडला पाठ उपाश्रय द्वार के बाहर (निकटस्थ भूमि) को प्रतिलेखित करने के निमित्त बोलें–**

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. | अणाघाडे (सामान्य परिस्थिति में) | आसन्ने | उच्चारे | पासवणे | अणहियासे **(खास कठिनाई न हो, उस समय)** |
| 2. | अणाघाडे | आसन्ने | | पासवणे | अणहियासे |
| 3. | अणाघाडे | मज्झे | उच्चारे | पासवणे | अणहियासे |
| 4. | अणाघाडे | मज्झे | | पासवणे | अणहियासे |
| 5. | अणाघाडे | दूरे | उच्चारे | पासवणे | अणहियासे |
| 6. | अणाघाडे | दूरे | | पासवणे | अणहियासे |

**निम्न छह मांडला पाठ उपाश्रय से सौ कदम दूर स्थित स्थान को प्रतिलेखित करने के निमित्त बालें–**

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. | अणाघाडे | आसन्ने | उच्चारे | पासवणे | अहियासे |
| 2. | अणाघाडे | आसन्ने | | पासवणे | अहियासे |
| 3. | अणाघाडे | मज्झे | उच्चारे | पासवणे | अहियासे |
| 4. | अणाघाडे | मज्झे | | पासवणे | अहियासे |
| 5. | अणाघाडे | दूरे | उच्चारे | पासवणे | अहियासे |
| 6. | अणाघाडे | दूरे | | पासवणे | अहियासे |

## तुलनात्मक विवेचन

मानव देह अशुचि का भण्डार है। शरीर के अनेक भागों से भिन्न-भिन्न प्रकार की अशुद्धियाँ निरंतर निकलती रहती है। मुनि के द्वारा शारीरिक अशुचि एवं अन्य स्व-अधिकार युक्त अकल्प्य वस्तुओं को निर्जीव स्थान पर विसर्जित या त्याग करने का निर्देश है। इसी क्रिया को शास्त्रीय भाषा में स्थंडिल विधि कहा जाता है। आगम साहित्य से लेकर वर्तमान साध्वाचार सम्बन्धी ग्रन्थों में इसका न्यूनाधिक वर्णन मिलता है। यदि इन ग्रन्थों के आधार पर इसका तुलनात्मक अध्ययन करें तो आगमों में इसका संक्षिप्त वर्णन है वहीं मध्यकाल तक आते-आते पंचवस्तुक, प्रवचन सारोद्धार आदि ग्रन्थों में इसका अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है

परन्तु स्थंडिल के प्रकार आदि में कोई भिन्नता नहीं है।

यदि जैन संघ की विविध परम्पराओं की अपेक्षा से इसकी तुलना करें तो स्थंडिल सम्बन्धी विधि-नियम सभी के लिए समान रूप से आचरणीय है एवं सभी के द्वारा समान रूप से स्वीकृत भी किया गया है। जहाँ तक हिन्दू एवं बौद्ध परम्परा का प्रश्न है वहाँ संन्यासियों एवं भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए लगभग ऐसे नियमों की कोई व्यवस्था नहीं है।

यदि इस नियम के परिपालन की अपेक्षा से चिंतन करें तो प्राचीन काल में इस विधि का निर्वाह करना जितना सहज एवं सुगम था वर्तमान में वह उतना ही दुभर हो गया है तथा देश-कालगत परिस्थिति के कारण इसमें अनेक परिवर्तन भी देखे जाते हैं।

## उपसंहार

जीवन की शुद्धता एवं स्वतंत्रता के लिए मुनि को अनेक नियम एवं मर्यादाओं के पालन करने का निर्देश है। स्थंडिल गमन भी मुनि का एक ऐसा ही दैनिक आचार है जिसके द्वारा वह अपनी शारीरिक अशुचि का निर्गमन इस प्रकार करता है कि अन्य किसी को उससे कोई तकलीफ न हो। पूर्वकाल में गृहस्थ वर्ग एवं श्रमण वर्ग दोनों के द्वारा ही बाह्य निर्जन भूमि खण्ड पर ही अशुचि निर्गमन किया जाता था अत: किसी प्रकार की समस्या प्राय: उत्पन्न नहीं होती थी।

यदि वर्तमान संदर्भों में स्थंडिल नियमों का अध्ययन किया जाए तो इसका स्वरूप परिवर्तित हो चुका है। आजकल बाह्य खुली भूमि में स्थंडिल गमन को असभ्य आचरण माना जाता है। अनेक स्थानों पर इसका विरोध करते हुए जन-सामान्य द्वारा अनेक विकट परिस्थितियाँ भी उत्पन्न की जाती है। बड़े-बड़े शहरों में बढ़ती आबादी एवं क्षेत्र विस्तार के कारण 5-10 किमी तक भी योग्य भूमि प्राप्त नहीं होती। यदि योग्य स्थान मिल भी जाए तो प्राय: दिन के समय में परिष्ठापन करना असंभव होता है एवं अधिक रात्रि या प्रात: बेला में भी जाना सुरक्षापूर्ण नहीं होता। ग्रामीण क्षेत्रों में भी आजकल निर्जीव एवं निर्दोष भूमि का अभाव सा हो गया है। ऐसी स्थिति में शुद्ध रूप से स्थंडिल नियमों का पालन तो प्राय: असंभव है। वर्तमान स्थिति में काल-अकाल संज्ञा का भेद तो नहींवत ही रह गया है। अनेक बार आहार करने से स्थंडिल आदि के लिए भी बार-बार

जाना पड़ता है। इसी के साथ बाह्य माहौल के कारण दिन में जाना बहुत मुश्किल होता है।

कई बार लोगों द्वारा वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए संडास-बाथरूम के उपयोग की हिमायत की जाती है। उनके अनुसार जब पूर्ण रूप से नियमों का पालन संभव ही नहीं है तो फिर खींच-तान कर मात्र परम्परा निर्वाह के लिए नियमों का पालन क्यों करना? ऐसी क्रियाएँ जो वर्तमान सभ्यता के विरुद्ध है, जिससे जैन साधु-साध्वियों की छवि बिगड़ती हो उनमें परिवर्तन क्यों नहीं लाया जाता? किसी अपेक्षा से यह तर्क सही भी है क्योंकि आजकल अनेक ऐसी अप्रिय घटनाएँ घट रही है जिसके कारण स्थंडिल गमन एक चिंतनीय विषय बन गया है।

यदि साध्वाचार की अपेक्षा विचार करें तो संडास-बाथरूम का प्रयोग करना अर्थात अनेक दोषों को स्वीकार करना। परन्तु जहाँ शासन हीनता या शील खंडन का भय हो वहाँ दोषों को स्वीकार कर उनका प्रायश्चित्त करना अधिक श्रेयस्कर है। परंतु जहाँ तक संभव हो साधु को यदि काल वेला आदि का दोष मात्र लगाते हुए बाहर जाना संभव हो एवं शारीरिक स्थिति ऐसी हो कि मुनि इन क्रियाओं पर नियंत्रण रख सकता हो तो अवश्य बाहर जाना चाहिए। प्रमाद, समय बचत या शर्म-संकोच के कारण latring-bothroom का प्रयोग सर्वथा अनुचित है एवं दुर्गतिजनक है।

आजकल कई मुनियों द्वारा कुड़े-करकट पर मल विसर्जन किया जाता है तो कई मुनियों द्वारा थैली आदि में जहाँ-तहाँ भी डाला जाता है। कहीं-कहीं पर ठीया आदि बनाकर वहाँ पर मल परिष्ठापन किया जाता है एवं तदनन्तर हरिजनों के द्वारा उन्हें साफ करवाया जाता है। कई मुनियों के द्वारा मात्र ऐसे ही क्षेत्रों में विचरण किया जाता है जहाँ स्थंडिल योग्य स्थान की प्राप्ति होती हो, किसी अपेक्षा यह उचित है, परंतु इसमें शहरी इलाकों में जिनधर्म क्षणै: क्षणै: समाप्ति पर पहुँच जाएगा। यह सभी अत्यंत ही सूक्ष्म चिंतनीय विषय हैं अत: समय-परिस्थिति आदि के अनुसार विचार करके निर्णय लेना आवश्यक है। जहाँ तक हो संडास-बाथरूम का दोष नहीं लगाने का ही प्रयास करना चाहिए। तदनन्तर भी संभव न हो तो गुर्वाज्ञा अनुसार कार्य करना ही श्रेयस्कर है।

## सन्दर्भ-सूची


1. पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 446
2. अणावायमसंलोए, परस्साणुवघायए।
   समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकाल कयम्मि य॥
   विच्छिण्णे दूरमोगाढे, णासण्णे बिलवज्जिए।
   तसपाणबीअरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे॥
   (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 24/17-18
   (ख) बृहत्कल्पभाष्य, 443-444
   (ग) ओघनिर्युक्ति, 313-314
   (घ) पंचवस्तुक, 399-400
   (ङ) प्रवचनसारोद्धार, 91/709-710
3. एक्कंदुतिचउपंचच्छक्क, सत्तट्ठनवगदसएहिं।
   संजोगा कायव्वा, भंगसहस्सं चउव्वीसं॥
   दुगसंजोगे चउरो, तिगऽट्ठ सेसेसु दुगुणदुगुणा य।
   भंगाणं परिसंखा, दसहिं सहस्सं चउव्वीसं॥
   पंचवस्तुक, गा. 401-402
4. उभयमुहं रासिदुगं, हिट्ठिलाणंतरेण भय पढमं।
   लद्धऽहरासि विहत्तं, तस्सुवरिगुणं तु संजोगा॥
   दस पणयाल विसुत्तर, सयं च दो सय दसुत्तरं दो अ।
   बावण्ण दो दसुत्तर, विसुत्तरं पंच चत्ता य॥
   दस एगा य कमेणं, भंगा एगाइ चारणाए य।
   सुद्धेण समं मिलिआ, भंगसहस्सं चउव्वीसं॥
   (क) पंचवस्तुक, 403-405
   (ख) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 206-207
5. अणावायमसंलोए, अणावाए चेव होइ संलोए।
   आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए॥
   (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 24/16
   (ख) पंचवस्तुक, 406
   (ग) ओघनिर्युक्ति, 296

6. तत्थावायं दुविहं, सपक्खपरपक्खओ य नायव्वं।
दुविहं होइ सपक्खे, संजय तह संजईणं च ।।
संविग्गमसंविग्गा, संविग्गमणुण्ण एअरा चेव।
असंविग्गावि दुविहा, तप्पक्खिअ एअरा चेव ।।
(क) बृहत्कल्पभाष्य, 420-421
(ख) ओघनिर्युक्ति, 297-298
(ग) पंचवस्तुक, 407-408
(घ) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 204

7. परपक्खेवि अ दुविहं, माणुस तेरिच्छियं च नायव्वं।
एक्किक्कंपि अ तिविहं, इत्थी पुरिसं नपुंसं च ।।
पुरिसावायं तिविहं, दंडिअ कोडुंबिए अ पागइए।
ते सोयऽसोयवाई, एमेव णपुंसइत्थीसुं ।।
(क) बृहत्कल्पभाष्य, 422-423
(ख) ओघनिर्युक्ति, 299-300
(ग) पंचवस्तुक, 409-410
(घ) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 204

8. दित्तमदित्ता तिरिआ, जहन्नउक्कोसमज्झिमा तिविहा।
एमेवित्थिनपुंसा, दुगुंछिय दुगुंछिया न ।।
(क) बृहत्कल्पभाष्य, 424
(ख) ओघनिर्युक्ति, 302
(ग) पंचवस्तुक, 412
(घ) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 204

9. आलोगो मणुएसुं, पुरिसित्थी नपुंसगाण बोद्धव्वो।
पागडकुडुंबिदंडिय, असोय तह सोयवाईणं ।।
(क) बृहत्कल्पभाष्य, टीका, 424
(ख) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 205

10. (क) पंचवस्तुक सटीका, 413, पृ. 188
(ख) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 205

11. (क) पंचवस्तुक, 414-415 की टीका
(ख) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 205
12. (क) वही, 416 की टीका
(ख) वही, पृ. 205
13. (क) वही, 416 की टीका
(ख) वही, पृ. 225
14. (क) वही, 418 की टीका
(ख) वही, पृ. 205
15. (क) वही, 419 की टीका
(ख) वही, पृ. 205
16. (क) वही, 420 की टीका
(ख) वही, पृ. 205
17. (क) वही, 420 की टीका
(ख) वही, पृ. 206
18. (क) वही, 421 की टीका
(ख) वही, पृ. 206
19. (क) वही, 422 की टीका
(ख) वही, पृ. 206
20. (क) वही, 423 की टीका
(ख) वही, पृ. 206
21. (क) वही, 414 की टीका
(ख) वही, पृ. 206
22. आचारांग-अंगसुत्ताणि, 1/1/3
23. सूत्रकृतांग-अंगसुत्ताणि, 9/11
24. ज्ञाताधर्मकथा-अंगसुत्ताणि, 16/16,17,19,21,23
25. अंतकृतदशा-अंगसुत्ताणि, 3/9/88
26. उत्तराध्ययनसूत्र, 24/15-17
27. ओघनिर्युक्ति, 313,314,296,302
28. बृहत्कल्पभाष्य, 443,444,420-424

29. पंचवस्तुक, 393-433 टीका
30. प्रवचनसारोद्धार, 709-708
31. यतिदिनचर्या, देखिए-धर्मसंग्रह भा. 3, पृ. 194
32. पंचवस्तुक, 393 की टीका
33. वही, 394
34. वही, 393 की टीका, पृ. 178
35. वही, 395 की टीका
36. वही, 398 की टीका
37. वही, 430-433 की टीका
38. वही, 425-429 की टीका
39. (क) यतिदिनचर्या, गा. 277-उद्धृत धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 194
    (ख) धर्मसंग्रह, पृ. 194
40. साधुविधिप्रकाश, पृ. 9

●

## अध्याय-15

# महापरिष्ठापनिका (अंतिम संस्कार) विधि सम्बन्धी नियम

प्रत्येक व्यक्ति जीना चाहता है। मृत्यु सभी को अप्रिय है। यद्यपि मृत्यु निश्चित है। मृत्यु का भय दुनिया में सबसे बढ़कर है किन्तु जो साधक संलेखना-समाधि द्वारा जीवन को सफल कर लेता है वह आनन्द मनाते हुए मृत्यु का वरण करता है। ऐसे साधकों के लिए मृत्यु भी महोत्सव बन जाती है। जैन साहित्य में संलेखना एवं अनशनपूर्वक मृत्यु प्राप्त करने को सकाम मरण अथवा समाधिमरण कहा गया है। यही मरण जन्म-मरण की परम्परा का विच्छेदक है। इसके विपरीत अज्ञानी जीवों के मरण को अकाममरण अथवा बालमरण कहा गया है।

सर्वविरतिधर मुनि या अनशनधारी के देहत्याग करने पर उसके शरीर का अंतिम संस्कार करने के सम्बन्ध में बृहत्कल्पसूत्र एवं व्यवहारसूत्र में अतिसामान्य स्वरूप प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अन्य आगमों में लगभग यह वर्णन नहीं है।

हालाँकि आगम व्याख्या साहित्य में इसकी विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीय टीका में इस विषयक 17 द्वार वर्णित हैं। इसी तरह बृहत्कल्पभाष्य एवं व्यवहारभाष्य में भी तद्विषयक सुविस्तृत विवरण उपलब्ध है। विधिमार्गप्रपा, प्राचीन सामाचारी, आचारदिनकर आदि ग्रन्थों में भी यह विधि उल्लिखित है।

### महापरिष्ठापनिका शब्द का अर्थ घटन

'महत' शब्द, 'परि' उपसर्ग एवं 'स्था' धातु- इन तीन पदों के योग से महापरिष्ठापनिका शब्द व्युत्पन्न है। महत संस्कृत रूप से महा शब्द बना है। इसका अर्थ है- बड़ा। शरीर अपेक्षाकृत स्थूल होता है अत: यहाँ महा का अर्थ मृत शरीर है। परिष्ठापनिका का अर्थ है- सम्यक् प्रकार से स्थापन करना अर्थात

मृत शरीर को पूर्व प्रतिलेखित निर्जीव भूमि पर विधिपूर्वक स्थापित कर देना अथवा विसर्जित कर देना महापरिष्ठापनिका विधि है। इसका अपर नाम शव परिष्ठापन भी है। मूलत: यह शास्त्रीय शब्द है। वर्तमान में इसे अन्तिम संस्कार कहते हैं।

## महापरिष्ठापनिका की शास्त्रीय विधि

मृत श्रमण के शव परिष्ठापन की सामान्य विधि सर्वप्रथम बृहत्कल्पसूत्र में परिलक्षित होती है। उसमें कहा गया है कि यदि किसी भिक्षु का रात्रि में या विकाल में निधन हो जाए तो उस मृत भिक्षु के शरीर को कोई वैयावृत्य करने वाला साधु अचित्त भूमि पर परिष्ठापित करना चाहे तब यह ध्यान रखें कि यदि वसति के समीप मृतदेह के वहन योग्य काष्ठ हो तो उसे प्रातिहारिक रूप से (पुन: लौटाने का कहकर) ग्रहण करें और उसके द्वारा मृत भिक्षु के शरीर को एकान्त में विसर्जित कर उस वहनकाष्ठ को यथास्थान पर लाकर रख दें।[1]

वहनकाष्ठ के सम्बन्ध में साधु सामाचारी यह है कि साधुगण जहां मासकल्प या वर्षावास करने का विचार करते हैं वहाँ आचार्य सर्वप्रथम यह निरीक्षण करें कि अमुक स्थान ठहरने योग्य है या नहीं? यदि ठहरने योग्य है तो सहवर्ती साधुओं में अमुक भक्त प्रत्याख्यान करने वाला है, अमुक रोगी है, अमुक वृद्ध है, इनमें से किसी का देहान्त हो जाए तो उसे महास्थंडिल भूमि तक उठाकर ले जाने योग्य काष्ठ यहाँ पर उपलब्ध है या नहीं? मृतदेह के परिष्ठापन करने योग्य भूमि निर्दोष है या नहीं? इन स्थितियों का भलीभांति विचार करने के पश्चात मासकल्प या वर्षावास की स्थापना करें।

तदनन्तर भिक्षु जहाँ पर मासकल्प या वर्षावास आदि के निमित्त रूके हुए हों वहाँ अनशनधारी साधु, रुग्ण साधु या साँप आदि के काटने से किसी अन्य साधु का निधन हो जाए तो उस शव को वसति या उपाश्रय में अधिक समय तक न रखें। अपितु पूर्वोक्त विधि से वहन काष्ठ द्वारा उस शव को यथाशीघ्र निर्जीव भूमि में विसर्जित कर वहनकाष्ठ या बांस आदि को यथास्थान पर रख दें। यदि वहनकाष्ठ को यथास्थान रखना भूल जाएं तो अनेक दोषों की संभावना रहती है।

**दोष–** आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार कदाचित वहनकाष्ठ शवस्थापन भूमि पर ही छोड़ दिया जाए तो उसका उपयोग अग्नि प्रज्वलित करने, किसी दुष्टादि

को मारने अथवा गृहस्थ के सांसारिक कार्यों में किया जा सकता है। यदि सागारिक (जिससे अनुमति प्राप्त कर काष्ठ ग्रहण किया गया है उस गृहस्थ श्रावक) के द्वारा अपने स्थान पर काष्ठ को नहीं देखा जाए तो वह क्रोधित हो सकता है। यदि वह धर्मप्रेमी न हो तो जिनशासन हीलना भी कर सकता है। अत: वहनकाष्ठ को सावधानीपूर्वक यथास्थान रख ही देना चाहिए।

यदि अकेला साधु मृत देह को स्थंडिल भूमि तक ले जाने में समर्थ हो, तो काष्ठग्रहण नहीं करना चाहिए, असमर्थ होने पर ही काष्ठ ग्रहण का विधान है।

बृहत्कल्पसूत्र में मृत भिक्षु के देह विसर्जन हेतु वहनकाष्ठ लाने एवं उसे पुन: यथास्थान रख देने का ही निर्देश है। मृत भिक्षु को कौनसी दिशा में परिष्ठापित करना चाहिए, किस दिशा क्रम से परिष्ठापन योग्य भूमि का निरीक्षण करना चाहिए, किस दिशा में शव का मुख रखते हुए उसे गांव के बाहर ले जाना चाहिए, इत्यादि विषयों पर विचार नहीं किया गया है।

व्यवहारसूत्र में श्रमण के मृत शरीर को परिस्थापित करने और उपकरणों को ग्रहण करने की विधि निम्नानुसार उल्लिखित है–

ग्रामानुग्राम विचरण करता हुआ भिक्षु यदि अकस्मात मृत्यु को प्राप्त हो जाए और उसके शरीर को कोई साधर्मिक श्रमण देख ले और यह जान ले कि यहाँ 'कोई गृहस्थ नहीं है' तो उस मृत भिक्षु के शरीर को एकान्त निर्जीव भूमि पर प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना करके विसर्जित करें। यदि उस मृत श्रमण का कोई उपकरण उपयोग में लेने योग्य हो तो उन्हें सागारकृत ग्रहण कर पुन: आचार्यादि की आज्ञा लेकर उपयोग में लिया जा सकता है।[2]

बृहत्कल्पसूत्र में उपाश्रय में कालधर्म को प्राप्त होने वाले साधु की परिष्ठापन विधि कही गई है और व्यवहारसूत्र में विहार करते हुए कोई भिक्षु मार्ग में कालधर्म को प्राप्त हो जाये तो उसके मृत शरीर को प्रतिस्थापित करने की विधि बताई गई है। इसके अतिरिक्त दोनों आगमसूत्रों में कुछ भी नहीं कहा गया है।

इस विषयक विस्तृत विवेचन आवश्यकनिर्युक्ति, हारिभद्रीय टीका, बृहत्कल्पभाष्य आदि में दिग्दर्शित होता है।

आवश्यकनिर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने मृतश्रमण की परिष्ठापन विधि से

सम्बन्धित 17 द्वार बतलाए हैं जो निम्नोक्त हैं[3]–

1. प्रतिलेखना 2. दिशा 3. अनन्तक 4. काल 5. कुशप्रतिमा 6. पानक 7. निवर्तन 8. तृण 9. शीर्ष निर्गता 10. उपकरण 11. उत्थान 12. नामग्रहण 13. प्रदक्षिणा 14. कायोत्सर्ग 15. क्षमण 16. अस्वाध्याय और 17. अवलोकन।

**1. भूमि प्रतिलेखना द्वार–** आवश्यकनिर्युक्ति एवं बृहत्कल्पभाष्य के मतानुसार गच्छवासी साधु जहाँ मासकल्प अथवा वर्षावास करना चाहें, वहाँ गीतार्थ मुनि पहले से ही वहन योग्य काष्ठ एवं मृतदेह के परिष्ठापन योग्य दूर, मध्य और समीप ऐसे तीन भूमियों का प्रतिलेखन कर लें।[4] ये भूमियाँ गाँव या नगर के दक्षिण-पश्चिम दिशा (नैऋत्यकोण) में होनी चाहिए।

**प्रयोजन–** तीन भूमियों के प्रतिलेखन का प्रयोजन यह है कि एक के अव्यवहार्य होने पर दूसरा स्थंडिल काम में आ सके। जैसे समीपवर्ती स्थंडिल को किसी ने अनाज आदि बोने के उपयोग में ले लिया हो, उसमें पानी आदि भर गया हो अथवा हरियाली पैदा हो गई हो तो मध्यवर्ती स्थंडिल भूमि का उपयोग कर सकते हैं। यदि दूसरी स्थंडिल भूमि भी जीवाकुल हो गई हो अथवा वहाँ पर नया गांव बसा दिया गया हो अथवा किसी सार्थवाह ने पड़ाव डाल दिया हो, तो दूरवर्ती तीसरी स्थंडिल भूमि का प्रयोग कर सकते हैं।[5]

**2. दिशा द्वार–** टीकाकारों के निर्देशानुसार शव परिष्ठापन हेतु सबसे पहले दक्षिण-पश्चिम दिशा (नैऋत्य कोण) में स्थंडिल भूमि की प्रेक्षा करें। मृतदेह के विसर्जन के लिए यह सर्वश्रेष्ठ दिशा है। इसके अभाव में क्रमशः दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा, दक्षिण-पूर्व (आग्नेय कोण), पश्चिम-उत्तर (वायव्य कोण), पूर्व दिशा, उत्तर दिशा और उसके अभाव में पूर्व-उत्तर (ईशान कोण) में स्थंडिल भूमि का निरीक्षण करें।[6]

यहाँ एक-एक के अभाव में क्रमशः जिन दिशाओं के अवलोकन का निर्देश दिया गया है, उसके पीछे गच्छ, समुदाय एवं संघ की लाभ-हानि का दृष्टिकोण अन्तर्निहित है। सामान्यतया इन आठ दिशा-विदिशाओं में मृत श्रमण के देह परिष्ठापन से निम्न हानि-लाभ होते हैं–[7]

1. नैऋत्य कोण में शव का परिष्ठापन करने से प्रचुर मात्रा में भोजन, पानी एवं उपकरणों की प्राप्ति होती है। इससे समूचे संघ में समाधि रहती है।
2. दक्षिण दिशा में प्रतिस्थापन करने से अन्न-पानी का अभाव हो जाता है

तथा इसके अभाव में संयम विराधना की संभावना रहती है।

3. पश्चिम दिशा में परिष्ठापन करने से उपकरणों का अलाभ होता है।
4. आग्नेय कोण में प्रतिस्थापन करने से स्वाध्याय का अभाव होता है।
5. वायव्य कोण में परिष्ठापन करने से साधुओं में एवं गृहस्थों में परस्पर तूं-तूं मैं-मैं होती है और कलह बढ़ता है।
6. पूर्व दिशा में परिष्ठापन करने से निश्चित रूप से गण भेद एवं गच्छ भेद होता है।
7. उत्तर दिशा में परिष्ठापन करने से रोग बढ़ता है।
8. ईशान कोण में परिष्ठापन करने से कोई अन्य साधु निकट समय में मृत्यु को प्राप्त होता है।

अतएव जहाँ तक सम्भव हो उत्तर-उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व क्रम वाली दिशाओं का ही निरीक्षण करना चाहिए। इन दिशाओं का विभाजन उपाश्रय अथवा गली से करना चाहिए, क्योंकि छोटे गांव में दिशाओं का निर्धारण आसानी से होता है जबकि बड़े नगर अथवा बड़े गांव में दिशाओं का विभाग करना कठिन है।

व्यवहारभाष्य में शव परिष्ठापन योग्य भूमि निरीक्षण के बारे में यह निर्देश भी दिया गया है कि किसी गाँव में सभी क्षेत्र भूमियाँ विभक्त हो गई हों, तो उनकी सीमा में शव परिष्ठापन की अनुमति नहीं मिलती है। अनुमति न मिलने पर राजभय से उस गाँव के भोजिक प्रधान से अनुमति मांगें। उसके निषेध करने पर आयुक्त को पूछें। उसके द्वारा भी अनुमति न मिले तो राजपथ पर अथवा दो गाँवों की सीमा के मध्य में शव का परिष्ठापन करें। यहाँ राजपथ पर शव परिष्ठापन करने का जो सूचन किया गया है वह औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता, क्योंकि राजपथ पर मृत देह का प्रतिस्थापन करने से शासनहीनता, राजा द्वारा नगरस्थ साधुओं को दण्डित करना, जन साधारण द्वारा जैन संघ को असभ्य कहना आदि अनेक दोषों की संभावना हो सकती है।

इसमें यह भी कहा गया है कि गांव की सीमा में अथवा दो गांवों के मध्य कोई भी योग्य स्थान न मिले तो श्मशान भूमि में शव का परिष्ठापन कर दें। वहाँ यदि श्मशान रक्षक रोके तो अनाथ मृतकों के स्थान पर उसे प्रतिस्थापित कर दें। यदि ऐसे स्थान का अभाव हो तो श्मशान रक्षक को धर्मकथा आदि से प्रभावित

करें। फिर भी वह स्वीकृति न दें तो मृतक के जो वस्त्र हैं, वे उसे देकर अनुमति लें। यदि उन वस्त्रों से वह संतुष्ट न हो तो दूसरे नए वस्त्र लाकर दें। यदि श्मशान रक्षक किनारी रहित वस्त्र लेना चाहे, तो उन्हें साधारण वचनों से आश्वस्त कर शव का परिष्ठापन करें। यह भी संभव न हो तो राजकुल से अनुमति लेकर एवं राजपुरुष को साथ लेकर श्मशान में शव का परिष्ठापन करें। जहाँ क्षेत्रीय स्थान अथवा श्मशान का अभाव हो वहाँ पृथ्वीकायिक आदि कायगत स्थान में विवेकपूर्वक "धर्मास्तिकायादि प्रदेश पर हम इस शव का परिष्ठापन करते हैं" मन में ऐसी विचारणा कर शव को परिष्ठापित करें, यही शुद्ध विधि है।[8]

वर्तमान में शव परिष्ठापन की परम्परा लुप्त हो गई है। सहवर्ती मुनिगण उपाश्रय में ही मृत देह का परित्याग कर गृहस्थ को सुपुर्द कर देते हैं। तदनन्तर गृहस्थ द्वारा ख्याति प्राप्त या उच्च पदस्थ श्रमण-श्रमणी हो तो किसी विशेष स्थल पर तथा सामान्य हो तो श्मशान भूमि पर अग्नि संस्कार किया जाता है। ऐसी स्थिति में शव परिष्ठापन की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती है। व्यवहारभाष्य आदि में जो कहा गया हैं वह पूर्वकाल की अपेक्षा से है।

**3. अनन्तक द्वार–** यदि मृतश्रमण के देह को परिष्ठापित करना हो तो उसके लिए तीन श्वेत वस्त्रों का संग्रह करें। भाष्यकार के मत से याचित तीन वस्त्र ढाई हाथ लम्बे, सफेद और सुगंधित होने चाहिए। एक वस्त्र से मृतक को ढकें। दूसरा वस्त्र मृतक के नीचे बिछाएं। तत्पश्चात मृतक को उन वस्त्रों सहित एक डोरी से बांध दें। फिर उस डोरी को ढंकने के लिए तीसरा वस्त्र उसके ऊपर डालें। सामान्यत: तीन वस्त्रों का उपयोग अवश्य होना चाहिए अन्यथा प्रायश्चित्त आता है और लोकापवाद भी होता है। आवश्यकता के अनुसार अधिक वस्त्रों का भी उपयोग किया जा सकता है।[9]

**प्रयोजन–** शव को उज्ज्वल सफेद वस्त्रों से ढंकने आदि का जो विधान बतलाया है, उसके पीछे कई हेतु हैं। यदि मलिन वस्त्र से आच्छादित शव को ले जाते हुए धर्मविमुख लोग देख लें तो कह सकते हैं कि इसने इस भव में पाप किया है तो परलोक में भी दु:खी अवस्था को प्राप्त करेगा। सामान्यतया बाह्य वेशभूषा एवं क्रियाकलाप को देखकर लोगों की मानसिक विचारधारा तदनुरूप हो जाती है, अत: मलिन या रंग-बिरंगे वस्त्रों से शव को ढँकने का निषेध है।

शव को मलिन वस्त्रों से ढंकने पर प्रवचन की अवज्ञा भी होती है। सम्यक्त्व और प्रव्रज्या ग्रहण करने के इच्छुक व्यक्ति लौट जाते हैं, इसलिए नए और प्रमाणोपेत वस्त्र ही धारणीय है।[10]

**4. कालद्वार–** किसी सामान्य या रुग्ण साधु का निधन हो जाए तो उसका परिष्ठापन तुरन्त कर देना चाहिए, क्योंकि निष्कारण अधिक समय तक वसति में रखना उचित नहीं है। यह उत्सर्ग विधि है।

अपवादत: रात्रि में हिम वर्षा हो रही हो, चोरों या हिंसक जानवरों का भय हो, नगर के द्वार बन्द हों, मृतक मुनि अत्यन्त विख्यात हों, मृत्यु के पूर्व मासक्षमण तप आदि किए हुए हों, मृतक महान तपस्वी हों, किसी गाँव की ऐसी व्यवस्था हो कि वहाँ रात्रि में शव को बाहर नहीं ले जाया जाता हो अथवा मृतक के सम्बन्धियों ने पहले से ऐसा कह रखा हो कि हमको पूछे बिना मृतक को न ले जाया जाए– इन स्थितियों में शव को वसति में ही रखें।

❁ यदि सफेद वस्त्रों का अभाव हो, नगर प्रमुख अथवा राजा जनसमूह के साथ नगर में प्रवेश कर रहा हो अथवा नगर के बाहर जा रहा हो, उस स्थिति में शव का विसर्जन दिन में नहीं, रात्रि में करना चाहिए। ❁ यदि पूर्वोक्त कारणों से शव को दीर्घ या अल्पकाल के लिए उपाश्रय में रखना पड़े तो वायु से शरीर अकड़ न जाए, इस हेतु कालगत होते ही उसके हाथ-पैरों को सीधा लम्बा फैलाकर मुँह और आँखों को संपुटित कर दें। मुखवस्त्रिका से मुख को ढँक दें। ❁ मृतक के शरीर में किसी भूत-प्रेत का प्रवेश न हो जाए, एतदर्थ हाथ और पांव के दोनों अंगूष्ठों एवं अंगुली के बीच के पर्व में छोटा सा छेद कर दें अथवा हाथ-पैर के अंगूठों को रस्सी से बाँध दें और अंगुली के बीच छेद कर दें, क्योंकि क्षत-विक्षत देह में भूत-प्रेतादि प्रविष्ट नहीं होते हैं। ❁ इस प्रकार बंधन-छेदन करने पर भी यदि शरीर व्यंतर अधिष्ठित हो जाए या कोई प्रत्यनीक देव मृत देह में प्रवेश कर उत्थित हो तो समीपस्थ मुनि पहले से ही एक पात्र में रखे गए मूत्र को बाएँ हाथ में लेकर उसका सिंचन करते हुए कहे–'बुज्झ-बुज्झ मा गुज्झगा! मुज्झ' –हे गुह्यक! सचेत हो, सचेत हो, मूढ मत हो। इसके उपरान्त भी कलेवर (प्रेतादि से अधिष्ठित होने के कारण) विकराल रूप दिखाए, डराए, चिल्लाए या भयंकर अट्टहास करे, तब भी गीतार्थ मुनि भयभीत न हों प्रत्युत निर्भीक होकर पूर्ववत मूत्र का आच्छोटन करते रहें।

आगमकारों ने यह भी निर्देश दिया है कि यदि रात्रि भर शव को रखना पड़े तो उनके पास नवीन, शैक्ष, बाल और अपरिणत साधुओं को न बिठाएँ, अपितु जो निद्राजयी, उपायकुशल, महापराक्रमी, धैर्यसम्पन्न, कृतकरण (उस विधि का ज्ञाता), अप्रमत्त और निर्भीक हों वे साधु ही रात्रि भर जागरण करें।[11]

**5. कुशप्रतिमा द्वार–** मुनि के कालगत होने पर नक्षत्र का अवलोकन किया जाता है। साधु ने किस नक्षत्र में प्राण त्याग किया है, उस नक्षत्र का विचार करते हैं।

• सत्ताईस नक्षत्रों में से पैंतालीस मुहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले किसी नक्षत्र में देहावसान होने पर उस श्रमण की प्रतिकृति के रूप में दर्भमय दो पुतले बनाकर शव के पास रखने चाहिए। नहीं तो दो अन्य साधु दिवंगत हो सकते हैं।

पैंतालीस मुहूर्त्तवाले नक्षत्र निम्न हैं– उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा। ये छह नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त्त वाले होते हैं।

• यदि तीस मुहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले नक्षत्र में देहावसान हुआ हो, तो श्रमण का दर्भमय एक पुतला बनाकर शव के समक्ष रखना चाहिए। पुतला न करने पर एक अन्य साधु कालगत हो सकता है।

तीस मुहूर्त्त वाले पन्द्रह नक्षत्र ये हैं– अश्विनी, कृतिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपद और रेवती। मृत्यु के समय इनमें से एक भी नक्षत्र हो तो एक पुतला अवश्य करना चाहिए।

• पन्द्रह मुहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले किसी भी नक्षत्र में मुनि का कालधर्म हुआ हो, तो एक भी पुतला नहीं करना चाहिए। पन्द्रह मुहूर्त्त वाले छह नक्षत्र निम्नोक्त हैं– शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा।[12]

**6. पानकद्वार–** शव परिष्ठापन हेतु ले जाते समय सूत्रार्थविद् मुनि पात्र में शुद्ध पानी तथा एक हाथ चार अंगुल परिमाण में समान रूप से काटे हुए कुश ग्रहण करें। जिसके द्वारा स्थण्डिल भूमि की प्रेक्षा की गई है वह दण्डधर मुनि सकोरे में केशर या छाने की राख आदि ग्रहण करें। फिर उक्त दोनों मुनि

पीछे मुड़कर न देखते हुए एवं शव के आगे चलते हुए स्थंडिल की ओर गमन करें। यदि स्थण्डिल भूमि पर कोई गृहस्थ मृतदेह के अंतिम संस्कार हेतु उपस्थित हो तो वहन करने वाले मुनि शव को परिष्ठापित करके एवं अपने पांच अंगों की शुद्धि करके वसति में लौट आएं।[13]

इस वर्णन से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि निर्युक्ति काल में साधुओं द्वारा शव परिष्ठापन और गृहस्थ द्वारा अग्नि संस्कार ऐसी दोनों ही परम्पराएं विद्यमान थीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मुनि स्थंडिल भूमि तक शव को लेकर आएं। यदि वहाँ गृहस्थ को उपस्थित हुआ देख लें तो कलेवर को परिष्ठापित कर प्रतिनिवृत्त हो जाएँ। यद्यपि यहाँ दाहसंस्कार करने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु गृहस्थ की उपस्थिति इसी कार्य का संकेत करती है।

दूसरे, इस सैद्धान्तिक आचार का भी निर्णय होता है कि उस युग में मुनि लोग दिवंगत आत्मा को उपाश्रय में विसर्जित न कर पूर्वप्रेक्षित भूमि पर लाकर परिष्ठापित करते थे। उसके बाद गृहस्थ की उपस्थिति होती तो, वह अपने अनुसार अंतिम संस्कार करता था, अन्यथा निम्न विधि की जाती थी।

**7. तृण द्वार–** शव को वहन करते हुए स्थंडिल भूमि पर पहुँच जाएँ और वहाँ कोई गृहस्थ न हो, तो एक मुनि नैऋत्य कोण में भूमि प्रमार्जन करें। फिर गीतार्थ मुनि उस स्थान पर एक मुट्ठी कुश द्वारा अखण्डित धारा से समान संस्तारक बनाएं। उसके पश्चात मृत देह को संस्तारक के ऊपर परिष्ठापित कर, उसके समीप रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्टक रखें।[14]

**प्रयोजन–** शव के निकट रजोहरण आदि इसलिए रखने चाहिए कि कदाचित वह देवगति को प्राप्त करे और अवधिज्ञान से स्वयं के पूर्वभव को देखने लगे तो उपकरणों के न रखने से वह मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है तथा इन उपकरणों के अभाव में राजा के पास जाकर कोई शिकायत कर सकता है कि एक मृत शव पड़ा है– यह सुनकर राजा कुपित होकर आस-पास के दो-तीन भागों में उपद्रव या विषम वातावरण पैदा कर सकता है।[15]

यहाँ प्रश्न होता है कि शव परिष्ठापन हेतु समान संस्तारक ही क्यों किया जाए? इसके समाधान में निम्न कारण बतलाए गए हैं–

शव के लिए किया गया तृण संस्तारक का ऊपरी भाग विषम हो तो आचार्य, मध्य भाग विषम हो तो वृषभ (गीतार्थ) और नीचे का भाग विषम हो

तो किसी सामान्य साधु का मरण होता है अथवा ये रुग्णावस्था को प्राप्त होते हैं। अत: तीनों की सुरक्षा के लिए समान संस्तारक करना चाहिए।[16]

टीकाकार के मतानुसार जिस क्षेत्र में तृण आदि की उपलब्धि न हो वहाँ वाचनाचार्य को निर्धारित भूमि पर राख चूर्ण अथवा केशर की अखंड धारा से ककार करना चाहिए और उसके नीचे तकार करके बंधन करना चाहिए।[17] तत्पश्चात मृतक को उस चिह्नित भूमि पर परिष्ठापित करना चाहिए।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने विपरीत 'क्तो' करने का निर्देश किया है। इसी के साथ मृतक मुनि की गुरु परम्परा का नामोच्चारण करते हुए उसका दिशाबंध करें। फिर 'तीन करण-तीन योग पूर्वक इस मुनि का परित्याग करता हूँ' ऐसा बोलते हुए परिष्ठापित करें, यह उल्लेख किया गया है।[18]

प्राचीन सामाचारी में 'कृत' आलेखन का निर्देश है तो किन्हीं परम्परा में 'त्तो' आलेखन का भी सूचन है।[19]

यह श्मशान भूमि में शव परिष्ठापन की विधि है।

**8. शीर्ष निर्गता द्वार–** शव को उपाश्रय से बाहर निकालते एवं उसका परिष्ठापन करते समय उसका सिर गाँव की ओर रखें। इसका रहस्य यह है कि कदाचित शव उत्थित हो जाए, तब भी जिस दिशा की ओर पैर होंगे, वह उस दिशा की ओर ही दौड़ेगा, जाएगा, उपाश्रय की ओर नहीं जाएगा। दूसरे गांव की ओर पैर करने से अमंगल होता है यानी शव प्रेतादि से अधिष्ठित हो तो वह चलता हुआ गांव का अमंगल भी कर सकता है। इससे लोक गर्हा भी होती है अत: सिर गांव की ओर रखना चाहिए।[20]

विधिमार्गप्रपा के अनुसार मृत श्रमण को वसति से बाहर ले जाने के पश्चात वसति में स्थित विधिज्ञाता मुनि मृत सम्बन्धित मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थ का परित्याग करें, वसति प्रमार्जन करें तथा जिस स्थान पर मृतक को रखा गया था वहाँ गोबर आदि का लेप कर उसकी शुद्धि करें, क्योंकि मृत विषयक समस्त प्रकार की अशुद्धि दूर करने के पश्चात ही मुनिवर्ग को अपनी आवश्यक क्रियाएं करना कल्पता है।

**9. उपकरण द्वार–** पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार मृतक श्रमण को समान संस्तारक पर परिष्ठापित करने के पश्चात मृत श्रमण जिस कोटि का हो जैसे क्षुल्लक, जिनकल्पी, स्थविरकल्पी आदि के अनुसार उसके निकट मुखवस्त्रिका,

रजोहरण आदि उपकरण रखें। कुछ आचार्यों के मतानुसार जिनकल्पी, स्थविरकल्पी या साध्वी हो तो क्रमशः बारह, चौदह एवं पच्चीस उपकरण स्थापित करें।

यदि यथानुरूप उपकरण स्थापित नहीं करते हैं तो असामाचारी और आज्ञा की विराधना होती है। इसी के साथ उपकरणों से रहित शव देखकर श्मशान मालिक कुपित हो सकता है, राज आदि या नगरजनों को ज्ञात होने पर किसी पर हत्या का आरोप भी लगाया जा सकता है। गाँव की शासन व्यवस्था पर भी आरोप लग सकता है। श्मशान मालिक मिथ्यात्वी हो तो किसी प्रकार का उपद्रव कर सकता है, अतः उपकरण अवश्य रखने चाहिए।[21]

**10. निवर्त्तन द्वार–** आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि मृतक श्रमण को जिस मार्ग से परिष्ठापन हेतु ले जाया गया है, शव को वहन करने वाले श्रमण पुनः उसी मार्ग से वसति की ओर न लौटें अपितु स्थण्डिल भूमि का कुछ भाग अतिक्रमित हो जाने के बाद अन्य मार्ग से चलते हुए वसति में लौटें। क्योंकि उसी मार्ग से लौटने पर असामाचारी होती है। कदाचित व्यन्तरादि से आवेष्टित होकर शव उत्थित हो जाए तो आने वाले मार्ग की ओर दौड़ता हुआ वसति की ओर लौटते हुए श्रमणों का अनिष्ट भी कर सकता है, अतः परिष्ठापनकर्ता मुनियों को अन्य मार्ग से वसति की ओर गमन करना चाहिए।

**11. उत्थानद्वार–** निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी शव परिष्ठापन विधि के अन्तर्गत उत्थान द्वार में कहते हैं[22] कि मृत श्रमण को स्थंडिल भूमि की ओर ले जाते समय यदि वह वसति में उत्थित हो जाए तो मुनियों को वसति छोड़ देनी चाहिए। यदि निवेशन (एक द्वार से आवेष्टित अनेक घर अर्थात एक मुख्य द्वार के भीतर अनेक घरों के बीच में उठ जाए तो निवेशन छोड़ देना चाहिए। यदि मोहल्ले में गृहपंक्तियों के बीच उठ जाए तो मोहल्ला छोड़ देना चाहिए। यदि गांव के बीच उत्थित हो जाए तो आधा गांव छोड़ देना चाहिए। यदि गांव के मुख्य द्वार पर उत्थित हो जाए तो सम्पूर्ण गाँव ही छोड़ देना चाहिए। यदि गाँव और उद्यान के बीच उठ जाए तो मण्डल अर्थात देश का लघुतम भाग छोड़ देना चाहिए। यदि उद्यान में उत्थित हो जाए तो काण्ड अर्थात देश का बड़ा भाग छोड़ देना चाहिए। यदि उद्यान और नैषेधिकी (शव परिष्ठापन भूमि) के बीच उठ जाए तो उस देश का ही परित्याग कर देना चाहिए। यदि परिष्ठापन भूमि में उठ

जाए तो राज्य को ही छोड़ देना चाहिए।

तदनन्तर स्थंडिल भूमि में शव को विसर्जित करें। फिर जो कांधिये बने हैं वे मुनिगण एक तरफ मुहूर्त्त भर खड़े रहें। यदि उस बीच मृतात्मा उठकर वहीं पर गिर जाए तो मुनियों को वसति छोड़ देनी चाहिए। तत्पश्चात स्थंडिल भूमि और उद्यान के बीच उत्थित होकर गिर जाए तो गाँव या नगर छोड़ देना चाहिए। यदि उद्यान में उत्थित होकर वहीं गिर जाए तो मोहल्ला छोड़ देना चाहिए। यदि उद्यान और गाँव के बीच उत्थित होकर गिर जाए तो आधा गांव छोड़ देना चाहिए। यदि गाँव के मुख्य द्वार पर उठकर गिर जाए तो गांव को ही छोड़ देना चाहिए। यदि गांव के बीच उत्थित होकर गिर जाए तो देश का लघुतम भाग छोड़ देना चाहिए। यदि मोहल्ले में उठकर गिर जाए तो देश का लघुत्तर (बड़ा) भाग छोड़ देना चाहिए। यदि निवेशन के मध्य उठकर गिर जाए तो देश ही छोड़ देना चाहिए। यदि वसति में प्रवेश कर गिरता है तो राज्य छोड़ देना चाहिए। इसी तरह दूसरी बार परिष्ठापित करने के पश्चात भी व्यन्तराधिष्ठित शव पुनः वसति में प्रवेश कर गिर जाता है तो दो राज्य छोड़ देने चाहिए। पुनः तीसरी बार भी ऐसा ही होने पर तीन राज्य छोड़ देने चाहिए। उसके पश्चात मृतात्मा कितनी ही बार गिरे या उठे तो भी तीन राज्य का ही त्याग करना चाहिए।[23]

आवश्यकटीका में यह भी वर्णित है कि यदि अशिव आदि कारणों से शव का परिष्ठापन न कर सकें और उसे कुछ समय वसति में ही रखना पड़े तो तप योग की वृद्धि करनी चाहिए। जैसे नवकारसी करने वाले मुनि पोरुषी करें, पोरुषी करने वाले मुनि पुरिमड्ढ करें। यदि सामर्थ्य हो तो आयंबिल, उपवास आदि भी करें।[24]

**12. नामग्रहण द्वार–** यदि उपद्रव आदि कारणों से शव को वसति में रखते अथवा व्यन्तर अधिष्ठित होने के कारण वह उत्थित होकर जितनी संख्या में साधुओं का नाम उच्चरित करे, उन सभी श्रमणों का शीघ्रता से लोच कर देना चाहिए। लोचकृत मुनियों को लगातार पांच उपवास करने का प्रत्याख्यान देना चाहिए। जो इतना तप न कर सके उन्हें यथाशक्ति चार, तीन, दो या एक उपवास का तप करवाना चाहिए। अन्यथा गणभेद कर देना चाहिए अर्थात उतने मुनियों को गच्छ से पृथक कर देना चाहिए।[25]

**13. प्रदक्षिणा द्वार–** शव का परिष्ठापन करने के पश्चात लौटते समय

परिष्ठापक मुनि उसकी प्रदक्षिणा न दें अपितु जो मुनि जहाँ स्थित हैं उसे वहीं से प्रतिनिवृत्त हो जाना चाहिए। यदि प्रदक्षिणा कर लौटते हैं तो शव के उत्थान आदि दोष होने पर बाल-वृद्धों की विराधना होती है। भावार्थ यह है कि कदाचित शव उठ जाए तो वह बाल, वृद्ध आदि की विराधना कर सकता है।[26]

**14. कायोत्सर्ग द्वार–** निर्युक्तिकार एवं भाष्यकार के निर्देशानुसार पूर्वोक्त उत्थानादि दोष होने पर जो मुनि कांधिया बनकर एवं संस्तारक आदि कार्यों के लिए स्थंडिल भूमि पर गए हैं वे मृतक का व्युत्सर्जन करने के पश्चात उपाश्रय में आकर आचार्य के समीप परिष्ठापन में हुई अविधि एवं दोष निवारणार्थ कायोत्सर्ग करें।[27]

कुछ परम्पराओं के अनुसार उत्थान आदि दोष होने पर स्थंडिल भूमि से लौटते हुए जिनालय में चैत्यवंदन आदि करके शान्ति निमित्त अजितशान्तिस्तव पढ़ें अथवा विपरीत क्रम से तीन स्तुति कहें। उसके बाद आचार्य के सन्निकट पहुँचकर परिष्ठापन करते समय कोई अविधि हुई हो तो उसके लिए कायोत्सर्ग करें। यहाँ पूर्व आचरणा से रजोहरण को विपरीत क्रम से धारण करते हुए यानी डंडी को पीछे और दसिया को आगे की ओर रखते हुए गमनागमन की आलोचना करें। फिर उल्टे क्रम से चैत्यवंदन कर पुन: विधि पूर्वक चैत्यवंदन करें। जो श्रमण उपाश्रय में हैं वे मृतक के मल-मूत्रादि सम्बन्धी अशुद्धि को दूर कर वसति का प्रमार्जन करें।

आचार्य जिनप्रभसूरि कायोत्सर्ग के संदर्भ में उत्थानादि दोष एवं शरीरादि अशुद्धि के निवारणार्थ तीन कल्प उतारने अर्थात तीन प्रकार से आचार शुद्धि करने का प्रतिपादन करते हैं।[28]

**प्रथम कल्प श्मशान सम्बन्धी–** विधिमार्गप्रपा में वर्णित विधि के अनुसार मृत श्रमण का परिष्ठापन करने के पश्चात गीतार्थ मुनि और दंडधर, दोनों ही पूर्व निर्धारित स्थान में आकर थोड़े जल द्वारा श्मशान सम्बन्धी अशुद्धि को दूर करें। फिर जलपात्र (तिरपनी) और डोरी को वहीं पर परिष्ठापित कर दें। फिर दोनों ही तीन नमस्कारमन्त्र बोलकर एवं डंडे की स्थापना कर उसके समक्ष ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें, शक्रस्तव द्वारा चैत्यवंदन करें और उवस्सग्गहरं स्तोत्र पढ़ें। उसके पश्चात शव परिष्ठापन करते समय कोई अविधि हुई हो तो तद्निमित्त कायोत्सर्ग में चार लोगस्ससूत्र अथवा एक नमस्कारमन्त्र का चिंतन करें।

कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र या नमस्कारमन्त्र बोलें। तदनन्तर 'इस साधु का तीन करण एवं तीन योग से परित्याग कर दिया है' ऐसा तीन बार बोलें। उसके बाद किसी तरह का क्षुद्र उपद्रव न हो, उसके निवारणार्थ अन्नत्थसूत्र बोलकर चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में पुनः चतुर्विंशतिस्तव बोलें।

**द्वितीय कल्प आचार सम्बन्धी–** तदनन्तर दूसरा कल्प गाँव के समीप आकर उतारें। वहाँ शुद्ध जल से भरे मात्रक को परिष्ठापित कर दें। तदनन्तर उल्टे क्रम से चद्दर ओढ़कर छोटे-बड़े के क्रम से जिनालय में प्रवेश करें। फिर रजोहरण और मुखवस्त्रिका को उल्टे क्रम से धारण कर गमनागमन में लगे हुए दोषों की आलोचना करें और ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। फिर उल्टे क्रम से चैत्यवंदन कर अजितशान्ति स्तव बोलें। फिर सीधे क्रम से वस्त्र पहनकर विधिपूर्वक चैत्यवंदन करें।

**तृतीय कल्प कंधा सम्बन्धी–** तदनन्तर कंधा सम्बन्धी तीसरा कल्प वसति (उपाश्रय) में आकर उतारें। वहाँ आचार्य के समीप शव परिष्ठापन करते समय कोई अविधि हुई हो उस दोष का निवारण करने के लिए चार लोगस्ससूत्र अथवा एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। यह तीन कल्प उतारने की विधि है।

**15-16 खमण और अस्वाध्याय द्वार–** यदि आचार्य आदि अथवा लोक विश्रुत मुनि कालगत हो तो सर्व संघ में शोक छा जाता है, भक्त गण अधीर हो जाते हैं इसलिए उस दिन उपवास करना चाहिए और आगमसूत्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। किन्तु अन्य साधु का देहावसान होने पर न उपवास किया जाता है और न अस्वाध्यायिक होता है।[29]

**17. अवलोकन द्वार–** मृत शरीर के आधार पर शुभाशुभयोग एवं दिवंगत मुनि की शुभाशुभ गति का परिज्ञान करने के लिए आचार्य, महर्द्धिक, भक्त प्रत्याख्यानी या अन्य दीर्घतपस्वी दूसरे दिन शव परिष्ठापन दिशा का अवलोकन करें।

जिस दिशा में मृतक का शरीर श्रृगाल आदि द्वारा भक्षण करने पर भी अखण्ड रहता है उस दिशा में सुभिक्ष और सुख विहार होता है, ऐसा सूत्रार्थविद कहते हैं। वह कलेवर जिस दिशा में जितने दिन तक यथावत रहता है उस दिशा

में उतने ही वर्षों तक सुभिक्ष रहता है तथा शत्रु आदि के उपद्रवों का अभाव हो जाता है। इसके विपरीत यदि उसका शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है तो उस दिशा में दुर्भिक्ष एवं शत्रु आदि के उपद्रव की पूर्ण संभावना रहती है। यदि वह मृत शरीर उसी स्थान पर अखण्ड रहता है तो सर्वत्र सुभिक्ष और सुखविहार होता है।[30]

शव के अखण्ड रहने पर वैमानिक या ज्योतिषदेव, दो भागों में विभक्त होने पर वाणव्यंतर देव और क्षत-विक्षत होने पर भवनपति देवगति में उत्पन्न हुआ जानना चाहिए।

इस प्रकार मृत श्रमण के परिष्ठापन की यह विधि प्राचीन परम्परानुसार दिखलाई गई है। यदि सहवर्ती मुनिगण स्वयं मृतश्रमण को स्थण्डिल भूमि में ले जाकर परिष्ठापित करें, तो उपर्युक्त विधि के सभी चरणों का अनुपालन करना चाहिए। वर्तमान में शव परिष्ठापन की परिपाटी विच्छिन्न हो गई है। अब तो गृहस्थ द्वारा अग्निसंस्कार ही किया जाता है किन्तु यह अपवाद विधि है।

वर्तमान परम्परानुसार अन्तिम संस्कार की विधि निम्न प्रकार है–

सर्वप्रथम गुरु भगवन्त एवं उपस्थित मुनि वर्ग मृतक साधु के मस्तक पर वासचूर्ण डालते हुए संकल्पपूर्वक उन्हें स्वगच्छ से विसर्जित करें। उसके बाद श्रावक वर्ग मृतक के मुख में सोना-चांदी-तांबा-प्रवाल और मोती इन पांच रत्नों का निक्षेप कर एवं होठों को बंदकर मुख पर मुखवस्त्रिका बांधें। फिर नेत्रयुगल को बंद करें। तदनन्तर रात्रि भर रखना हो तो किसी खंभे आदि के सहारे डोरी से बाँध दें। इसी के साथ दोनों पैरों एवं दोनों हाथों के अंगूठों और अंगुलियों को भी परस्पर बांध दें, जिससे मृत देह व्यन्तराधिष्ठित न हो।

जिस स्थान पर आत्म प्रदेशों का परित्याग किया है वहाँ लोहे का कीला ठोंकें। शव के समीप पराक्रम आदि गुणों से युक्त साधुजन बैठे रहें। निर्भीक श्रावकगण भी रात्रिजागरण करें।

तत्पश्चात वैकुण्ठी तैयार करवाएं। मृतक के दाढ़ी-मूंछ आदि की सफाई कर उसे स्नान करवायें। फिर केशर, चन्दन, कर्पूर, बरास आदि से मिश्रित द्रव्य द्वारा शरीर का विलेपन करें। फिर नवीन चोलपट्ट पहनाकर कमर को डोरी से बांधें। फिर चद्दर ओढ़ाकर वैकुण्ठी में बिठाएं। वहाँ मृतक की दायीं ओर छोटा रजोहरण और मुखवस्त्रिका रखें तथा बायीं ओर एक झोली में लड्डू सहित

खंडित पात्र रखें। पूर्व निर्दिष्ट 45 या 15 मुहूर्त्त वाले नक्षत्रों में निधन हुआ हो तो आटे के पुतले बनाएं। फिर 'जय-जय नंदा, जय-जय भद्दा' के उच्च स्वरों से आकाश को गुंजायमान करते हुए श्मशान भूमि पर पहुँचें। वहाँ प्रमुख श्रावक उल्टा उत्तरासन धारणकर, निरवद्य भूमि पर 'क्रौं' अक्षर लिखें। फिर उस पर चिता रचाकर चन्दन आदि काष्ठ द्वारा अग्निसंस्कार करें।[31]

इधर मुनिजन वसति प्रमार्जन आदि क्रिया करें। एक निष्णात मुनि उल्टे क्रम से वसति शोधन करें तथा एक मुनि उल्टी रीति से वस्त्र पहनकर जिनालय में विपरीत एवं विधिपूर्वक देववन्दन करें। आचार्यादि का देहावसान हुआ हो तो 8 प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करें।

दूसरे दिन गृहस्थ कपालं भाँति की क्रिया करें। आजकल गृहस्थों की भाँति मुनियों के अस्थि विसर्जन की क्रिया भी की जाती है।

## मुनियों की संख्या के अनुसार शव परिष्ठापन विधि

प्राचीन समाचारी के अनुसार जब मृत श्रमण का विसर्जन करते हैं तब कम से कम सात मुनियों की अपेक्षा होती है। चार मुनि कांधिए बनते हैं, दो मुनि कुश एवं जलादि लेकर चलते हैं और एक मुनि वसति शुद्धि करता है। इस संख्या से कम मुनि हो तो उसकी विधि निम्न है–

- यदि पाँच मुनि हो, उसमें एक कालगत हो जाए तो दो मुनि शव वहन करें, तीसरा कुश आदि लेकर चलें और चौथा वसति रक्षण करें।
- यदि पाँच से कम चार हो तो दो मुनि शव वहन करें और वे ही कुश आदि लेकर जाएं, तीसरा वसति का ध्यान रखें।
- यदि तीन मुनि हों और एक कालगत हो जाएं तो रात्रि में उपधि को व्यवस्थित रखकर एक या दो मुनि उस मृतक को वहन करें। दिन में परिष्ठापन करना हो तब भी एक मुनि उपाश्रय में रहे और एक उसे वहन करें।

यदि शव का विधिपूर्वक परिष्ठापन न करके मुनि ऐसे ही छोड़कर लौट आते हैं तो उन्हें गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं।

व्यवहारभाष्य के अनुसार यदि साधुओं का अभाव हो तो गृहस्थ भी शव का परिष्ठापन कर सकते हैं किन्तु वहाँ यह भी कहा गया है कि गृहस्थ स्वयं शव

को उठाकर नहीं ले जाते हैं, अपितु बैलों के द्वारा, मल्लों के द्वारा अथवा चांडालों के द्वारा श्मशान भूमि तक पहुँचाते हैं। इससे प्रवचन की निंदा होती है।

इस भाष्य में शव परिष्ठापक मुनियों का आवश्यक आचार भी बतलाया गया है। जो मुनि इस सामाचारी का सम्यक पालन नहीं करते हैं वे अनेक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।[32]

## मृतक के पात्र आदि की विधि

टीकाकारों के मन्तव्यानुसार मृत श्रमण का कोई उपकरण परिभोग योग्य हो तो उसे सागारकृत- यह मेरा नहीं है, आचार्य का है, आचार्य ही इसके ज्ञाता हैं इस भावना से ग्रहणकर आचार्य को समर्पित कर दें। आचार्य के द्वारा वह उपकरण जिसे दिया जाए वह मुनि 'मत्थएण वंदामि' इस शब्द का उच्चारण करते हुए उसे वन्दन पूर्वक स्वीकार करे। उसके पश्चात वह उसका उपयोग कर सकता है।[33]

मृत साधु के उच्चारपात्र, प्रस्रवण पात्र, श्लेष्मपात्र एवं कुश, पलाल आदि के संस्तारकों का परिष्ठापन कर दें। यदि कोई मुनि रुग्ण हो, तो आवश्यकता होने पर उनके लिए उक्त पात्रों का उपयोग किया जा सकता है।

कोई मुनि महामारी आदि किसी छूत की बीमारी से मरा हो, तो जिस संस्तारक से उसे ले जाया जाए, उसके टुकड़े-टुकड़े कर परिष्ठापित कर दें। उसी प्रकार अन्य उपकरण भी उसके शरीर से स्पर्श हुए हों, उनका भी परिष्ठापन कर दें। वर्तमान में लगभग सभी आम्नायों में मृत श्रमण के पात्रों का उपयोग किया जाता है।[34]

## तुलनात्मक विवेचन

भारतीय संस्कृति पुरातन काल से अध्यात्म प्रधान संस्कृति रही है। इसके उत्स में अध्यात्म मूल्यों का सदैव सर्वोच्च स्थान रहा है। महापरिष्ठापनिका अर्थात मृत श्रमण देह का निर्दोष रूप से विसर्जन करना अध्यात्म संस्कृति का ही एक घटक है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो महापरिष्ठापनिका की विधि सामान्य रूप में बृहत्कल्पसूत्र[35], व्यवहारसूत्र[36], आवश्यकटीका[37], बृहत्कल्पभाष्य[38], व्यवहारभाष्य[39], सामाचारीसंग्रह[40], सुबोधासामाचारी[41], सामाचारीप्रकरण[42], विधिमार्गप्रपा[43], आचारदिनकर[44] आदि कृतियों में उपलब्ध होती है। गहराई से

मनन किया जाए तो इस संस्कार की विस्तृत चर्चा आवश्यकनिर्युक्ति, हारिभद्रीय टीका एवं बृहत्कल्पभाष्य में की गई है। इनमें सामान्यतया 17 द्वारों के माध्यम से इस विधि को सुस्पष्ट किया गया है। यद्यपि बृहत्कल्पभाष्य में द्वारों के क्रम से इसका उल्लेख नहीं किया गया है तथापि आवश्यक निर्युक्ति एवं बृहत्कल्पभाष्य की विषयवस्तु लगभग समान है।

जब इस विषयक मध्यकालवर्ती कृतियों का अवलोकन करते हैं तो उनमें समरूपता और विभिन्नता दोनों के दर्शन होते हैं। परवर्ती साहित्य से यह भी निर्णीत हो जाता है कि मध्यकाल के ग्रन्थ आवश्यक निर्युक्ति एवं हारिभद्रीय टीका से पूर्णत: प्रभावित है।

समाचारीसंग्रह, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि में तीन स्थंडिल प्रेक्षा, तीन वस्त्रों द्वारा शव का आच्छादन, नक्षत्रानुसार पुतला निर्माण, निवर्त्तन, प्रदक्षिणा, उत्थान, खमण, अस्वाध्याय, अवलोकन, शीर्षनिर्गता आदि लगभग सभी पक्षों पर विचार किया गया है। यद्यपि कुछ तथ्य निम्न रूप से दृष्टव्य हैं–

- पूर्ववर्ती ग्रन्थों की तुलना में विधिमार्गप्रपा आदि में यह विशेष रूप से कहा गया है कि चार कांधिया अर्थात चार मुनि अर्थी उठाने से पूर्व छाने की राख का तिलक करें तथा कुंवारी कन्या के द्वारा काते गए सूत के तीन तारवाले तंतु से निर्मित उत्तरासंग के द्वारा अपनी रक्षा करें। यहाँ उत्तरासंग को बायीं भुजा के अधोभाग से प्रारम्भ कर दायें कंधे के ऊपर (जनेऊ की भांति) विपरीत क्रम से धारण करें। उल्टा वस्त्र पहनने पर व्यंतरादि के उपद्रव नहीं होते हैं। रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका भी विपरीत क्रम से ग्रहण करें अर्थात दसियों को आगे की तरफ और दंडी को पीछे की तरफ रखें। रजोहरण बाएं हाथ की अपेक्षा दाएँ हाथ में एवं मुखवस्त्रिका भी दाएं हाथ की अपेक्षा बाएं हाथ में पकड़ें।
- विधिमार्गप्रपा में अग्निसंस्कार की विधि पृथक रूप से दर्शाते हुए कहा गया है कि अग्निसंस्कार के पश्चात मृत श्रमण को जो भोजन रुचिकर था। उसे एक पात्र में रखकर श्मशान भूमि में ही छोड़ दें। फिर वहाँ क्षण भर के लिए कौआ, कबूतर, चिड़िया आदि का चिंतन करें। उस समय श्वेतवर्ण के पक्षी आएं तो देवगति, कृष्णवर्ण के पक्षी आएं तो अशुभ गति और मध्यमवर्ण के जीव आएं तो मध्यमगति हुई, ऐसा माना जाता

है। तदनन्तर 'तुम हमारे परिग्रह से मुक्त हुए और हम बढ़े हुए परिग्रह से संवृत्त हुए' ऐसा बुलवाकर मृतात्मा से अनुमति ली जाती है।

- विधिमार्गप्रपादि में कायोत्सर्ग द्वार के अन्तर्गत तीन कल्प उतारने की विधि भी अतिरिक्त कही गई है। इसकी स्पष्ट चर्चा पूर्व में कर चुके हैं।
- आवश्यकनिर्युक्ति की हारिभद्रीय टीका में आचमन योग्य असंसृष्ट जल एवं शराव संपुट में केशर आदि चूर्ण कौन लेकर चलते हैं? कुश संस्तारक कौन करता है? इत्यादि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है जबकि विधिमार्गप्रपा में इन कृत्यों के लिए दंडधर एवं वाचनाचार्य- इन दो मुनियों का सुस्पष्ट उल्लेख किया गया है। इसमें दिशाबंध अर्थात मृतात्मा के अतीत काल के आचार्य आदि के नामोच्चारणपूर्वक उसे विसर्जित करने का भी निर्देश है।
- प्राचीनसामाचारी, आचारदिनकर आदि में मृत श्रवण देह का केशर, कपूर आदि अथवा कुंकुम आदि द्वारा विलेपन करने तथा चोलपट्ट एवं चद्दर ओढ़ाने का उल्लेख है जो आवश्यकनिर्युक्ति आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में पढ़ने को नहीं मिलता है।
- आचारदिनकर में मृत साधु के समक्ष पाँच रत्न रखने का निर्देश किया गया है, जो वर्तमान परम्परा में भी देखा जाता है। इनका तात्विक रहस्य अन्वेषणीय है।

आचारदिनकर के अध्ययन से यह भी अवगत होता है कि साधु-साध्वियों की मृत्यु होने पर सूतक, पिण्डदान एवं शोक आदि नहीं होते हैं।

• परिष्ठापन सम्बन्धी कृत्यों को संपादित करने वाले साधु उपाश्रय के मुख्य द्वार पर चद्दर उतारकर सुवर्ण जल के छींटे लें तथा उपाश्रय के भीतर जाकर प्रासुक जल से देह को प्रक्षालित करें। इस सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपाकार का अभिमत अधिक औचित्यपूर्ण है। उन्होंने दैहिक अशुद्धि गाँव के बाह्य भाग में दूर करने का उल्लेख किया है। लोक व्यवहार में भी श्मशान तक जाने वाले पुरुष घर के बाह्य भाग में ही शरीर शुद्धि करते हैं। परिष्ठापन क्रिया से सन्दर्भित सामान्य वर्णन प्रवचनसारोद्धार में भी परिलक्षित होता है किन्तु वहाँ इसकी चर्चा उच्चार दिशा के प्रतिस्थापन के रूप में हुई है।[45]

यदि त्रिविध परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाए तो ज्ञात होता है

कि श्वेताम्बर साहित्य में इस संस्कार की मौलिक एवं आपवादिक दोनों तरह की विधियाँ पढ़ने को मिलती हैं। दिगम्बर परम्परा के भगवती आराधना एवं उसकी अपराजिता टीका आदि में शव परिष्ठापन सम्बन्धी क्रिया का उल्लेख नहीं मिलता है। सामान्यत: जो मुनि मृत्यु को निकट जानकर पादपोपगमन अनशन को स्वीकार कर लेता है, उनके लिए इन सब क्रियाओं की आवश्यकता नहीं होती। निर्यापक मुनि मृत मुनि की देह को वहीं विसर्जित कर वापस आ जाता है। यदि किसी मुनि का वसति में देहावसान हो जाए, तो उस समय कौनसी क्रिया करनी चाहिए? यह विधि प्राप्त नहीं होती है। फिलहाल जैन धर्म की श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों आम्नायों में अग्निसंस्कार की प्रथा ही विद्यमान है।

वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में इस विधि का कोई उल्लेख देखने में नहीं आया है।

## उपसंहार

कोई मुनि भक्तप्रत्याख्यान आदि त्रिविध अनशन की आराधना करता हुआ अथवा रुग्णादि अवस्था से ग्रसित हुआ अथवा आयु पूर्ण होने के कारण अचानक ही कालगत हो जाये तो उसे मुनिजनों द्वारा पूर्वप्रेक्षित भूमि पर सुविधिपूर्वक परिष्ठापित-विसर्जित करना महापरिष्ठापनिका कहलाता है।

यदि इस संस्कार की मूल अवधारणा एवं अस्तित्व को लेकर विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि आगम युग से निर्युक्ति काल तक मुनि द्वारा शव परिष्ठापन और गृहस्थ द्वारा अंतिम संस्कार ऐसे दोनों उल्लेख प्राप्त होते हैं। यद्यपि गृहस्थ द्वारा अंतिम संस्कार किस प्रकार किया जाता था इसके स्पष्ट निर्देश तो प्राप्त नहीं हैं, किन्तु बृहत्कल्पभाष्य में इतना अवश्य कहा गया है कि मुनिवर्ग स्वयं शव को वहन कर स्थंडिल भूमि तक लेकर आते हैं। यदि वहाँ गृहस्थ को उपस्थित हुआ देख लें तो सामान्य रीति से मृतक को परिष्ठापित कर शरीर शुद्धि पूर्वक उपाश्रय में लौट आते हैं। यदि गृहस्थ न हो तो समान संस्तारक बनाकर विधिपूर्वक परिष्ठापित करते हैं। इस वर्णन में अग्निसंस्कार का तो स्पष्ट सूचन नहीं है किन्तु गृहस्थ का उल्लेख होने से हमें वही भासित होता है।

इसके अनन्तर उत्तरवर्तीकाल में दोनों विधियों के स्पष्ट उल्लेख मिल जाते हैं। विधिमार्गप्रपा में मुनि द्वारा शव व्युत्सर्जन एवं गृहस्थ द्वारा अग्नि संस्कार दोनों का स्पष्ट निर्देश है यद्यपि शव परिष्ठापन को प्राथमिक स्थान दिया गया है।

इस प्रकार विक्रम की 15वीं शती पर्यन्त के ग्रन्थों का अवलोकन करने से इतना सुनिश्चित हो जाता है कि इस काल तक शव परिष्ठापन की मूल विधि पूर्ण अस्तित्व में थी तथा गृहस्थ द्वारा अग्नि संस्कार की प्रक्रिया का उद्भव हो चुका था। तदनन्तर परिष्ठापन विधि कब व्युच्छिन्न हुई एवं अग्नि संस्कार को प्रधानता कब मिली, प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कुछ कहना असंभव है किन्तु इतना सुस्पष्ट है कि वर्तमान में अग्नि संस्कार-विधि की जाती है।

यदि इस पहलू पर सामाजिक दृष्टिकोण से मनन करें तो सहजतया प्रश्न उभरता है कि जब श्रमण का समग्र जीवन स्वार्थ-परमार्थ के लिए ही अर्पित है तब मृतावस्था के पूर्व यदि वह अपने नेत्रदान, देहदान, अंगदान के विषय में घोषणा कर दें तो अनेकान्तिक दृष्टि से उचित है या अनुचित? विद्वज्जन इस बिन्दु पर अवश्य विचार करें। मेरी व्यक्तिगत धारणा के अनुसार लोक कल्याण एवं सामाजिक सेवा की दृष्टि से देह अंग एवं नेत्र का दान करना किसी सीमा तक उपयुक्त और सार्थक है।

यदि शव परिष्ठापन की उपयोगिता के सम्बन्ध में सोचा जाए तो भौतिकवादी युग में इस संस्कार की प्रासंगिकता न्यूनतम प्रतीत होती है। यद्यपि इस विधि का आध्यात्मिक मूल्य सदैव अनुसरणीय रहेगा किन्तु पाश्चात्य संस्कृति में पल रहे जन-मानस के लिए यह सभ्यताहीन एवं लोकविरुद्ध प्रवृत्ति हो सकती है। इसी के साथ आज की सरकार इन तथ्यों को महत्व दें, यह जरूरी नहीं है।

इसी अनुपात में यदि अग्निसंस्कार की मूल्यवत्ता पर विचार किया जाये तो तत्त्वत: जीव हिंसा, पर्यावरण अशुद्धता आदि के कारण यह प्रक्रिया भी अपेक्षाकृत लाभप्रद प्रतीत नहीं होती है। इसके स्थान पर वर्तमान प्रचलित विद्युत उपकरणों द्वारा यह क्रिया की जाये तो ज्यादा उचित होगा। अध्यात्मवेत्ताओं के लिए यह विचारणीय है।

## सन्दर्भ-सूची

1. *भिक्खू या राओ वा वियाले वा आहच्च वीसुंभेज्जा, तं च सरीरगं केइ वेयावच्चकरे भिक्खू इच्छेज्जा एगंते बहुफासुए पएसे परिट्ठवेत्तए।*
*अत्थि य इत्थ केइ.... तत्थेव उवनिक्खिवियव्वे सिया।*

*बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 4/29*

2. *गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसुंभेज्जा, तं च सरीरगं केइ*

साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से तं सरीरगं 'मा सागारियं' त्ति कट्टु एगंते अचित्ते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेत्तए। अत्थि य इत्थ केइ..... परिहारं परिहारित्तए। व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 7/20

3. पडिलेहणा दिसा णंतए य, काले दिया य राओ य।
कुसपडिमा पाणग, नियत्तणे य तण सीस उवगरणे ॥
उट्ठाण णामगहणे, पयाहिणे काउसग्गकरणे य।
खमणे य असज्झाए, तत्तो अवलोयणे चेव ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1272-1273 की टीका

4. जहियं तु मासकप्पं, वासावासं च संवसे साहू।
गीयत्था पढमं चिय, तत्थ महाथंडिले पेहे ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, भा. 2, पृ. 93
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5499 की टीका

5. बृहत्कल्पभाष्य, 5507

6. दिसा अवरदक्खिणा, दक्खिणा य अवरा य दक्खिणा पुव्वा।
अवरुत्तरा य पुव्वा, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥33॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की टीका भा. 2, पृ. 93
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 1506

7. पउरन्नपाण पढमा, बीयाए भत्त पाण न लहंति।
तइयाए उदहीमा, नत्थि चउत्थीए सज्झाओ ॥34॥
पंचमियाए असंखडि, छट्ठीए गणविभेयणं जाण।
सत्तमिए गेलन्नं, मरणं पुण अट्ठमी बिंति ॥35॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की टीका, पृ. 93
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 1507-1508

8. व्यवहारभाष्य, 3276-3279

9. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 35 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5510, 5511

10. बृहत्कल्पभाष्य, 5513

11. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 37-40 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5518-5526

12. (क) दोन्नि य दिवड्ढखेत्ते, दब्भमया पुत्तला उ कायव्वा।
समखेत्तंमि उ एक्को, अवड्ढऽभीए न कायव्वो ॥41॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 41-45 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5527 की टीका

13. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 46 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5530
14. कुसमुट्ठी एगाए, अव्वोच्छिन्नाइ एत्थ धाराए।
संथारं संथरेज्जा, सव्वत्थ समो उ कायव्वो ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 48 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5532
15. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 51 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5536
16. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 49-50 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5533-5534
17. जत्थ य नत्थि तणाइं, चुन्नेहिं तत्थ केसरेहिं वा।
कायव्वोऽत्थ ककारो, हेट्ठ तकारं च बंधेज्जा ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 51 की टीका
18. विधिमार्गप्रपा– सानुवाद, पृ. 227
19. धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 573
20. जाए दिसाए गामो, तत्तो सीसं तु होइ कायव्वं।
उट्ठेतरक्खणट्ठा, एस विही ते समासेणं ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 52 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5531
21. चिण्हट्ठा उवगरणं दोसा, उ भवे अचिंधकरणंमि।
मिच्छत्त सो व राया व, कुणइ गामाण वहकरणं ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 एवं 53 की टीका
22. वसहि निवेसण साही, गाममज्झे य गामदारे य।
अंतरउज्जाणंतर, निसीहिया उट्ठिए वोच्छं ॥
वसहिनिवेसणसाही, गामद्धं गाम मोत्तव्वो।
मंडलकंडुद्देसे, निसीहिया चेव रज्जं तु ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 54-55 की टीका
23. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 56 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5544
24. गिण्हइ, नामं एगस्स, दोण्हमहवावि होज्झ सव्वेसिं।
खिप्पं तु लोयकरणं, परिन्नगण भेय बारसमं ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 57 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5545

25. जो जहियं सो तत्तो, नियत्तह पयाहिणं न कायव्वं।
उट्ठाणाई दोसा, विराधना बालवुड्ढा ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 58 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5539
26. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 59वीं गाथा
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5538
27. आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 59 की टीका
28. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 228
29. खमणे य असज्झाए, राइणिय महानिणाय नियगा वा।
सेसेसु नत्थि खमणं, नेव असज्झाइयं होइ ॥
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 60 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5550
30. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 1273 की 61-62 की टीका
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, 5555-5556
31. आनन्द स्वाध्याय माला, पृ. 165-166
32. व्यवहारभाष्य, 3281-3301
33. व्यवहारसूत्र, 7/22 की टीका
34. बृहत्कल्पभाष्य, 5551-5552
35. बृहत्कल्पसूत्र, 4/29
36. व्यवहारसूत्र, 7/20
37. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1272-73
38. बृहत्कल्पभाष्य, 1506-1508, 5507-5599 की टीका
39. व्यवहारभाष्य, 3259-3306
40. सामाचारीसंग्रह, पृ. 88-89
41. सुबोधासमाचारी, पृ. 34-35
42. सामाचारीप्रकरण (प्राचीन सामाचारी), पृ. 30-31
43. विधिमार्गप्रपा- सानुवाद, पृ. 224-229
44. आचारदिनकर, पृ. 138-139
45. प्रवचनसारोद्धार, 106 / 783-789

●

# सहायक ग्रन्थ सूची


| क्र. | ग्रन्थ का नाम | लेखक/संपादक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|---|---|---|---|
| 1. | अनगारधर्मामृत | पंडित आशाधर | माणकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई | 1919 |
| 2. | अभिधानराजेन्द्रकोश (भा.5) | आचार्य राजेन्द्रसूरि | अभिधान राजेन्द्र कोश संस्था, रतनपोल, अहमदाबाद | 1986 |
| 3. | अंतकृतदशासूत्र (अंगसुत्ताणि भा.3) | संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ | जैन विश्व भारती, लाडनूं | वि.सं. 2049 |
| 4. | आचारदिनकर (भा. 1-2) | आचार्य वर्धमानसूरि | निर्णयसागर मुद्रालय, मुम्बई | 1922 |
| 5. | आचारांगसूत्र (भा. 1-2) | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1980 |
| 6. | आचारांगसूत्र (भा. 1-2) | सौभाग्यमलजी म. | धर्मदास जैन मित्र मंडल, रतलाम | 1982 |
| 7. | आचारांगसूत्र (अंगसुत्ताणि भा. 3) | संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ | जैन विश्व भारती, लाडनूं | वि.सं. 2049 |
| 8. | आवश्यक सूत्रम् | मलयगिरि टीका | श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई | वि.सं. 2046 |
| 9. | आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्ति (भा. 1-2) | टीका. आचार्य हरिभद्रसूरि | श्री भैरूलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई | वि.सं. 2038 |
| 10. | आवश्यकचूर्णि (भा. 1-2) | — | ऋषभदेव केसरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम | 1928 -29 |

| क्र. | ग्रन्थ का नाम | लेखक/संपादक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|---|---|---|---|
| 11. | उत्तराध्ययनसूत्र | संपा. मधुकरमुनि | श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1990 |
| 12. | उत्तराध्ययन निर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह) | रचित भद्रबाहुस्वामी | हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, शान्तिपुरी | 1989 |
| 13. | उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका | — | देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्वार भाण्डागार संस्था, बम्बई | वि.सं 1973 |
| 14. | उपासकदशा | संपा. मधुकरमुनि | जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1980 |
| 15. | ओघनिर्युक्ति | आचार्य भद्रबाहु स्वामी (प्रथम) | आगमोदय समिति, बम्बई | 1919 |
| 16. | ओघनिर्युक्तिभाष्य | — | आगमोदय समिति, बम्बई | 1919 |
| 17. | औपपातिकसूत्र | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1992 |
| 18. | कल्पसूत्र(सुखबोधि टीका) | गुज.भाषांतर कर्त्ता विनय विजय | श्रावक भीमसिंह माणेक, मुंबई | 1900 |
| 19. | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | स्वामी कार्तिकेय विरचित | श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़ | वी.सं. 2505 |
| 20. | गणिविद्याप्रकीर्णक | अनु. डॉ. सुरेश सिसोदिया | आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर | 1994 |
| 21. | गुरुवंदनभाष्य (त्रणभाष्य अर्थ सहित) | आचार्य देवेन्द्रसूरि | जैन श्रेयस्कर मंडल, महेसाणा | 1930 |

| क्र. | ग्रन्थ का नाम | लेखक/संपादक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|---|---|---|---|
| 22. | जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप | देवेन्द्र मुनि शास्त्री | श्री तारकगुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर | 1982 |
| 23. | जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन | डॉ. सागरमल जैन | प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर | 1982 |
| 24. | जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ | अरुण प्रताप सिंह | पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी | 1986 |
| 25. | जैन धर्म का यापनीय संप्रदाय | डॉ. सागरमल जैन | पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी | 1996 |
| 26. | जिनभाषित | संपा. रतनचन्द जैन | सर्वोदय जैन विद्यापीठ. आगरा | 2006 |
| 27. | तत्त्वार्थसूत्र | पं. सुखलाल संघवी | पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी | 1976 |
| 28. | तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) | संपा. महेन्द्र कुमार | भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली | 1993 |
| 29. | तिलकाचार्य समाचारी | रचित तिलकाचार्य | डाह्याभाई मोकमचंद पांजरापोल, अहमदाबाद | 1990 |
| 30. | दशवैकालिकसूत्र | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1985 |
| 31. | दशवैकालिक निर्युक्ति | संपा. मुनि पुण्यविजय | प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद | 1973 |
| 32. | दशवैकालिक वृत्ति | आचार्य हरिभद्रसूरि | जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई | 1918 |

| क्र. | ग्रन्थ का नाम | लेखक/संपादक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|---|---|---|---|
| 33. | दशवैकालिक चूर्णि | जिनदासगणि महत्तर | ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम | 1933 |
| 34. | दशवैकालिक चूर्णि | अगस्त्यसिंह स्थविर | प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद | 1973 |
| 35. | दशाश्रुतस्कंधसूत्र (त्रीणि छेद सूत्राणि) | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1992 |
| 36. | दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति चूर्णि | जिनदासगणि महत्तर | श्री मणिविजयगणि ग्रन्थमाला, भावनगर | वि.सं. 2011 |
| 37. | द्वादशानुप्रेक्षा | कुन्दकुन्दाचार्य | माणकचन्द्र, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई | वि.सं. 1987 |
| 38. | धर्मसंग्रह (भा. 1-3) | मुनि मानविजयजी संपा. मुनिचन्द्र विजय | श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, भूलेश्वर, मुम्बई | 1984 |
| 39. | धर्मशास्त्र इतिहास(भा.1) | डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे अनु. अर्जुन चौबे | हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ | — |
| 40. | धम्मपद | अनु. राहुल सांकृत्यायन | भिक्षु ग. प्रज्ञानन्द, बुद्धविहार, लखनऊ | 1957 |
| 41. | निशीथसूत्र | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1991 |
| 42. | निशीथभाष्य (भा.1-4) | संपा. अमरमुनि | सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा | 1982 |
| 43. | पंचवस्तुक (भा.1-2) | भावानुवाद- राजशेखरसूरि | अरिहंत आराधक ट्रस्ट भिवंडी, मुंबई | वि.सं. 2070 |
| 44. | पंचवस्तुक टीका | आचार्य हरिभद्रसूरि | देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, मुंबई | 1927 |

| क्र. | ग्रन्थ का नाम | लेखक/संपादक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|---|---|---|---|
| 45. | पंचाशक प्रकरण | अनु.डॉ.दीनानाथ शर्मा | पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी | 1997 |
| 46. | पाइयसद्दमहण्णवो | पं. हरगोविन्ददास | मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली | 1986 |
| 47. | पुरुषार्थ सिद्धयुपाय | अनु.श्री गंभीरचन्द जैन | श्री दुलीचन्द्र जी जैन ग्रन्थमाला, सोनगढ़ | वि.सं. 2021 |
| 48. | प्रवचनसारोद्धार (भा. 1-2) | अनु. हेमप्रभाश्री | प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर | 2000 |
| 49. | प्रवचनसारोद्धार वृत्ति (भा. 1-2) | टीका. सिद्धसेनसूरि | भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा | 1979 |
| 50. | प्रवचनसारोद्धार (भा.1-2) | टीका. सिद्धसेनसूरि | देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, मुंबई | 1922 |
| 51. | प्रशमरति प्रकरण | रचित आचार्य उमास्वाति | परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्री मद् राजचन्द्र आश्रम, आगास | वि.सं. 2044 |
| 52. | प्रश्नव्याकरणसूत्र | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1983 |
| 53. | प्रज्ञापनासूत्र (खंड 1-2) | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1983 -84 |
| 54. | बृहत्कल्पसूत्र (त्रीणिछेद सूत्राणि) | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1992 |
| 55. | बृहत्कल्पभाष्य(भा. 1-6) | संपा. पुण्यविजय | जैन आत्मानंद सभा, भावनगर | 1936 |
| 56. | भगवती आराधना (विजयोदया टीका) | अपराजितसूरि | बलात्कार जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा | 1935 |

| क्र. | ग्रन्थ का नाम | लेखक/संपादक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|---|---|---|---|
| 57. | भगवतीसूत्र | टीका. अभयदेवसूरि | निर्णय सागर प्रेस, मुंबई | वि.सं. 1974 |
| 58. | भिक्षु आगम विषय कोश (भा.1-2) | आचार्य महाप्रज्ञ | जैन विश्व भारती, लाडनूं | 1996 -2005 |
| 59. | मनुस्मृति | संपा. पं. गोपाल शास्त्री नेने | चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी | 1970 |
| 60. | महाभारत (शान्तिपर्व) | अनु.पं.रामनारायणदत्त शास्त्री | गीता प्रेस, गोरखपुर | वि.सं. 2046 |
| 61. | महाभारत(अनुशासन पर्व) | अनु.पं.रामनारायणदत्त शास्त्री | गीता प्रेस, गोरखपुर | वि.सं. 2046 |
| 62. | मूलाचार (भा. 1-2) | वट्टकेराचार्य | मा.दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई | वि.सं. 1979-1980 |
| 63. | मूलाचार (भा. 1-2) | टीका. आर्य्या ज्ञानमती जी | भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली | 1984 |
| 64. | मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन | डॉ. फूलचन्द जैन | पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी | 1990 |
| 65. | विधिमार्गप्रपा | रचित जिनप्रभसूरि | प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर | 2000 |
| 66. | विशेषावश्यकभाष्य (भाषांतर भा.1-2) | संपा.गणि वज्रसेन विजय | भद्रंकर प्रकाशन, अहमदाबाद | वि.सं. 2053 |
| 67. | व्यवहारसूत्र (त्रीणिछेद सूत्राणि) | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1992 |
| 68. | व्यवहारभाष्य | संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा | जैन विश्व भारती, लाडनूं | 1996 |

| क्र. | ग्रन्थ का नाम | लेखक/संपादक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|---|---|---|---|
| 69. | व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र खं.-1-4) | सपां. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1982 -94 |
| 70. | शांतसुधारस | महो. विनयविजयजी | श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई | 1986 |
| 71. | श्रमणसूत्र | संपा. अमरमुनि | सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा | 1966 |
| 72. | समवायांगसूत्र | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1990 |
| 73. | समवायांगसूत्र | टीका. अभयदेवसूरि | आगमोदय समिति, सूरत | 1919 |
| 74. | सामाचारी | तिलकाचार्य रचित | डाह्याभाई, मोकमचंद्र पांजरापोल, अहमदाबाद | वि.सं. 1990 |
| 75. | सानुवाद व्यवहारभाष्य | मुनि दुलहराज | जैन विश्व भारती, लाडनूं | 2004 |
| 76. | सानुवाद विधिमार्गप्रपा | अनु. साध्वी सौम्यगुणाश्री | महावीर स्वामी जैन देरासर पायधुनी, मुम्बई | 2006 |
| 77. | साधुविधिप्रकाश | उपा. क्षमाकल्याणजी | आगमोदय समिति, सूरत | 1916 |
| 78. | सुबोधा सामाचारी | श्रीमद् चन्द्राचार्य | जीवनचन्द्र साकरचन्द, जवेरी बाजार, मुंबई | 1980 |
| 79. | सुत्तपाहुड़ (अष्टपाहुड़) | अनु.पं. पन्नालाल | श्री दि. जैन मंदिर, लोदी रोड, दिल्ली | 1995 |
| 80. | सुत्तनिपात अट्ठकथा (भा. 1) | डॉ. नथमल टाटिया | नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा | 1974 |
| 81. | सूत्रकृतांगसूत्र | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1990 |
| 82. | सूत्रकृतांग (अंगसुत्ताणि भा.1) | युवाचार्य महाप्रज्ञ | जैन विश्व भारती, लाडनूं | 1989 |

| क्र. | ग्रन्थ का नाम | लेखक/संपादक | प्रकाशक | वर्ष |
|---|---|---|---|---|
| 83. | स्थानांगसूत्र | संपा. मधुकरमुनि | आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर | 1981 |
| 84. | स्थानांगटीका | टीका. अभयदेवसूरि | आगमोदय समिति, सूरत | 1920 |
| 85. | ज्ञाताधर्मकथा (अंगसुत्ताणि भा.3) | युवाचार्य महाप्रज्ञ | जैन विश्व भारती, लाडनूं | वि.सं. 2049 |
| 86. | ज्ञानार्णव | शुभचन्द्राचार्य | परम श्रुत प्रभावक मंडल, अगास | 1981 |

# सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

| क्र. | नाम | ले./संपा./अनु. | मूल्य |
|---|---|---|---|
| 1. | सज्जन जिन वन्दन विधि | साध्वी शशिप्रभाश्री | सदुपयोग |
| 2. | सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका | साध्वी शशिप्रभाश्री | सदुपयोग |
| 3. | सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह) | साध्वी शशिप्रभाश्री | सदुपयोग |
| 4. | सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि) | साध्वी शशिप्रभाश्री | सदुपयोग |
| 5. | सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि) | साध्वी शशिप्रभाश्री | सदुपयोग |
| 6. | सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि) | साध्वी शशिप्रभाश्री | सदुपयोग |
| 7. | सज्जन ज्ञान विधि | साध्वी प्रियदर्शनाश्री | सदुपयोग |
| | | साध्वी सौम्यगुणाश्री | सदुपयोग |
| 8. | पंच प्रतिक्रमण सूत्र | साध्वी शशिप्रभाश्री | सदुपयोग |
| 9. | तप से सज्जन बने विचक्षण | साध्वी मणिप्रभाश्री | सदुपयोग |
| | (चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि) | साध्वी शशिप्रभाश्री | सदुपयोग |
| 10. | मणिमंथन | साध्वी सौम्यगुणाश्री | सदुपयोग |
| 11. | सज्जन सद्ज्ञान सुधा | साध्वी सौम्यगुणाश्री | सदुपयोग |
| 12. | चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य) | साध्वी सौम्यगुणाश्री | सदुपयोग |
| 13. | सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य) | साध्वी सौम्यगुणाश्री | सदुपयोग |
| 14. | दर्पण विशेषांक | साध्वी सौम्यगुणाश्री | सदुपयोग |
| 15. | विधिमार्गप्रपा (सानुवाद) | साध्वी सौम्यगुणाश्री | सदुपयोग |
| 16. | जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 50.00 |
| 17. | जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 200.00 |
| 18. | जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 19. | जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 150.00 |
| 20. | जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 21. | जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 150.00 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 22. | जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 23. | पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 24. | आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 150.00 |
| 25. | तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 26. | प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 27. | षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 150.00 |
| 28. | प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 29. | पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 150.00 |
| 30. | प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 200.00 |
| 31. | मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 50.00 |
| 32. | नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 33. | जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 34. | हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 35. | बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 150.00 |
| 36. | यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 50.00 |
| 37. | आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे? | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 50.00 |
| 38. | सज्जन तप प्रवेशिका | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 100.00 |
| 39. | शंका नवि चित्त धरिए | साध्वी सौम्यगुणाश्री | 50.00 |

# विधि संशोधिका का अणु परिचय



## डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

| | | |
|---|---|---|
| नाम | : | नारंगी उर्फ निशा |
| माता-पिता | : | विमलादेवी केसरीचंद छाजेड |
| जन्म | : | श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना |
| दीक्षा | : | वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना |
| दीक्षा नाम | : | सौम्यगुणा श्री |
| गुरुवर्य्या | : | प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जन श्रीजी म. सा. |
| अध्ययन | : | जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान। |
| रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य | : | तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२) |
| विचरण | : | राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़। |
| विशिष्टता | : | सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत। |
| तपाराधना | : | श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप। |



## सज्जन चिंतन के बिखरे मोती

- श्रमण के विभिन्न अर्थ एवं उनका जीवन दर्शन ?
- मुनि जीवन में पालने योग्य सामान्य नियम ?
- आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अवग्रह विधि कितनी मौलिक ?
- साधु-साध्वी उपकरण आदि का परस्पर में आदान-प्रदान कर सकते हैं या नहीं ?
- उपधि का स्वरूप, प्रयोजन एवं उसकी अवश्यकता ?
- प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन संबंधी विधि नियमों के मार्मिक रहस्य ?
- मुनि के लिए बहुमूल्य वस्त्र-पात्र आदि निषिद्ध क्यों ?
- बढ़ती एकल पारिवारिक संस्कृति में वसति मर्यादा का पालन कितना औचित्यपूर्ण ?
- Traffic और Accident की बढ़ती संख्या में विहार चर्या कितनी सुरक्षा पूर्ण ?
- वर्षावास का शास्त्रीय मूल्यांकन ?
- आधुनिक जीवनशैली में स्थंडिल विधि का अनुपालन व्यवहार विरूद्ध है या नहीं ?

SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (V)